रुचिर ग्रंथमाला का पञ्चम पुष्प

जीव-विज्ञान

या

जीव-सूत्र

लेखक

साहित्यविशारद पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, एम० ए०,
एल्-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०,
रचयिता "शङ्करदिग्विजय," "असत्य सङ्कल्प,"
"वासनावैभव," आदि

प्रकाशक

पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र, जनरल कंट्रैक्टर
राजनाँदगाँव, सी० पी०

प्रथम संस्करण १००० | सन् १९२८ | मूल्य ३) सजिल्द २।।) अजिल्द

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर ॥

श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह महोदय,
रूलिंग चीफ़, रायगढ़ स्टेट, (सी० पी०)

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

कुछ भूलें

शीघ्रता के कारण इस पुस्तक में कुछ शब्दों की और कुछ छापे की भूलें रह गई हैं। कई अँगरेज़ी शब्द भी अशुद्ध छप गये हैं। विज्ञ पाठक सुधार लेने की कृपा करें। निम्न भूलें मुझे विशेष खटकीं इसलिए यहाँ उनका उल्लेख किये देता हूँ।

अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	पृष्ठ	पंक्ति
जीव-विज्ञान	प्राणि-विज्ञान	प्रस्तावना १	१७
उनके	उसके	,, २	१७
है !	हैं।	१४	१५
कहा है।	कहा है)	१७	१
पशुओं	अशुभों	१७	१४
जाती है	जाता है	५८	२२
गिर:	गिरो	२४२	५
हमारा	...	२५८	५
होकर	करके	२५८	६
पाटियाँ	पार्टियाँ	२७१	६
सार्वजनीन	लोकप्रिय	३०४	२१
आवेगा	आवेंगे	३२१	२२
पहलवानी	ताक़त	३३८	१९
श्रद्धा	श्रद्धा,	३५३	२
अविज्ञानं	अविज्ञातं	३८४	११

प्रस्तावना

बहुत दिनों से मेरा विचार था कि मानस-शास्त्र (Psychology) पर हिन्दी में कोई ग्रन्थ लिखा जाय। बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाओं के सिलसिले में मुझे इस विषय के कई अँगरेज़ी ग्रन्थ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पहिले तो विचार था कि उनका सारांश ही लिख दिया जाय फिर यह इच्छा हुई कि इनमें भारतीय विचारों का भी यदि मेल कर दिया जाय तो उत्तम हो। अत: भारतीय दर्शनों में मनोविज्ञान के विषय में कहाँ पर क्या कहा गया है यह जानने की इच्छा हुई। इस इच्छा की पूर्ति के लिए पर्याप्त समय और उत्तम पुस्तकालय अथवा उद्भट विद्वानों के सत्समागम की आवश्यकता थी परन्तु जीवन-निर्वाह के झंझटों में पड़ जाने से उन साधनों में एक भी साधन सुलभ न हो सका। फिर भी उपनिषद्, बौद्धदर्शन, न्याय, सांख्य, वेदान्त इत्यादि में तथा कतिपय साधु-सन्तों और इष्ट-मित्रों की सङ्गति से इस विषय पर जो कुछ मिल पाया है उसे ग्रहण करने का मैंने प्रयत्न अवश्य किया है। एक बात और है। मनोविज्ञान भी पदार्थविज्ञान (Physics), जीव-विज्ञान (Biology), वनस्पतिविज्ञान (Botany) इत्यादि के समान एक शास्त्र है। और वह भी वैज्ञानिक अनुसन्धान और तर्क की भित्ति पर स्थित है। इसी लिए पश्चिमी विद्वानों

ने इस शास्त्र के सहारे प्रकृति, पुरुष, परमात्मा सरीखे दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया है। मैंने न जाने क्यों यह धृष्टता कर डाली है। मुझे मानव-जीवन की शक्तियों और घटनाओं का वर्णन उस जीवन के आधार-भूत इन तीन तत्त्वों के दिग्दर्शन के बिना फीका जँचा। साथ ही आत्मा परमात्मा सरीखे विषय यदि ज्ञान द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं तो वे केवल मनोविज्ञान शास्त्र ही से सिद्ध किये जा सकेंगे दूसरे प्रकार से नहीं; क्योंकि वे इन्द्रिय-गम्य विषय नहीं हैं जैसे कि और दूसरे शास्त्रों के विषय हुआ करते हैं। इस-लिए इस शास्त्र में परम तत्त्व का दिग्दर्शन न कराना मेरी राय में बड़ी भारी त्रुटि है।

साथ ही मैंने इसमें कर्तव्य-अकर्तव्य, शिक्षा, समाज-सुधार, धर्म-कर्म, ललित कला सरीखे विषयों को भी ला घुसेड़ा है। मैं इसके लिए भी लाचार हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि जो विषय मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है—जिन बातों से उस मानव-जीवन में उन्नति अथवा अवनति होती है—जिनका उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—उन सब विषयों का मानस-शास्त्र में समावेश होना भी नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एक विचारणीय बात और भी है। केवल यही एक शास्त्र ऐसा है जो मनुष्यों के धार्मिक विरोध मिटा देने में समर्थ हो सकता है। मनुष्यों के लिए सच्चा धर्म वही है जिसमें मानव-जीवन उन्नति की ओर अग्रसर होते-होते पूर्णता

तक पहुँच जाय। उसी पूर्णता को किसी ने राम कहा है, किसी ने रहीम कहा है, किसी ने अर्हन्त कहा है, किसी ने बुद्ध कहा है, किसी ने सुखी जीव कहा है, किसी ने कुछ कहा है, किसी ने कुछ कहा है। इस प्रकार इस शास्त्र के द्वारा मानव-जीवन, उसकी शक्ति और उसके आदर्श का रहस्य समझ लेने से धार्मिक सङ्कीर्णता आप ही आप दूर हो सकती है। इसी लिए इस ग्रन्थ में मानव-धर्म पर भी भली भाँति विचार किया गया है।

इस लम्बे-चौड़े वर्णन को पढ़कर पाठक कहीं यह न समझ लें कि मैंने इस ग्रन्थ के द्वारा कोई एकदम अपूर्व वस्तु संसार को प्रदान की है अथवा किसी बड़े अभाव की पूर्ति कर दी है। इन दोनों में से एक भी बात इस ग्रन्थ द्वारा पूरी नहीं हो सकी है। इसमें जो कुछ है वह सब दूसरे ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में वर्णित है। सम्भव है कि विषय के वर्णन का क्रम इस पुस्तक में कुछ नवीन सा जँचता हो परन्तु इससे पुस्तक की उपयोगिता कोई विशेष नहीं बढ़ जाती। फिर प्रश्न यह हो सकता है कि जब इस ग्रन्थ में कुछ भी विशेषता नहीं तो इसकी उपयोगिता ही क्या है और इसका उद्देश्य ही क्या है। इसके उत्तर में मैं केवल यही लिख देना उचित समझता हूँ कि अच्छे विषय का पिष्ट-पेषण भी बुरा नहीं है। यह मानस-शास्त्र का नियम है कि साधारणतया किसी विषय को एक बार पढ़ लेने से वह हृदय में भली भाँति अङ्कित नहीं हो जाता। इसी लिए उसकी पुनरावृत्ति करनी पड़ती है, चाहे वह श्रवण

द्वारा हो चाहे मनन द्वारा। अब जिन सज्जनों ने इस ग्रन्थ में वर्णित उत्तम विषय को ५० बार अन्य ग्रन्थों द्वारा पढ़ डाला है वे इस ग्रन्थ को पढ़कर उस विषय की ५१ वीं आवृत्ति कर सकेंगे। "अधिकस्याधिकं फलम्"। जिन्होंने इस विषय का एक भी ग्रन्थ नहीं पढ़ा उन्हें तो लाभ होगा ही। यदि मैं कोई अपना सिद्धान्त लिखने बैठता तो कुछ असमञ्जस भी होता क्योंकि सम्भव है कि वह सिद्धान्त भ्रामक हो और उसके द्वारा मैं मानव-जाति की ज्ञानधारा को आगे बढ़ाने के बदले उलटे रोकने का प्रयत्न करता होऊँ। परन्तु जब मुझे भली भाँति निश्चय है कि इस ग्रन्थ में वर्णित सब सिद्धान्त विश्व-विज्ञान के विशाल रत्नाकर पर अनादि काल से प्रभा फैलाते हुए सूर्य-चन्द्रमा के समान स्थिर हैं और विविध वाद-रूपी पुच्छल तारे के तुल्य किसी समय-विशेष और स्थिति-विशेष में सन्मुख आकर फिर विस्मृति के गर्त में गिर जानेवाले नहीं हैं तो अवश्य ही विश्वास होता है कि ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता और उपयोगिता सदैव ही बनी रहेगी। सम्भव है कि इस ग्रन्थ में वर्णित उन अक्षर-सिद्धान्तों के स्थिरीकरण की परिपाटी भ्रामक हो गई हो। यदि ऐसा है तो उसे मेरा दोष समझना चाहिए। परन्तु वर्णनशैली भ्रामक भले ही हो, इससे उन प्रतिपादित सिद्धान्तों में बाधा नहीं आ सकती। चाहे मार्ग उल्टा हो चाहे सुल्टा, चाहे विवेकपूर्ण हो चाहे भ्रामक, परन्तु उससे यदि हम किसी प्रकार की हानि के बिना

प्राकृत तत्त्व तक पहुँच सकें तो वह मार्ग और प्रयत्न निरर्थक नहीं कहा जा सकता।

"तुलसी अपने राम को रीझ भजै कै खीझ।
खेत परे पर जामिहैं उल्टे सीधे बीज॥"

अब कुछ अपनी कठिनाइयों का और वर्णन-शैली का भी दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा। पहिली कठिनाई तो थी **विषय-विस्तार** की। अँगरेज़ी में इस विषय पर हज़ारों ग्रन्थ भरे हैं। उनमें भी बहुत तो ऐसे हैं जिनकी एक प्रति एक विद्यार्थी उठा न सकेगा। साथ ही वहाँ इस विषय का विस्तार इतना हो गया है कि इसके अङ्ग, उपाङ्ग और उपाङ्गों के भी उपाङ्ग होते चले जा रहे हैं। उदाहरणार्थ बाल-मनोविज्ञान (Child Psychology), अभियुक्त मनोविज्ञान (Criminal Psychology), मधुकर मनोविज्ञान (Psychology of Bees), सुख-दुःख (Pleasure and pain), स्वप्न (Dreams) और न जाने कितने अङ्ग तथा विषय गिनाये जा सकते हैं। उन सब विषयों का वैसा वर्णन इस छोटी सी पुस्तक में कर सकना एकदम असम्भव है। उस पर भी मैंने तत्त्वज्ञान, धर्म-कर्म, कला, आदर्श इत्यादि विषयों को भी इसमें जोड़ देने की धृष्टता की है। तब इसमें प्रत्येक विषय कहाँ तक वर्णित होगा। फिर भी जो विषय मुझे मुख्य जान पड़े उनका यथाशक्ति उल्लेख मैंने इसमें कर दिया है। अधिक मैं न कर सका, क्योंकि न तो उतना समय है और न वैसी शक्ति है। यदि यह

प्रणाली कृतविद्यों को रुचिकर हुई तो वे अपने विद्या-बल से इस अभाव की पूर्ति सहज ही कर सकते हैं। जिस प्रकाश को खद्योत अथवा दीपक नहीं दे सकता उससे कहीं अधिक प्रकाश सूर्य और चन्द्र सरलतापूर्वक दे सकते हैं।

दूसरी कठिनता **पारिभाषिक शब्दों** की है। इस ग्रन्थ में भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य ढङ्ग से व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। और पारिभाषिक शब्द प्रायः वे ही सब चुने गये हैं जो भारतीय शास्त्रों और भाषाओं में प्रचलित हैं। परन्तु अँगरेज़ी के पारिभाषिक शब्दों (technical terms) के साथ सामञ्जस्य रखने के लिए इस ग्रन्थ में वर्णित परिभाषिक शब्द भी विशिष्ट अर्थ ही में व्यवहृत हुए हैं। अब ऐसे पारिभाषिक शब्द इस ग्रन्थ में जहाँ कहीं आये हैं वहीं उनकी परिभाषा, उनका अर्थ अथवा उनका समानार्थक अँगरेज़ी शब्द भी लिख दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में तो हिन्दी और अँगरेज़ी के ऐसे समानार्थक शब्दों की सूची भी दे दी गई है। पाठकगण ऐसे प्रत्येक पारिभाषिक शब्द को इस ग्रन्थ भर में उसी विशिष्ट अर्थ ही में प्रयुक्त हुआ समझेंगे। अन्यथा पूरे विषय को भली भाँति समझने में गड़बड़ होगी। भारतीय दर्शन शास्त्रों में जीव, मन, भाव, प्रवृत्ति, निवृत्ति इत्यादि शब्दों के अनेकों अर्थ मिलते हैं। इस ग्रन्थ में इन शब्दों का ख़ास-ख़ास अर्थ ही में व्यवहार हुआ है। इसलिए उस ख़ास मतलब को ध्यान में न रखने से अर्थ समझने में गोलमाल हो जाना

स्वाभाविक ही है। फिर भी जहाँ तक मुझसे हो सका है मैंने ऐसे पारिभाषिक शब्दों को उनके सामान्य प्रचलित अर्थों से भिन्न किसी विशिष्ट अर्थवाले नहीं होने दिया है। जीव, भाव, मन, इत्यादि के पारिभाषिक अथवा विशिष्ट अर्थ भी प्रायः वे ही माने गये हैं जो इन शब्दों के सामान्य प्रचलित अर्थ हैं।

तीसरी कठिनता **वर्णन-शैली** की है। बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, वेदान्त दर्शन, न्याय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, ज्ञानवाद, भक्तिवाद, कर्मवाद इत्यादि में प्रत्यक्षतः बड़ा विरोध जान पड़ता है। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रायः एक ही बात को उन सबने अपने-अपने ढङ्ग से प्रकट करने की चेष्टा की है। तब, क्या कोई ऐसी भी वर्णन-शैली हो सकती है जो उस एक ही बात का उल्लेख करती हुई भी सब दर्शनों और वादों के अनुकूल बनी रह सकती है? भूतकाल में तो गीता इत्यादि की ऐसी ही शैली रही है। वर्तमान युग में भी सत्यार्थविवेक सरीखे ग्रन्थ इसी शैली पर निकल रहे हैं। ऐसी ही शैली अपनाने की चेष्टा मैंने भी की है परन्तु उसमें मुझे सफलता मिली है कि नहीं यह निर्णय पाठकों के ऊपर है। वर्णन-शैली के विषय में एक बात और भी है। कई विद्वानों की राय है कि दर्शन अथवा विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों की भाषा बिलकुल सरल शब्दों वाली, सादी, आडम्बरहीन तथा यहाँ तक कि काव्य-गुण-शून्य ही

सी होनी चाहिए। यदि उपमा, रूपक इत्यादि आते भी हैं तो निकाल बाहर किये जायँ। यदि एक भी कठिन शब्द (अर्थात् वह शब्द जो सर्वसाधारण में भली भाँति प्रचलित नहीं है) आना चाहे तो न आने दिया जाय। इत्यादि। परन्तु मुझे तो यह समझ पड़ता है कि ऐसे कठिन शब्दों के अस्तित्व मात्र से भाषा दुरूह अथवा हेय नहीं हो जाती। रामायण में ऐसे कठिन शब्दों की कमी नहीं फिर भी उसकी भाषा सर्वजन-प्रिय हो रही है। फिर उपमा, रूपक इत्यादि के पीछे लट्ठ लेकर भिड़ जाना भी मुझे उचित नहीं जान पड़ता। हाँ, उनकी आराधना करते ही न बैठे रहना चाहिए। परन्तु यदि वे स्वाभाविक रूप से आ जायँ और अपने अस्तित्व से वर्ण्य विषय को रोचक बना दें तो इसमें बुराई ही क्या है? मैं तो उसे ही उपयुक्त भाषा कहूँगा जो जीवित सी जान पड़े, कोरी बनावट से अलग रहे, वर्ण्य विषय को भली भाँति और रोचकता के साथ प्रकट कर सके। मैंने इस ग्रन्थ की भाषा-शैली में बनावट लाने का रत्ती भर भी प्रयत्न नहीं किया है। हृदय से जो शैली स्वच्छन्दतापूर्वक निकलती चली गई उसे ही वर्णों में अङ्कित करता चला गया हूँ। यह शैली यदि पाठकों को विशेष त्रुटिपूर्ण जान पड़ेगी तो अगले संस्करण में यथाशक्ति इसका परिमार्जन कर देने का प्रयत्न करूँगा।

इस ग्रन्थ में भी प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों के समान **सूत्रों का प्रयोग** हुआ है। सूत्र-रूप से यदि कोई

बात कही जाय तो वह बहुत शीघ्र स्मरण होती है। इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण ज्ञान भी २५ तत्त्वों के समान २५ सूत्रों में निहित किया गया है। और इन्हीं सूत्रों के कारण इस ग्रन्थ का नाम **जीव-विज्ञान** के साथ ही **जीव-सूत्र** भी रक्खा गया है। वे सूत्र केवल एक एक परिच्छेद के शीर्षक-मात्र ही से हैं। इसलिए जैसे ग्रन्थ का सम्पूर्ण रहस्य केवल शीर्षक देखकर ही नहीं विदित हो सकता उसी प्रकार इस ग्रन्थ का भी विषय-विस्तार केवल सूत्रों से ही नहीं जाना जा सकता। जिन सज्जनों ने इस भूमिका के पढ़ने का कष्ट उठाया है उनसे मेरा निवेदन है कि वे इसी प्रकार एक बार सम्पूर्ण ग्रन्थ ही पढ़ जायँ। यदि ऐसे एक भी सहृदय सज्जन की हृदय-कसौटी पर यह ग्रन्थ खरा प्रमाणित हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। वे सूत्र इस प्रकार हैं—

१ जिज्ञासा प्रकरणम्

१ अथातो जीवजिज्ञासा।

(अथ जीवजिज्ञासा।)

२ परिभाषा प्रकरणम्

(२) पूर्णत्वे स्फूर्तिमान् व्यक्तित्वविशिष्टचैतन्यः जीवः।

(उस व्यक्तित्ववान् चैतन्य को जीव कहते हैं जो पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिवाला हो।)

(३) तत्पूर्णत्वम् सच्चिदानन्दम्।

(उस पूर्णत्व ही को सच्चिदानन्द कहते हैं।)

(४) पूर्णत्वे स्फूर्तिरेव विकासः ।

(पूर्णत्व के लिए स्फूर्ति ही का नाम विकास है ।)

(५) विकासेऽहंकारिणो जीवस्य मनो-बुद्धि-चित्तमेव रूपत्रयम् ।

(विकास के लिए, अहङ्कारवाले जीव के मन, बुद्धि और चित्त ही तीन रूप हैं ।)

३ शरीर प्रकरणम्

(६) जगति जीवाभिव्यक्तौ शरीरं साधनम् ।

(जगत् में जीव की अभिव्यक्ति के लिए शरीर ही साधन है ।)

(७) ज्ञान-क्रिया-तन्तु-जालमूले मस्तिष्के जीवनिवासः ।

(ज्ञान-तन्तु-जाल और क्रिया-तन्तु-जाल का मूल-स्वरूपी मस्तिष्क ही जीव का निवासस्थान है ।)

(८) योगाभ्यासाज्जीवनोत्कर्षः ।

(योगाभ्यास से जीवन का उत्कर्ष होता है ।)

(९) चिकित्सादिनाऽपि स्वास्थ्यसिद्धिः ।

(चिकित्सा आदि से भी स्वास्थ्य की सिद्धि होती है ।)

४ बुद्धि प्रकरणम्

(१०) चेतनाशीला बुद्धिः ।

(बुद्धि चेतनाशील है ।)

(११) तत्फलं ज्ञानम् ।

(ज्ञान ही बुद्धि का फल है ।)

(१२) इन्द्रियसापेक्षं ज्ञानम् । अतीन्द्रियाश्च तच्छक्तय. ।

(ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष है परन्तु उसकी शक्तियाँ अतीन्द्रिय हैं ।)

(१३) विचारशुद्धौ हि 'विकाससिद्धिः । तदर्थमेव काव्यशास्त्रविस्तार; ।

(विचारों की शुद्धि ही में विकास की सिद्धि है और इसी के लिए काव्यशास्त्र का विस्तार फैला है ।)

५ मनः प्रकरणम् ।

(१४) क्रियाशीलं मनः ।

(मन क्रियाशील है ।)

(१५) तत्फले प्रवृत्ति-निवृत्ती ।)

(प्रवृत्ति और निवृत्ति मन के फल हैं)

(१६) प्रवृत्ति-निवृत्तयस्तु संस्कारजन्याः । एतद्वै कर्म-रहस्यम् ।

(संस्कारों ही के कारण प्रवृत्तियों और निवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है । और यही कर्म-रहस्य है ।)

(१७) पुण्यन्तु मनसः विकासशीला क्रिया । तद्विपरीतं पापम् ।

(मन की विकासोन्मुखी क्रिया को पुण्य और ह्रासोन्मुखी क्रिया को पाप कहते हैं ।)

६ चित्त प्रकरणम्

(१८) भावशीलं चित्तम् ।

(चित्त भावशील है ।)

(१६) तत्फलानि सुखदु:खौदासीन्यानि ।

(सुख-दु:ख और उदासीनता ही चित्त के फल हैं ।)

(२०) रसेषु प्रेम्ण: करुणाया: शान्तेश्च प्राधान्यम् ।

(रसों में प्रेम रस करुण रस और शान्त रस ही मुख्य हैं)

(२१) चित्तविकास एव सम्बद्ध: ललितकलाविकास: ।

(ललित कलाओं के विकास का सम्बन्ध चित्त के विकास के साथ है ।)

७ अहङ्कार प्रकरणम्

(२२) समन्वयमार्ग एव सम्यग्-विकास-मार्ग: ।

(समन्वय-मार्ग ही सम्यक् विकास का मार्ग है ।)

(२३) समाजसम्बद्धं व्यक्तिस्वातन्त्र्यम् ।

(व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज से सम्बद्ध है ।)

(२४) विकासवैफल्यं तु प्रेय:प्रभावात् ।

(प्रेय के प्रभाव से ही विकास में विफलता होती है ।)

(२५) अहङ्कारविगलनम् एव मोक्ष: ।

(अहङ्कार का विगलन ही मोक्ष है ।)

इति ।

आजकल विज्ञान का ज़माना है इसी लिए इस जीव-विज्ञान शास्त्र की आड़ से भारतीय धर्म और दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को वैज्ञानिक ढङ्ग से समझाने की चेष्टा की गई है। इस चेष्टा के लिए जितने उपाय काम में लाये जा

सकते थे उन सबको ग्रहण करने का मैंने प्रयत्न किया है। परन्तु इस ग्रन्थ को पढ़कर मेरे कतिपय मित्रों की राय हुई कि मैंने उदाहरण देने में कुछ कञ्जूसी सी दिखाई है और विषय की गम्भीरता देखते हुए विषय को स्पष्ट करने के लिए जितने उदाहरण दिये जाने चाहिएँ उतने नहीं दिये हैं। साथ ही कहीं-कहीं विषय को विशेष समझाने की भी चेष्टा नहीं की है। उनकी राय सुनकर मुझे भी यह त्रुटि अवश्य खटकी और मैंने विचार किया कि यह ग्रन्थ फिर नये सिरे से लिखा जाय परन्तु अनेक बार प्रयत्न करने पर भी मैं इतना समय न निकाल सका। मुद्दई-मुद्दालेह की मिसलों और शासन-विभागों के बोझों से बचकर जो यह इतना बड़ा ग्रन्थ लिख सका यही एक आश्चर्य की बात थी। आख़िर मुझे यह विचार छोड़ देना पड़ा। भविष्य में यदि इस ग्रन्थ के अगले संस्करण तक यही उमङ्ग रही तो देखा जायगा। अभी तो इस ग्रन्थ को ज्यों का त्यों ही प्रकाशित किये देता हूँ। हाँ, पाठकों से इतना अनुरोध अवश्य करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ के एक-एक वाक्य को समझ-समझकर पढ़ने के बदले यदि पहिले एक सपाटे की आवृत्ति कर जायँगे तो फिर दुबारा प्रत्येक वाक्य समझ-समझकर पढ़ने में विशेष सुविधा होगी क्योंकि एक ही विषय अनेक स्थलों पर अनेक ढङ्ग से समझाया गया है और इसलिए कहीं न कहीं तो अवश्य वे उसका तत्त्व हृदयङ्गम करने लायक़ उदाहरण पा जावेंगे।

एक बात और लिखकर यह इतनी लम्बी भूमिका समाप्त की जाती है। कई मित्रों ने परामर्श दिया कि "जीव, ब्रह्म, माया" ये ऐसे शब्द हैं जिनका वर्णन इस पुस्तक में अवश्य किया गया है परन्तु उनका रहस्य यदि एक ही स्थान पर संक्षेप से बतला दिया जावे तो लेखक के कथन का भाव पहिले ही से स्पष्ट समझकर पाठक लोग भ्रान्ति के शिकार न हो सकेंगे। यह सलाह भी मुझे उचित ही जँची। इसी लिए परिशिष्ट रूप में मैंने ब्रह्म, जीव और माया पर एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखकर जोड़ दिया है। जिन सज्जनों की इच्छा हो वे चाहे उस निबन्ध को यह ग्रन्थ पढ़ने के पहिले ही पढ़ लें या इस ग्रन्थ के पढ़ने के बाद देख लें। "भक्ति" पर भी स्वतन्त्र रूप से कुछ लिख देना अनिवार्य जँचा इसलिए उस विषय पर भी एक निबन्ध जोड़ दिया गया है। साथ ही उत्क्रान्ति के कुछ सुगम साधनों की ओर संकेत कर देने के लिए भी मित्रों ने आग्रह किया। इसलिए वह विषय भी परिशिष्ट में जोड़ दिया गया है। आशा है सुयोग्य पाठकगण इस ग्रन्थ को पढ़कर अपनी सम्मतियाँ प्रदान करने की कृपा अवश्य करेंगे जिससे भविष्य में यह ग्रन्थ कुछ और भी उत्तम तथा उपयोगी बनाया जा सके।

जिन सज्जनों ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे सहायता पहुँचाई है उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ और उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। यदि मित्रों और पूज्य पुरुषों की ऐसी

सहायता न होती तो मैं इतना गुरुतर कार्य इस ढङ्ग से कभी पूरा न कर सकता। पं० शारदासहायजी शुक्ल ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सुपाठ्य अक्षरों में लिखने का कष्ट उठाया है। यहाँ के पं० वनमालीप्रसादजी शुक्ल, एग्रिकलचर कालेज के पं० रामनारायण मिश्र एम० एस-सी , राजनादगाँव हाईस्कूल के हेडमास्टर बाबू देवेन्द्रनाथ सान्याल, हैदराबाद नोब्लस् कालेज के प्रोफ़ेसर देव, जबलपुर के भारतविख्यात राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए०, साहित्यरत्न तथा सुप्रसिद्ध विद्या-दिग्गज रायबहादुर हीरालाल बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०, प्रभृति सज्जनों ने इस ग्रन्थ का अवलोकन कर अनेकानेक सुयोग्य और बहुमूल्य परामर्श दिये हैं। श्रद्धेय दीवान राय साहब पं० गौरीशङ्करजी अग्निहोत्री और सुयोग्य राजा चक्रधरसिंहजी महोदय की सहायता के विषय में तो कहना ही क्या है। इस ग्रन्थ के इस रूप में प्रकाशित होने का सब श्रेय इन्हीं दोनों महा-नुभावों को है। इन सब सज्जनों का मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ। ठाकुर सुरेन्द्रनाथजी ने तथा पुराणतीर्थ पं० काशीदत्तजी झा ने प्रूफ़संशोधन में सहायता पहुँचाई है इसलिए उन्हें भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जिन महापुरुषों के ग्रंथों और सदुपदेशों के सार का संग्रह इस ग्रंथ में किया गया है उन्हें मैं किस मुख से धन्यवाद दूँ! यह ग्रंथ तो उन्हीं की वस्तु है।

संतों की ही उक्ति का, भरा यहाँ आख्यान।
जाने मुझसा मूर्ख क्या, गहन जीव-विज्ञान ॥
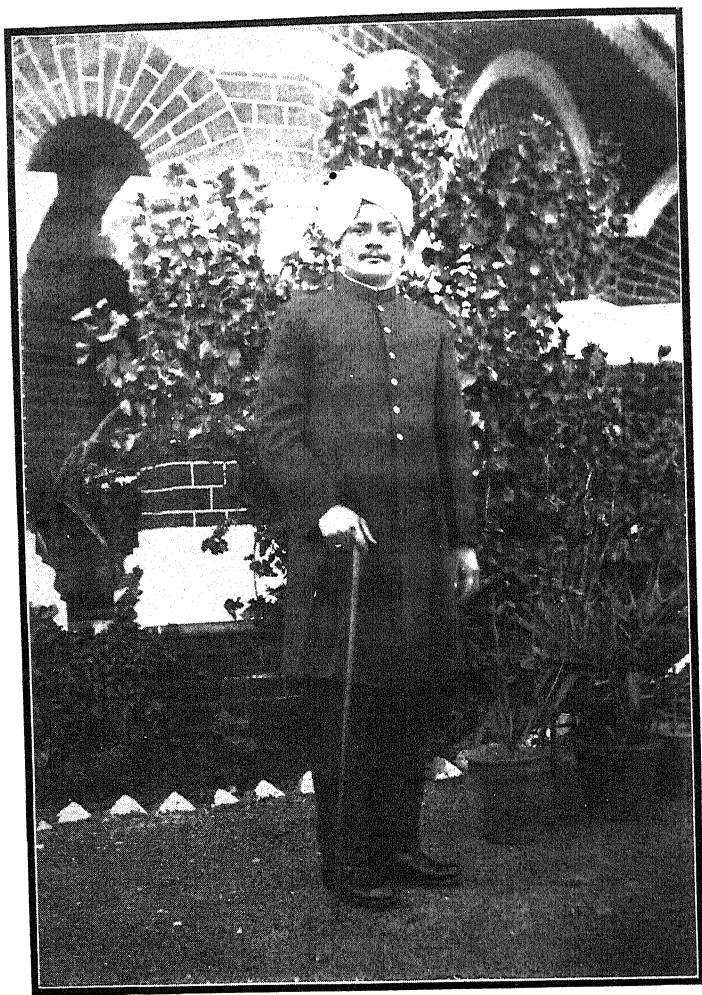
साहित्यविशारद पं० बलदेवप्रसाद मिश्र
एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस० (ग्रन्थकार)

जीव-विज्ञान

जिज्ञासा प्रकरण

सूत्र १

१ अथातो जीवजिज्ञासा—

सुख-दुख, राग-द्वेष, आशा-निराशा, स्वार्थ-परार्थ के प्रबल ज्वार-भाटा से नित्य प्रति अस्त-व्यस्त होते रहनेवाले इस विशाल संसार-सागर में पड़कर मनुष्य क्या-क्या दृश्य नहीं देखता ! इतिहास के पन्ने उलटने पर जान पड़ेगा कि भाइयों को मरवाकर बाप को क़ैद करनेवाले औरङ्गज़ेब भी मनुष्य थे और पिता के सुख के लिए राज्य को लात मारकर आजन्म ब्रह्मचारी रहनेवाले भीष्म भी मनुष्य थे। जो मज़दूर चार आने रोज़ पाकर रात को सुख के ख़र्राटे भरता है वह भी मनुष्य है और जो लाखों रुपये रोज़ कमा सकता है तथा बड़े-बड़े राजमुकुट धारण करके भी रात-दिन चिन्ता में व्यस्त रहता है और अपना ख़र्च नहीं पुरा सकता, वह भी मनुष्य है। जो ग़रीबों का ख़ून चूसकर अपनी तोंद फुला लेने में जीवन की

इयत्ता समझता है वह भी मनुष्य है और जो जगत्-कल्याण के लिए बुद्ध के समान सर्वस्व त्याग देता है वह भी मनुष्य है। यदि इन सबकी मनुष्य संज्ञा है और ये एक ही प्रकार के जीव हैं तो यह भेद क्यों होता है ?

इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि शराबी शराब को नित्य प्रति सौ गालियाँ सुनाता है परन्तु जब उसके पीने का समय आता है तब उसे पिये बिना एक मिनट भी नहीं रह सकता। हम देखते हैं कि व्यभिचारी लोग उपदंश प्रमेह इत्यादि न जाने कितने प्रकार के रोगों से जर्जर रहते हैं और साक्षात् नरक के अवतार बनकर मक्खियाँ हाँका करते हैं। फिर भी अवसर आने पर वे उसी कीट-कुण्ड में कूद पड़ने से नहीं हिचकते ! इस दुर्बलता का कारण क्या है ?

मनुष्य यदि दूध का जला होता है तो मठा भी फूँक-फूँक-कर पियेगा। परन्तु पतङ्ग दीपक में चाहे सौ बार पंख जला चुका हो परन्तु एक सौ एकवीं बार यदि फिर उसके सामने दीपक धरा जाय तो फिर वह उसी प्रकार जल मरेगा। उससे भी क्षुद्र कीड़े दूसरे हैं परन्तु वे वैसा न करेंगे। जब सब जीव एक ही समान हैं तब ज्ञान में ऐसा भेद क्यों ?

सजीव शरीर के चमत्कार देखिए। कैसे बढ़िया ! कैसे हृदयहारी ! कैसे अपूर्व ! परन्तु ज्योंही उससे जीव अलग हुआ त्योंही उसकी दशा देखिए। कुछ ही देर में अकड़कर सड़ने लगता है। फिर, कभी तो यह जीव वज्राघात तक

सह लेगा, विपत्तियों के पहाड़ भी छाती पर उठा लेगा, अङ्ग-अङ्ग कट जाने पर भी देह धारण किये रहेगा, और कभी एक ज़रा से व्यङ्ग का—एक मामूली ताने का—भी बोझ न सह सकेगा और एकदम दम तोड़ देगा। यह वज्र से भी कठिन और कुसुम से भी कोमल पदार्थ क्या है ?

इतिहास-प्रसिद्ध भीष्म, अर्जुन, हनुमान्, परशुराम आदि ने तप और अभ्यास-द्वारा इसी शरीर से कितनी अपार शक्ति प्रकट कर दिखाई है ? वह कहाँ से आई ? गौतम बुद्ध, शङ्कराचार्य इत्यादि महानुभाव कालसर्प के मस्तक पर अमर-मणि के समान चमक रहे हैं। वह किसकी शक्ति के प्रयोग से ? वीर नेपोलियन ने जो असम्भव को सम्भव कर दिखाया वह किसकी सहायता से ? क्या वह जीव ही की शक्ति नहीं है ? तो फिर उसकी शक्ति की सीमा कहाँ तक है ?

अखण्ड चक्रवर्ती रावण के ऐश्वर्य-भोग में किस बात की कमी थी जो उसने सीता-हरण करके अपना नाश बुलाया ? पाँच गाँव दे देने से दुर्योधन की क्या कमी हुई जाती थी जो उसने महाभारत रचवाया ? जब कलि को दमयन्ती न मिल सकी तब नल को दुर्दशाग्रस्त करके उसने क्या फल पाया ! द्वारका पुरी के पास यादव-बालकों ने ऋषि-महर्षियों के साथ दिल्लगी करके अपने कुल का नाश बुला लिया। ऐसी दिल्लगी की ज़रूरत ही क्या थी ? हृदय के इन भावों का कोई क्या उत्तर दे सकता है ?

हम जानते हैं कि शक्कर मीठी है परन्तु बीमारी में वह भी नहीं रुचती। लावण्यवती युवती हृदय-हारिणी है परन्तु बालकों का हृदय वह नहीं हर सकती। धन की चका-चौंधी आकर्षक है परन्तु वैराग्यवान् के लिए वह भी फीकी है। हम यह भी देखते हैं कि इन्द्र उर्वशी को पाकर जितने प्रसन्न होते हैं कुत्ता एक कुतिया पर भी उतना ही रीझ सकता है। सम्राट् अपने मुकुट पर जितना प्यार करता है ग़रीब गँवार अपने बालों की कंघी पर भी उतना ही प्यार कर सकता है। अमीर अपने सुस्वादु भोजन को जितनी रुचि के साथ खा सकता है एक मज़दूर अपने चने भी उतने ही प्रेम से चबा सकता है। इससे तो यही जान पड़ता है कि सुख किसी बाहरी पदार्थ में नहीं। वह केवल अपने ही जीव की—अपने ही चित्त की—अवस्था पर निर्भर है। यह जीव अथवा चित्त क्या है? और यह अवस्था कैसे लाई जा सकती है?

हम मनुष्यों को पशुओं से ऊँचा समझते हैं। क्यों समझते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अनेक पशुओं में जैसा एकपत्नीव्रत है, जैसी सहनशीलता है, जैसा सन्तोष है, जैसी परोपकारिता है, जैसी स्वामिभक्ति है, जैसा स्वार्थ-त्याग है उसका षोड़शांश भी अधिकांश मनुष्यों में न होगा। फिर मनुष्यों ही की इतनी महत्ता क्यों है?

हम कभी-कभी अपने सम्बन्धियों, नौकर-चाकरों और पड़ोसियों तक के भावों को बिलकुल नहीं परख सकते और

जो हमारे लिए जान तक देना चाहते हैं उन्हें हम अपना परम शत्रु समझ बैठते हैं। कभी-कभी हमारी ही बातों में अर्थ का अनर्थ हो बैठता है और कुछ का कुछ हो जाता है। हम स्वयं नहीं समझ सकते कि ऐसा परिणाम क्यों हो गया परन्तु वैसा परिणाम हो ही जाता है। क्या नित्य प्रति होनेवाले अनेकों घरू महाभारतों के मूल कारण इसी प्रकार के नहीं होते? समझ के ऐसे भेद का हेतु क्या है?

कहाँ तक कहें, ऐसे-ऐसे न जाने कितने प्रश्न हमारे जीवन में ही सदैव समुपस्थित हुआ करते हैं। विरला ही कोई विचारवान् मनुष्य होगा जिसका हृदय मानव-जीवन की इन पहेलियों का रहस्य भेद करने के लिए उत्सुक न हो जाता हो। इसी उत्सुकता का नाम जिज्ञासा है। जिसमें यह जिज्ञासा नहीं वह ज्ञान के मैदान में अग्रसर हो ही नहीं सकता। यदि शिक्षक डण्डे मारकर कोई विषय विद्यार्थियों को रटा देगा तो मार के डर से वह विद्यार्थी उस विषय को अपने मस्तिष्क के भीतर ठूँस अवश्य देगा, परन्तु जब वह पाठशाला से बाहर निकलेगा तब विस्मृति देवी कृपापूर्वक उसका वह बोझ उतारकर अन्धकार में फेंक देंगी और वह विद्यार्थी वैसाखनन्दन (गधे) के समान फिर स्वच्छन्द हो जायगा। परन्तु जिसमें जिज्ञासा है वह उस जिज्ञासावाले विषय को भली भाँति ग्रहण और धारण करके उससे वास्तविक लाभ उठा सकेगा। इसी लिए प्रत्येक शास्त्र के पढ़ने के पहिले

उसमें निहित विषय के जानने की इच्छा (जिज्ञासा) अवश्य होनी चाहिए। अपने यहाँ इसी लिए सूत्र-ग्रन्थों में पहिले पहल "अथातो धर्मजिज्ञासा" अथवा "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" लिखा है और पुराणों इत्यादि में सूत-शौनक या हर-पार्वती के प्रश्नोत्तर का प्रसङ्ग छेड़ा गया है जिससे पाठकों में उस विषय की जिज्ञासा जागृत हो जाय। यह सूत्र यहाँ पर रखने का तात्पर्य भी यही है।

हमारे जीवन में हमारी इच्छाओं, हमारी वासनाओं, हमारी आकांक्षाओं ही का तो सब खेल है। वे इच्छाएँ वासनाएँ आदि कैसे होती हैं, क्यों होती हैं, उन पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है, उन सबका आश्रय-स्थान हमारा जीव ही कैसा है, इस प्रश्न का उत्तर जानना तो प्रत्येक विचार-वान् व्यक्ति का काम होना चाहिए। इसे जाने बिना उसके प्रयत्न और उसके कार्य सब फीके हैं। "हम क्या हैं, हमारी शक्तियाँ क्या हैं, हमारा विकास क्या है, हमारा आदर्श क्या है, हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है ?" इन प्रधानतम प्रश्नों पर विचार किये बिना जो लोग इस जीवन में प्रवाह-पतित रूप से कुछ न कुछ प्रयत्न करते जाते हैं वे अन्धे व्यक्ति के समान मरुस्थल में भटका करते हैं। इन विषयों पर प्रत्येक विद्वान्, चाहे प्रकट चाहे अप्रकट रूप से, अपनी कुछ न कुछ धारणा अवश्य बना लेता है। यदि उन धारणाओं पर प्रकट रूप से विचार करके कोई सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाय तो फिर

अपने जीवन का अर्थ विदित हो जाने से उस जीवन के सम्पूर्ण कार्यों में सुसंगठित रोचकता आ जाना अवश्यम्भावी है ।

कीट-पतङ्गों से लेकर मनुष्यों तक में हम जीवों की अनेक श्रेणियाँ देख सकते हैं। उन सब प्रकार के जीवों का वर्णन इस छोटे ग्रन्थ में होना कठिन हैं। मानवीय जीव दूसरे सब जीवों से अधिक उन्नत हैं। दूसरे जीव उनसे बहुत नीचे की श्रेणी में हैं और बहुत अधिक अप्रबुद्ध हैं। इसलिए मानवी जीवों का वर्णन ही इस ग्रन्थ के लिए पर्याप्त होगा। जो बातें मानवी जीवों के वर्णन में आवेंगी वे ही, छोटे रूप में, दूसरे जीवों के विषय में भी कही जा सकती हैं (यद्यपि अभी मानवेतर जीवों का भली भाँति अनुसन्धान नहीं हो पाया है और ऐसे प्राणियों की शरीर-चेष्टायें या ऐसी ही बातें देखकर उनके जीवत्व और उस जीवत्व की शक्तियों का कुछ अनुमान ही किया गया है)। मानवी जीवों में भी जो साधारण कोटि के प्रबुद्ध जीव हैं उन्हीं का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष रूप से किया गया है।

केवल मन की जिज्ञासा से जीव की जिज्ञासा श्रेष्ठ है, इसी लिए केवल मनोविज्ञान की रचना न होकर जीव-विज्ञान की रचना की गई है। [यद्यपि अनेक आर्ष ग्रन्थों में मनः शब्द जीव के अर्थ में आया है और आजकल भी कई लोग मन से Mind का अर्थ लेकर ज्ञान इत्यादि का विषय मन ही को मानते हैं परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं जान पड़ता। मन

बड़ा बली है, बड़ा दुर्जय है, बड़ी घुड़-दौड़ लगाता है इत्यादि जो कहा जाता है इससे जान पड़ता है कि मन में क्रियात्मिका वृत्ति विशेष रहती है। बुद्धि और चित्त को उससे अलग मानना तथा तीनों को जीव का अंग मानना ही उचित जान पड़ता है।] जिन्हें भौतिक विज्ञानवादियों की दलीलें इस विषय में सन्तोषदायक नहीं जँचीं परन्तु जो वैज्ञानिक युग में रहकर वैज्ञानिक युक्तियों ही से इस विषय का भारतीय भावों के अनुरूप विवेचन चाहते हैं ऐसे ही सहृदय जिज्ञासु इस ग्रन्थ के अध्ययन के वास्तविक अधिकारी कहे जा सकते हैं।

परिभाषा प्रकरण

सूत्र २.

२ उस व्यक्तित्ववान् चैतन्य को जीव कहते हैं जो पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिमान् हो—

इस संसार में हमें दो वस्तुओं का अनुभव हुआ करता है। एक जड़ और दूसरी चैतन्य। जड़ पदार्थों को तो हम अपनी पाँचों इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं परन्तु चैतन्य पदार्थ को हम उस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। यह बात अवश्य है कि चैतन्य पदार्थ का ज्ञान भी हमें किसी न किसी शरीर में ही होता है और इसी लिए हम जीवित प्राणी देखकर उसे ही चैतन्य कहने लगते हैं। परन्तु वास्तव में वह शरीर और उसमें स्थित होनेवाला वह चैतन्य, ये दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं। वही शरीर, जो थोड़ी देर पहिले हिलता-डुलता और इसी लिए चैतन्य कहाता था, मृत्यु के उपरान्त एकदम जड़ कहाने लगता है। संसार में जितने भी इन्द्रियों के विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाले पदार्थ हैं, वे सब जड़ ही के अङ्ग हैं। चैतन्य पदार्थ तो इन सबसे परे है।

यह चैतन्य क्या है? इसका विशिष्ट गुण (differentia) क्या है और इसे हम जड़ पदार्थ से विभिन्न कैसे समझ सकते हैं? जिस तरह जलाना अग्नि का धर्म है, मीठा रहना दूध

का धर्म है, बहना हवा का धर्म है, उसी प्रकार इस चैतन्य का धर्म क्या है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि जिस अतीन्द्रिय पदार्थ में 'ज्ञातृत्व', 'कर्तृत्व' और 'भोक्तृत्व' का धर्म निहित है उसे ही चैतन्य कहते हैं। यही चैतन्य की परिभाषा है। 'ज्ञान, इच्छा और भोग' का धर्म जड़ पदार्थों में नहीं पाया जा सकता। जड़ पत्थर, जड़ विद्युत् या जड़ काष्ठ में न तो ज्ञान है न भोग है, न क्रिया-स्वातन्त्र्य (इच्छा) ही है। यदि कुछ कार्य दिखाई भी पड़ता है तो वह प्राकृतिक नियमों के कारण, न कि किसी स्वतन्त्र चेष्टा या इच्छा के कारण। तब जब संसार में हमें ज्ञान, इच्छा और भोग के अनुभव होते हैं और ये धर्म जड़ पदार्थ के नहीं माने जा सकते तब यह अवश्य मानना होगा कि जड़ से भिन्न कोई पदार्थ ऐसा अवश्य है जिसके ये तीन धर्म हो सकते हैं। उसी पदार्थ का नाम चैतन्य है। यद्यपि उसका अनुभव हमें इन्द्रियों से नहीं हो सकता परन्तु फिर भी हम इसी अनुमान के द्वारा उसके अस्तित्व का पता पा सकते हैं। यह चैतन्य, जगत् की उस आदि विद्युत् शक्ति (Cosmic electricity) का परिणाम नहीं हो सकता जिससे सम्पूर्ण जड़ जगत् की सृष्टि हुई है। क्योंकि सार्वभौम नियम से जकड़ी हुई अन्ध प्राकृतिक प्रेरणा में ज्ञान, भोग और इच्छा के भाव उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती। ज्ञान, इच्छा और भोग के भाव ही ऐसे हैं जो अन्ध नियमों से बद्ध नहीं माने जा सकते और यह निश्चित ही है कि

आदि विद्युत्-शक्ति (Cosmic electricity) सार्वभौम नियम (Universal law) से जकड़ी हुई है अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रक्रिया किसी न किसी नियम के अनुसार ही होगी। तब फिर यही मानना युक्ति-सङ्गत जान पड़ता है कि चैतन्य उस आदि-शक्ति से अलग है। हाँ, यह अलबत्ता माना जा सकता है कि वह आदि-शक्ति उस चैतन्य ही की एक शक्ति है और ऐसा मानने के लिए आगे अनेक कारण भी विदित होंगे।

क्या संसार में जड़ और चैतन्य दोनों वास्तव में अलग-अलग हैं ? नहीं। यह भेद तो केवल काल्पनिक है। वास्तव में तो साधारणतः जड़-विहीन चैतन्य कहीं अनुभव ही में नहीं आता। इसी प्रकार चैतन्य-विहीन जड़ भी कठिनता ही से मिलेगा। पत्थर भी तो बढ़ते हैं इसलिए उनमें भी चैतन्य छिपा हुआ है। और जब जड़ जगत् को उत्पन्न करनेवाली आदि विद्युत्-शक्ति ही केवल चैतन्य ही की शक्ति है (अर्थात् चैतन्य ही की प्रेरणा से चैतन्य ही के विचारों को मूर्त्त रूप प्रदान किया करती है जैसा कि आगे स्पष्ट बतलाया जायगा) तब तो फिर प्रत्येक पदार्थ ही को जड़ का चमत्कार न कह-कर चैतन्य का चमत्कार कहना चाहिए। परन्तु ऐसा अधिकतर अद्वैत वेदान्ती अथवा परम ज्ञानी ही कह सकते हैं। सामान्य-दृष्टि में तो जहाँ ज्ञान, इच्छा और भोग के धर्म का प्रत्यक्ष नहीं है उन पदार्थों को हम जड़ कहते हैं और शेष सबको चेतन।

यह चैतन्य एक, अखण्ड और सर्वव्यापी है। जिस प्रकार अग्नि तत्व सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है परन्तु ईंधन और दियासलाई इत्यादि के संयोग से जहां चाहो वहाँ प्रकट हो सकता है उसी प्रकार विश्वव्यापी चैतन्य भी अनुकूल शरीर पाकर प्रकट हो जाया और गुप्त हो जाया करता है। परन्तु जैसे अनेक प्रज्वलित अग्नियाँ देखकर भी अग्नि तत्व के एकत्व, अखण्डत्व और विभुत्व (अर्थात् सर्वव्यापकत्व) पर किसी को सन्देह नहीं होता उसी प्रकार अनेक चैतन्य पदार्थों को देखकर भी उस चैतन्य तत्व के एकत्व, अखण्डत्व और सर्वव्यापकत्व पर शङ्का करना व्यर्थ है। असल में तो इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जितने प्राणी हैं उन सबमें व्यापक होकर भी वह उन सबसे परे है क्योंकि समग्र प्रज्वलित अग्नियाँ मिलाकर भी जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि तत्व की इयत्ता इतनी ही है अब और कहीं अग्नि प्रकट नहीं हो सकती उसी प्रकार इस चैतन्य का भी हाल है। यही बात समझाने के लिए उपनिषदों में—

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः रूपम् रूपम् प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपे रूपे प्रतिरूपो बहिश्च ॥"

इत्यादि अनेक उत्तम छन्द कहे गये हैं!

इसी अखण्ड चैतन्य को परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, परमपुरुष या भगवान् कहा गया है। कहना न होगा कि अखिल विश्व में इस अखण्ड चैतन्य का केवल एक अंश ही तो व्यक्त रूप में है; शेष सब अव्यक्त है। जो चैतन्य अंश इस विश्व-

ब्रह्माण्ड में व्यक्त हुआ है उसे आत्मा कहते हैं। इसे ही गीता में पराप्रकृति अथवा जीव भी कहा गया है। इसे ही वेदान्त में चिन्मात्र कहते हैं। चाहे अनेकों अग्नियाँ नये सिरे से बनती और बुझती रहें परन्तु अग्नितत्व तो एक अक्षर और निर्विकार रहेगा। उसी प्रकार इस संसार में अनेकों प्राणी भले ही जीते-मरते रहें परन्तु इस आत्मतत्व में किसी प्रकार का विकार न होगा। वह सदैव ही आदि-अन्त-हीन, अमल, अविकारी, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त-स्वभाव बना रहेगा। यदि विकार होता है तो अनेकों व्यक्त अग्नियों में और इसी प्रकार अनेकों व्यक्त प्राणियों में। हम इन्हीं विकारों को आत्मा का विकार मानकर ही गड़बड़ कर बैठते हैं। वह तो एकदम निर्लेप है। जो ऐसी आत्मा का दर्शन करके वास्तविक आत्म-दर्शी बनते हैं वे ही कृतकृत्य कहाते हैं क्योंकि वे सब विकारों से मुक्त हो जाते हैं।

तब क्या प्राणियों के शरीर में इस आत्मतत्व के अति-रिक्त और कोई विशिष्ट चैतन्य पदार्थ नहीं है? जैसे प्रज्वलित ईंधन में लकड़ी और अग्नितत्व के अतिरिक्त एक विकारशील अग्नि-शिखा का भी अस्तित्व रहता है उसी प्रकार प्राणियों में भी शरीर और आत्मतत्व के बीच एक विकारशील चैतन्य सत्ता का अस्तित्व रहता है। इस सत्ता को अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से कहा है। कोई इसे चिदाभास कहते हैं। कोई इसे प्रेत कहते हैं। कोई भाव कहते हैं।

कोई बोलता पंछी ही कह देते हैं। परन्तु प्रायः सभी लोगों ने इसी सत्ता को जीव नाम से पुकारा है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे "मन" कहा है। "तत्वमसि" इत्यादि महा-वाक्यों में त्वम् सरीखे पदों से इसी का बोध कराया गया है। इस सत्ता को जीव कहना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है और चिन्मात्र को आत्मा कहना ही विशेष उत्तम है। जहाँ कहीं जीव को एक, अमल, सहज, सुखराशि, अविनाशी, इत्यादि कहा गया है वहाँ जीव से आत्मा ही का अर्थ समझना चाहिए और जहाँ जीव को अनेक, विकारी इत्यादि कहा है वहाँ उसे चिदाभास के अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए। इस ग्रन्थ में जीव शब्द इसी चिदाभास सत्ता के लिए आया है और ऐसे ही जीवों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। आत्मा एक है परन्तु ऐसे जीव अनेक हैं। आत्मा शुद्ध-बुद्ध और निर्लेप है परन्तु जीव विकारी, अणु और अपूर्णता-युक्त है! आत्मा सर्वव्यापी और सर्वरस है, ये प्रत्येक देह में अलग-अलग और एकदेशी हैं। आत्मा अनादि अनन्त है, ये आदि-अन्तवाले हैं। आत्मा सुखराशि है, ये सुखेच्छु हैं। आत्मा स्वतन्त्र है, ये कर्म-परतन्त्र हैं।

मैं-पन अर्थात् ममत्व की भावना ही जीव की उत्पत्ति का कारण है। इस भावना ही के कारण विभिन्न व्यक्तित्व दृढ़ होता जाता है। संसार के कृमि-कीटाणु से लेकर विशाल-काय प्राणी तक सब केवल एक आत्मा ही की सत्ता के कारण

जीवित रहते हैं। अब इन इतने प्राणियों में जिसे अपने-पन का बोध होना प्रारम्भ हो गया (अर्थात् शरीर रूपी व्यक्तित्वमयी सीमा के कारण अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बोध होने लगा) उसका जीव बनना भी प्रारम्भ हो गया समझिए। यही जीव जब अहङ्कार (मैं-पन) की भावना के कारण इतना दृढ़ हो जाता है कि वह अपने को शरीर से पृथक् समझने लगता है तब उसका अस्तित्व शरीर के बाद भी बना रहना प्रारम्भ हो जाता है। हम नहीं कह सकते कि वृक्षों, क्षुद्र कीटों या सामान्य प्राणियों में किन-किन योनियों (species) के जीवों का अस्तित्व उनके शरीर के नाश के बाद भी बना रहता होगा। आज तक तो कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिला है कि किसी बड़ या पीपल का जीव अथवा किसी छिपकली या मेढक का जीव अपना शरीर छोड़कर फिर भी वर्तमान रहा हो (साँप के विषय में कहीं-कहीं ऐसे प्रमाण अवश्य मिले हैं); परन्तु मनुष्यों के जीवों के विषय में (जो सब संसारी जीवों से अधिक प्रबुद्ध जान पड़ता है) तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इस शरीर के नाश के बाद भी उनके अस्तित्व के अनेक प्रमाण मिले हैं और मिलते जा रहे हैं। थियासाफ़ी-वाले, साइकिक रिसर्च सोसाइटीवाले तथा ऐसे ही अनेक वैज्ञानिक इस विषय को नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट करते चले जाते हैं। यह ममत्व की भावना अनेक जन्मों से चली आ रही है इसलिए जीवों का अस्तित्व भी अनेक जन्मों तक बना

रहेगा और अनेक जन्म ही क्यों ? किसी भी ऐसे जीव का तब तक नाश हो ही नहीं सकता जब तक उसका अहम् भाव एकदम गल न जाय। अहम् भाव के दूर होने पर ही व्यक्तित्व का नाश होगा और व्यक्तित्व के नाश ही पर जीव का निर्वाण होगा (अर्थात् उसकी विभिन्नता और संकीर्णता तो शून्य में मिल जायगी और चेतन अंश अपने मूल उद्गम-स्थान आत्मा में लीन होकर आत्मसाक्षात्कार कर लेगा। और इस प्रकार उसका मोक्ष हो जायगा)।

जहाँ किसी शरीर में प्राण आये कि चैतन्य की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई और चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर शरीर की सीमा के कारण अपने-पन का, अपने भिन्न व्यक्तित्व का, बोध होना भी अनिवार्य है। अब यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि हमारे विचार हमारी मनः-शक्ति के कारण प्रत्यक्ष फलीभूत होने की क्षमता रखते हैं (यह विषय विस्तार के साथ आगे वतलाया जायगा)। तब जब हमारे शरीरों में व्यक्तित्व का विचार दृढ़ होता जाता है तब उसी विचार के कारण एक व्यक्तित्वमयी सत्ता भी अवश्य बनती चली जाती है जो उसी विचारों की कोटि की होकर शरीर से भिन्न रहती है और शरीर की अपेक्षा अधिक काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखती है। व्यक्तित्व का विचार ही अनादि अज्ञान का परिणाम है (क्योंकि अपने को शरीर-परिच्छिन्न मानना अज्ञान ही के कारण है और यह अज्ञान होने के बाद ही जीव

बनते हैं, इसलिए इसे अनादि अज्ञान कहा है। यह अज्ञान प्रत्यक्ष के प्राबल्य के कारण है और * इसलिए यदि यह कहें कि जीवों की स्थिति अज्ञान में है और वास्तविक ज्ञान होने से यह भ्रान्ति दूर हो जाती है, तो अनुचित न होगा। परन्तु इस संसार में, जहाँ कि भौतिक पदार्थों की अपेक्षा उनके मूलभूत विचार अधिक महत्वपूर्ण और चिरस्थायी हैं, इन सब शरीरों की अपेक्षा जीव की सत्ता अधिक महत्वपूर्ण, अधिक सत्य और अधिक चिरस्थायी है।

ऐसे जीव अनादिकाल से बनते आये हैं और अनन्त काल तक बनते जायँगे इसलिए वे अनन्त हैं। गीता में यद्यपि जीव शब्द आत्मा के अर्थ में आया है परन्तु

"क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।"

(अर्थ—ऐसे पशुओं को मैं बार-बार आसुरी योनियों में डालता हूँ। मूढ़ लोग जन्म-जन्म में आसुरी योनि पाकर......)

इत्यादि श्लोकों में ऐसे जीवों की भी चर्चा बराबर की गई है जो अनेक होकर शरीर से भिन्न हैं। उपनिषदों में ऐसे ही जीवों का वर्णन आया है। जैसे आग से चिनगारी उत्पन्न होकर उसी में लीन होती है इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से सब भाव उत्पन्न होकर उसी में गमन करते

* प्रत्यक्ष का प्रबल होना एक सार्वभौम स्वाभाविक नियम है।

हैं। यह रूपक उपनिषदों का है। इसमें भाव से यही जीव का तात्पर्य लेना चाहिये।

इसी प्रकार "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि कहकर "भूत" शब्द से इसी जीव का ही वर्णन हुआ है।

पाश्चात्य विज्ञानवाले ऐसी किसी स्वतन्त्र सत्ता को न मानते थे। आज-कल भी बहुत लोग नहीं मानते। परन्तु जो समझदार हैं वे धीरे-धीरे मानने लगे हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि भौतिक जड़ पदार्थों ही को सब कुछ समझकर चैतन्य तत्त्व की एकदम उपेक्षा कर देना ऐसे कट्टर वैज्ञानिकों के लिए भी असम्भव है। यह बात अवश्य है कि एक बार प्राणियों में चैतन्य का आविर्भाव हो जाने पर फिर प्राकृतिक नियमों ही के आधार पर अधिकांशतः सृष्टि का क्रम चला है। परन्तु उसी प्राकृतिक नियमों के आधार पर विचारों के अनुसार जो एक विशिष्ट सत्ता का निर्माण होता है और जिसका प्रमाण मनुष्य-योनि में अनेक वैज्ञानिकों को मिल चुका है उसका तिरस्कार करना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। जीव-सत्ता को न माननेवाले वैज्ञानिकों की युक्तियों में अनेक त्रुटियाँ हैं जिनका दिग्दर्शन शरीर प्रकरण में किया जावेगा। अब यदि कोई कट्टर विज्ञानवादी-प्रत्यक्षवादी (अर्थात् ऐसा मनुष्य जो आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा के द्वारा अनुभव-गम्य वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना ही न चाहता हो) यह कहे कि जीव का अनु-

भव तो किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है इसलिए उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार करें तो ऐसे मनुष्यों से केवल इतना ही कहना है कि हमारे ज्ञान का आधार केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है। प्रत्यक्ष में भले ही हम उसका अनुभव न कर सकें परन्तु अनुमान और शब्द-प्रमाण से तो हम अवश्य उसके विषय में अपने सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं और उसके अस्तित्व को जान तथा समझ सकते हैं। क्या प्रत्यक्षवादी के पास अपने पिता के पहिचानने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है? आखिर वह भी तो अनुमान और (माता इत्यादि के द्वारा कहे हुए) शब्द-प्रमाण का सहारा लेता है। तब फिर जीव ही के विषय में ऐसी हठ-धर्मी क्यों चाहिए? जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने से वैज्ञानिक सिद्धान्तों में कोई बाधा नहीं आती। प्रत्युत, विज्ञान की कई दुरूह समस्यायें सरलता-पूर्वक सुलझ जाती हैं। और फिर यह स्वतन्त्र सत्ता भी तो वैज्ञानिक नियमों ही पर निर्भर है और उन्हीं से सिद्ध होती है।

ऊपर के कथनों से यह तो स्पष्ट ही हो चुका होगा कि व्यक्तित्ववान् चैतन्य ही को जीव कहा गया है। परन्तु जीव में एक और विशिष्ट धर्म भी है जिसका उल्लेख किये बिना जीव की परिभाषा पूरी नहीं होती। वह विशिष्ट धर्म है "पूर्णत्व के लिये स्फूर्ति।" इस विश्व ब्रह्माण्ड में सञ्चार करनेवाले अनन्त कोटि जीव एकदम उद्देश्य-हीन होकर ही

कालयापन नहीं कर रहे हैं। वे "अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग" भी नहीं अलाप सकते। उन सब की उत्पत्ति एक अखण्ड चैतन्य से हुई है। आत्मतत्त्व उन सब से पृथक् नहीं है। इसी लिए वे अपूर्ण होकर भी पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न-शील रहते हैं। मुझमें अखण्ड ज्ञातृत्व हो, अखण्ड कर्तृत्व हो, अखण्ड भोक्तृत्व हो अर्थात् मैं अनन्त ज्ञानी (चित्), अनन्त शक्तिशाली (सत्) और अनन्त आनन्दमय (आनन्द) होऊँ—यह प्रत्येक जीव की अभिलाषा रहती है। चाहे यह अभिलाषा उस जीव को विदित हो चाहे न हो। उसके कार्यों और जीवन से ही हम इस अभिलाषा का पता पा सकते हैं। जिस समय कोई जीव ज्ञान, कर्म या भाव के क्षेत्र में अग्रसर हो रहा हो उसी समय समझ लेना चाहिए कि यह अभिलाषा उसमें कार्य कर रही है। इस तरह प्रत्येक जीव ही स्वभावतः पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिमान् रहता है। अब कई जीव सन्मार्ग में अग्रसर होकर इस पूर्णत्व को प्राप्त कर लेते हैं और कई असन्मार्ग का अवलम्बन करके चक्कर खाते रहते हैं।

इन्हीं सब बातों को देखते हुए जीव की परिभाषा में कहा गया है कि "पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिमान् व्यक्तित्व विशिष्ट चैतन्य को जीव कहते हैं"। किसी विषय की परिभाषा तभी उपयुक्त कही जा सकती है जब वह उस विषय के सब रूपों और सब अवस्थाओं में घटित हो सके और उस पदार्थ का

दूसरे वैसे ही पदार्थों से भेद बताने में समर्थ हो। साथ ही परिभाषा वही उत्तम होगी जो विद्वानों को अभीष्ट होते हुए भी सर्वसाधारण को भी सरलता-पूर्वक ग्राह्य हो सकेगी। मेरी समझ में जीव की जो परिभाषा यहाँ दी गई है वह जीव की सब विशेषताओं और अवस्थाओं के उपयुक्त है और यह परिभाषा विद्वानों को अभिमत होते हुए भी सर्वसाधारण द्वारा सरलतापूर्वक ग्रहण की जा सकती है। मेरा तो विश्वास है कि सत्य का प्रत्यक्ष केवल हृदय अथवा अन्तरिन्द्रिय (Inteuition या common sense) ही से होता है। बुद्धि (तर्कशक्ति reason) तो उसकी व्याख्या और उसका प्रयोग (Demonstration)भर कर सकती है। इसलिए सत् सिद्धान्त अथवा सत् परिभाषा वही है जो केवल बुद्धि-ग्राह्य ही न होकर हृदय को भी सन्तोष देनेवाली हो। मेरे विचार में जीव की यह परिभाषा बुद्धि-ग्राह्य ही न होकर हृदय ग्राह्य भो है इसलिए कोई कारण नहीं कि यह ग्रहण न की जाय। त्रिकालदर्शी महर्षियों और आचार्यों को भी ऐसी ही परिभाषा अभिमत थी। आर्ष ग्रन्थों और प्रमाणों का उल्लेख आगे ही कुछ-कुछ किया जा चुका है। अब यहाँ जीव के सामान्य ज्ञान और जीव के तत्त्वज्ञान के विषय में क्रमशः भगवान् निम्बार्क मुनीन्द्र और जगद्गुरु भगवान् शङ्कराचार्य के कुछ श्लोक उद्धृत कर देना ही मैं पर्याप्त समझता हूँ। भगवान् निम्बार्काचार्यजी ने जीव का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

"ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीर-संयोग-वियोग-योग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥

अर्थ—जीव ज्ञानस्वरूपी है, ईश्वराधीन है, शरीर के साथ उसका संयोग-वियोग हुआ करता है, अणु है, हर एक देह में भिन्न है, ज्ञातृत्ववान् और अनन्त है ।

जीव का यही सामान्य लक्षण इस ग्रन्थ में भी व्यक्त किया गया है । भगवान् शङ्कराचार्यजी ने जीव का तात्त्विक विवेचन करते हुए अपने प्रबोधसुधाकर ग्रन्थ में कहा है ।

चित्प्रतिबिम्बस्तावत् बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः ।
जीवः स उक्त आद्यैः योऽहमिति स्फूर्तिकृद् वपुषि ॥

तथाच

खरतरकरैः प्रदीप्तेऽभ्युदिते चैतन्यतिग्मांशौ ।
स्फुरति मृषैव समन्तादनेकविधजीवमृगतृष्णा ॥

अर्थ—बुद्धि में पड़नेवाला चैतन्य प्रतिबिम्ब ही जीव कहाता है जिसके कारण शरीर के भीतर अहम् भाव की स्फूर्ति होती है । जैसे ग्रीष्म काल के सूर्य के उदित रहने पर अनेक प्रकार की मृगतृष्णायें दिखाई देती हैं उसी प्रकार चैतन्य के उदित रहने पर अनेक प्रकार के जीव चारों ओर प्रकट होते हैं । परन्तु जैसे मृगतृष्णा मिथ्या है उसी प्रकार ये जीव भी मिथ्या हैं ।

इस विषय का प्रायः ऐसा ही विवेचन इस सूत्र में भी किया गया है ।

निम्न तीन सूत्रों में इसी परिभाषा के अङ्गों का विस्तार है और आगे के प्रकरणों में उन्हीं का विशद वर्णन करने की चेष्टा की गई है।

सूत्र ३

३ उस पूर्णत्व ही को सच्चिदानन्द कहते हैं—

ऊपर ही कहा गया है कि अखण्ड ज्ञान, अखण्ड शक्ति और अखण्ड आनन्द प्राप्त करने की इच्छा प्रत्येक जीव में होती है। उसमें स्वल्प ज्ञान, स्वल्प शक्ति और स्वल्प आनन्द होता है। वह अपने इसी स्वल्पत्व को अनन्तत्व अथवा पूर्णत्व में परिणत करना चाहता है। उस अनन्त शक्ति ही का नाम **सत्**, अनन्त ज्ञान ही का नाम **चित्** और अनन्त आनन्द ही का नाम **आनन्द** है। सच्चिदानन्दत्व ही अखण्ड चैतन्य का परम धर्म है और यही सच्चिदानन्दत्व प्रत्येक जीव का आदर्श पूर्णत्व है।

इसी सच्चिदानन्द को कोई राम कहे, कोई रहीम, कोई बुद्ध कहे और कोई भगवान् अथवा परमात्मा सरीखे शब्दों से ही चिढ़ रखनेवाला नास्तिक इस तत्त्व को आदर्श पूर्णत्व ही कह दे, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इसे मृगमरीचिका कोई नहीं मान सकता क्योंकि इसका अनुभव तो प्रत्येक जीव को पद-पद पर होता रहता है और इसे ही प्राप्त करने के लिए प्रत्येक जीव की स्थिति-गति हुआ करती है।

जीवों के लिए सच्चिदानन्दत्व का ध्येय वैसा नहीं है, जैसा कलकत्ता या बम्बई जानेवाले यात्री का है। उस यात्री का ध्येय स्थान (शहर) उसकी यात्रा से भिन्न है परन्तु जीव का ध्येय तो उसकी उत्क्रान्ति के, विकास के, साथ ही सम्बद्ध है। इससे यह जाना जाता है कि सच्चिदानन्दत्व कोई भिन्न वस्तु नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए जीव प्रयत्नवान् रहता है। वह तो जीव की प्रगति के साथ आप ही आप प्राप्त होता जाता है। क्या ऐसी दशा में हम सोच सकते हैं कि जीव की स्थिति सच्चिदानन्द से भिन्न और कहीं है? यह कह ही दिया गया है कि सच्चिदानन्द-अखण्ड पूर्णत्व ही से जीवों की उत्पत्ति हुई है। साथ ही यह भी हमें मानना ही होगा कि जीवों की स्थिति उस सच्चिदानन्द में ही है जो उनका ही पूर्ण रूप है। अपने इसी पूर्ण रूप का साक्षात् कर लेने पर जीव का मोक्ष हो जाता है और फिर उसमें जीवत्व नहीं रहता। इस तरह जीव का लय भी उसमें ही होगा।

क्षुद्र रूप में तो प्रत्येक मनुष्य (और मनुष्य ही क्यों? प्रत्येक जीव) ही सच्चिदानन्द है और इसलिए हमको घट-घट में सच्चिदानन्द की सूक्ष्म झाँकियों के दर्शन हो सकते हैं। परन्तु यदि हम इस सच्चिदानन्द का विशेष रूप देखना चाहें तो हमें बाहर विश्व में यही तत्व "सत्य शिव सुन्दर" के रूप में लबालब भरा हुआ दिखाई देगा। जीव के अथवा

अहम् (Subjective view point) के दृष्टि-कोण से हम जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं जगत् के, अनहम् के, दृष्टि-कोण से (Objective view point) हम उसे ही 'सत्य शिव सुन्दर' कहते हैं। सत्य ही तो अनन्त ज्ञान-राशि (चित्) का व्यक्त रूप है; शिव (अखण्ड कल्याण) ही तो अनन्त शक्ति का व्यक्त रूप है; सुन्दर (अनन्त सौन्दर्य) ही तो अनन्त आनन्द-भाण्डार का मूर्तिमान् रूप है। हम जो कुछ पढ़ते-लिखते हैं सब केवल सत्य की झाँकियाँ देखने के लिए, जो कुछ कर्म करते हैं सब केवल शिव की एक कला का अनुभव करने के लिए, जो कुछ भावना करते हैं सब केवल सुन्दर में तन्मयत्व प्राप्त करने के लिए। इस प्रकार हम पद-पद पर सच्चिदानन्द के दर्शन प्राप्त करना चाहते हैं और करते रहते हैं। बहुतों ने उस पूर्ण तत्व पर ध्यान लगाया है और पूर्णत्व तक पहुँच भी चुके हैं। फिर भी यदि कोई इस परम तत्त्व को ध्रुव और निश्चित (real) न समझकर केवल काल्पनिक (ideal) और निरर्थक ही समझे तो उसकी समझ पर दो-चार आँसू बहाने के अतिरिक्त और क्या किया जा सकता है। हाँ, जो लोग यह समझते हैं कि विश्व का सम्पूर्ण सत्यशिवसुन्दरत्व और जीवों का सम्पूर्ण सच्चिदानन्दत्व उस सच्चिदानन्द को पूरी तरह व्यक्त नहीं कर रहा है और इस अर्थ में वह पूर्णत्व अब तक आदर्श (ideal) ही है प्रत्यक्ष (real) नहीं, उनसे मैं बराबर सहमत हूँ। क्योंकि जीव और जगत्

जब तक विकास-शील रहेंगे—जैसे कि अभी हैं—तब तक उनमें सच्चिदानन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है ?

अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्द में कोई भेद नहीं। वह एक ही है जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक जीव के लिए अलग-अलग सच्चिदानन्द नहीं हैं। सब जीवों का केवल एक ही आदर्श है और उसी एक आदर्श में सब जीवों की स्थिति है। इसी लिए हम देखते हैं कि मेस्मेरिज़्म, हाइप्नाटिज़्म, परचित्त विज्ञान विद्या (thought reading), मानसिक तार-वर्की (mental telepathy) इत्यादि से जीवों का पारस्परिक प्रभाव पड़ा करता है और इसी लिए हम देखते हैं कि उन्हें अपने विकास में पारस्परिक सहयोग का भाव रखना पड़ता है। अब यदि प्रत्येक जीव की स्थिति और आदर्श अलग-अलग होते तो उनमें यह सहयोगिता और समानता क्यों होती तथा पारस्परिक प्रभाव कैसे पड़ता ?

एक बात और है। हम विचार करने पर भी जान सकते हैं कि सच्चिदानन्द में अनेकत्व की कल्पना करना ही असंगत है। जो सब प्रकार पूर्ण है वह केवल एक ही हो सकता है। हम सर्वशक्तिमान् अनन्त चैतन्य और पूर्ण आनन्दमय के स्वतन्त्र (असम्बद्ध) अनेकत्व की कल्पना ही नहीं कर सकते अन्यथा उनमें सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि हो ही नहीं सकेगी। हाँ, सम्बद्ध अनेकता की कल्पना हो सकती है जैसा जैनों

आदि ने किया है परन्तु वह सम्बद्ध अनेकता केवल एक ही सत्ता के अनेक रूपों के समान है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सच्चिदानन्द ही हमारा वह आदर्श पूर्णत्व है। जो जीव उस पूर्णता को प्राप्त कर लेता है वह उसी में लीन हो जाता है अर्थात् उसका उसमें मोक्ष हो जाता है। यह पूर्णत्व ध्रुव और निश्चित (real) है, एक है तथा व्यक्त जगत् ही में सीमित नहीं है। इसी से सब जीवों की उत्पत्ति हुई है, इसी में सब जीवों की स्थिति है और इसी में सब का लय होगा।

कई लोग समझते हैं कि सच्चिदानन्दत्व की प्राप्ति (अथवा अनुभूति, क्योंकि वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है) मानव शरीर में भी हो सकती है अथवा यों कहिए कि साकार रूप से प्रकट हो सकती है और इसी लिए वे अवतार इत्यादि भी मानते हैं। कई लोग समझते हैं कि गुणों से सीमाबद्धता आ जाती है जैसे 'अमुक वस्तु लाल है' कहने से यह जाना जाता है कि उसमें पीले नीले इत्यादि रङ्गों का अभाव है अथवा कम से कम वह बेरङ्गी तो हो ही नहीं सकती। इसलिए वे सच्चिदानन्द को केवल निर्गुण मानते हुए उसका वर्णन किसी भी विशेषण के द्वारा नहीं करना चाहते। यह अपनी अपनी समझ और भावना की बात है। परन्तु हाँ, इतना अवश्य है कि सच्चिदानन्द ही सब जीवों की आत्मा है और सबमें व्याप्त है। जिस जीव में उसका विशेष विकास हो चुका है

वह महात्मा है और जिसमें वह विकास पूर्णता के बराबर पहुँच चुका है उसे भगवान् अथवा परमात्मा भी कह देने में कोई हानि नहीं।

सूत्र ४

४ पूर्णत्व के लिए स्फूर्ति ही का नाम विकास है—

भारत में जो सिद्धान्त संक्रम और प्रतिसंक्रम वाद के नाम से चिर-प्रचलित है उसी की क्षीण प्रतिध्वनि अभी हाल ही में यूरोप से विकासवाद (evolution theory) के नाम पर हुई है। परन्तु इस अल्प काल ही में डारविन और स्पेंसर सरीखे विद्वानों के भगीरथ-प्रयत्न से यह सिद्धान्त सर्व-मान्य बन बैठा है और अब तो इसके विषय में कुछ कहना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है।

पाश्चात्य पण्डितों के मत में एक आदि विद्युत्शक्ति (Cosmic energy) या (Cosmic electricity) से विद्युत्-अणुओं (electrions) का आविर्भाव हुआ और विद्युत्-अणुओं से सम्पूर्ण तत्त्व पदार्थ बनते हुए क्रमशः सौर जगत् की रचना हुई और फिर क्रमशः जलचर, स्थलचर, पशु मनुष्य इत्यादि की योनियों का निर्माण हुआ है। सांख्य आचार्यों ने २५ तत्वों के विवेचन में ऐसा ही विकास अपने ढङ्ग पर बड़ी ही रोचक रीति से बतलाया है। कई एकों का तो कहना है कि अपने पुराणों में जो दस अवतारों की कथा है वह विकासवाद

समझाने की कहानी ही है। जलचर-योनि से किस प्रकार स्थलचर-योनि की ओर प्रगति हुई और वहाँ भी पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर तथा पाशव मनुष्यत्व से देवत्व की ओर कैसे उत्क्रान्ति हुई यही समझाने के लिए क्रमशः मछली, कछुवा, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम इत्यादि का उल्लेख किया गया है। यह चाहे जो हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विकास-वाद को यथोचित आदर प्रदान करने में पूर्व और पश्चिम दोनों देशों के विद्वान् अग्रसर हुए हैं।

जड़ जगत् में विकास की जो परिपाटी प्रचलित है उससे हमें विशेष मतलब नहीं क्योंकि वह इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय नहीं है। पहाड़ों, नदियों और वृक्षों में लाखों और करोड़ों वर्षों के अनवरत प्रयत्न के बाद प्रकृति देवी ने कैसे-कैसे परिवर्तन कर दिये हैं तथा क्षुद्र अमीवा प्राणी और मच्छड़-भुनगे से लेकर ह्वेल मछली, शुतुरमुर्ग, हाथी और मनुष्य तक की योनियों में इतनी विभिन्नतायें किस चमत्कार के साथ होती चली गई हैं इस विषय का ज्ञान भी बड़ा रोचक है। और जीव की योनियों का ज्ञान तो इस ग्रन्थ के वर्ण्य विषय से सम्बन्ध भी रखता है, क्योंकि यह निश्चित है कि शरीर-सम्पत्ति के अनुसार ही जीव का विकास भी होगा। परन्तु स्थानाभाव से यहाँ उस सब विषय का वर्णन नहीं किया जा सकता। हमें तो मानवी जीवों का ही वर्णन विशेष करना है इसलिए उन जीवों से सम्बन्ध रखनेवाले मानवी शरीर का

वर्णन एक अलग प्रकरण ही में विस्तारपूर्वक कर दिया जायगा। प्रकृति देवी के द्वारा लाखों-करोड़ों वर्षों के बाद इस मानव योनि का किस प्रकार निर्माण हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर विकासवाद के किसी भी ग्रन्थ में पाठक देख सकते हैं।

इस ग्रन्थ में विकास से जीवों और विशेष कर मनुष्यों के विकास का ही तात्पर्य है। यह पहिले ही कहा गया है कि प्रत्येक जीव पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिमान् है। इसी स्फूर्ति को आज-कल के शब्दों में विकास अथवा उत्क्रान्ति कहते हैं। इसी के सहारे वह ऊँचा उठता है। दूसरे जीवों की अपेक्षा मनुष्य अधिक विकसित है क्योंकि उसमें ज्ञान, शक्ति और भाव की मात्रा विशेष है। इसी लिए वह संसार का शासक और श्रेष्ठतम पदार्थ है। पाश्चात्यों के मतानुसार इस विकास के साधक दो प्राकृतिक नियम हैं जिन्हें **अस्तित्व के लिए संघर्ष** (Struggle for existence) और **योग्यतम की विजय** (Survival of the fittest) कहते हैं। जीवन के रण-क्षेत्र में सब आगे बढ़ना चाहते हैं। जिसमें शक्ति है—जो योग्यतम है—वही आगे बढ़ जायगा और अपना अस्तित्व क़ायम रख सकेगा तथा जगत् का शासक बन सकेगा। और जो हार जायगा वह काल के गाल में समा जायगा। इस प्रकार जीवों की अनेक योनियाँ आज तक अतीत के गर्भ में विलीन हो गईं। मनुष्यों में भी बेबीलोन, ईजिप्त, ग्रीस, रोम आदि की सभ्यता का यही हाल हुआ। इन्हीं नियमों के वशीभूत

होकर प्रत्येक जीव पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता करते हुए अपना-अपना विकास कर रहे हैं। केवल जीवों ही का नहीं, बल्कि जातियों का, राष्ट्रों का और देशों का भी विकास इसी प्रकार हो रहा है।

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें विदित होगा कि संसार में केवल विकास ही का अटल राज्य नहीं है। उसमें ह्रास का सिद्धान्त भी अपना कार्य करता जाता है। किसी भी जाति के सब जीवों का सर्वाङ्गीण विकास बहुत कम देखा जाता है। किसी समय प्रत्येक जाति केवल उन्हीं गुणों का विकास करती है जिसकी आवश्यकता उस परिस्थिति में विशेष जान पड़ती है। जब हम समृद्धिशाली और पूर्ण शक्तिमान् रहते हैं तब हम सुख-सम्पादन अथवा विलासिता का विकास करते हैं और परिणाम यह होता है कि हमारी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति की उपेक्षा होने से एक दिन उनका ह्रास हो जाता है और हम पराजित हो जाते हैं। जब तक हम अपने सब आवश्यक गुणों के विकास की ओर दृष्टि रखते हैं तब तक हमारा बराबर विकास होता है परन्तु जब हम अनेक आवश्यक गुणों की उपेक्षा करके किसी सामान्य गुण के ही विकास में दत्तचित्त हो जाते हैं तब हमारा विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। शक्तिहीन अथवा विलासी अथवा अज्ञानी मनुष्यों या मानव जातियों के अधःपतन का यही कारण है। हम शक्तियों का विकास करके ऐश्वर्यमद

में डूब जाते हैं और जब अवश्यम्भावी अध:पतन के चाबुक से चैतन्य होकर फिर शक्तियों का विकास करने लगते हैं तब फिर विजय प्राप्त कर लेते हैं। संसार के उत्थान और पतन के चक्र का रहस्य यही है। ज्ञानियों ने आज से हज़ारों वर्ष पहिले भारत के विकास और ह्रास का यही सिद्धान्त बड़ी योग्यता के साथ स्थिर किया था। सम्पूर्ण विश्व ही में इस सिद्धान्त की व्यापकता मानते हुए उन्होंने त्रिगुणात्मिका प्रकृति को इस सिद्धान्त का रूप ही दे दिया था। ह्रास की चरम सीमा है **तम** और विकास की चरम सीमा है **सत्**। तमोमयी अवस्था से इसी सात्विकी स्थिति (existence) को प्राप्त करने के लिए जो प्रवृत्तिमय संघर्ष है उसी का नाम है रजस् (Struggle)। अब यदि इस प्रवृत्तिमूलक रजोगुण के सहारे हमने **सत्** प्राप्त कर लिया तो समझना चाहिए कि हमारा विकास हुआ, यदि हमने **तम** प्राप्त किया तो समझना चाहिए कि हमारा ह्रास हुआ। अब अकसर यह देखा गया है कि हमारी प्रवृत्ति सदा सत् की ओर नहीं रहती। अनेक राष्ट्रों और देशों की भी प्रवृत्ति **तम** की ओर होते देखी गई है। तब यदि सम्पूर्ण मानव-समाज की प्रवृत्ति **तम** की ओर हो जायगी तो फिर विकास सिद्धान्त का क्या होगा? पाश्चात्य ढंग के नास्तिक तुल्य कोरे विकास-वादी इसका उत्तर न दे सकेंगे परन्तु इसके उत्तर में भारतीय आस्तिक यह कह सकते हैं कि मानव-समाज में वही पूर्णतत्व अथवा उसका अंश आविर्भूत

होकर मानवीय विचारों में क्रान्ति उत्पन्न करता है और उनकी प्रवृत्तियों का रुख़ सत् की ओर फेर देता है। गीता भी यही आशय इस प्रकार व्यक्त करती है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥*

यह विशेष अवस्था की बात है परन्तु सामान्यतः तो प्रत्येक जीव ही अपने विकास में लगा हुआ है। वह विकास के धोखे कुछ अंश में ह्रास को भले ही गले लगावे परन्तु सम्पूर्ण रूप से ह्रास को कोई नहीं अपनाना चाहता। यदि कोई विलासिता में डूबना चाहता है तो इन्द्रियों को सशक्त रखने और जीवित रहने की इच्छा भी करता है। जिस शरीर में जीव के विकास की गति बंद हो जाती है उसे वह एकदम त्यागकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। यह प्रवृत्ति जीव से अलग हो ही नहीं सकती। जिस दिन वह इस प्रवृत्ति को बलपूर्वक दूर कर देगा उसी दिन शून्य में उसका निर्वाण हो जायगा और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही मिट जायगा। जब तक जीवत्व है तब तक विकास का अस्तित्व भी निश्चित है। इसी विकास

* अर्थ—जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब मैं जन्म लेता हूँ। साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में उत्पन्न हुआ करता हूँ।

के अभाव का नाम ह्रास है इसलिए ह्रास कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं माना गया है।

अब प्रश्न यह है कि इस विकास का उद्देश्य क्या है ? हमारे विकास का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य है। उसी लक्ष्य को अस्तित्व (existence) कहा गया है। इस अस्तित्व की प्राप्ति ही के लिए विश्व में संघर्ष (Struggle) चला हुआ है। यह संघर्ष तभी तक है जब तक कि उस आदर्श अस्तित्व की प्राप्ति नहीं हुई। उसके प्राप्त होने पर संघर्ष का स्थान ही न रहेगा। उसमें स्थित होनेवाले जीव अनन्त शक्ति अथवा अनन्त कल्याण का उपभोग करेंगे। इसी लिए उस आदर्श को **सत्** या **शिव** कहा है। [आजकल के उत्क्रान्तिवाद के ग्रन्थों में संघर्ष (Struggle) का अर्थ केवल प्रवृत्ति न होकर मारकाट भी होने लगा है और संसार में जितनी लड़ाइयाँ हो रही हैं उनका इसी अर्थ से समर्थन किया गया है; परन्तु मेरी समझ में सत् (अस्तित्व) की उपलब्धि के लिए मारकाट की कोई आवश्यकता नहीं बल्कि मेरी राय में मारकाट ही से सत् की उपलब्धि हो नहीं सकती। संसार को भयानक युद्धक्षेत्र न मानकर लीलामय की मनोज्ञ लीलाभूमि मानना ही उचित है। इस पर विशेष विचार आगे के सूत्रों में किया गया है।]

हमारी सम्पूर्ण कृतियों का आदर्श तो **शिव** हुआ, इसी प्रकार हमारी सम्पूर्ण ज्ञान-राशि का आदर्श **सत्य** है। हम

गणित, भूगोल, खगोल, पदार्थविज्ञान, दर्शन, राजनीति इत्यादि शास्त्रों और विद्याओं में दिन-दिन वृद्धि करते जा रहे हैं। इस वृद्धि का उद्देश्य केवल "सत्य की खोज" है। जिस प्रकार हम अशिव की ओर अग्रसर होते ही ह्रास के गढ़े में गिर पड़ते हैं उसी प्रकार असत्य की ओर बढ़ते ही अपने नाश के समीप पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार हमारी शक्ति और हमारे ज्ञान का निश्चित उद्देश्य है उसी प्रकार हमारी भावनाओं और ललित कलाओं का भी निश्चित उद्देश्य है। हम सङ्गीत और चित्रकला में विकास करते हुए दिखाई देते हैं परन्तु वीणा की एक कोमल झङ्कार अथवा सान्ध्य जलद के सुनहले रंग के द्वारा क्या हम शक्ति या सत्य का विकास करते हैं? कदापि नहीं। इन वस्तुओं के विकास का ध्येय है सुन्दर अथवा आनन्द।

इस प्रकार हमारे विकास का ध्येय है "सत्य शिव सुन्दर" अथवा "सच्चिदानन्द"। यही हमारा पूर्णत्व भी है क्योंकि हममें जो शक्तियाँ इत्यादि अल्प रूप में हैं उन्हीं के पूर्णत्व का नाम ही सच्चिदानन्द है। यही सब सोचकर लिखा गया है कि "पूर्णत्व के लिए स्फूर्ति ही का नाम विकास है।" विकास का सर्वमान्य सिद्धान्त कोई भिन्न वस्तु नहीं। वह जीवों की पूर्णत्व के लिए स्फूर्ति ही है। पूर्णत्व के विपरीत यदि और किसी ओर जीव की स्फूर्ति या प्रवृत्ति हुई तो हम कहेंगे कि वह ह्रास की ओर अग्रसर हुआ।

मनुष्य जिस समय अपने सङ्कीर्ण व्यक्तित्व ही पर आसक्ति रखकर पूर्णत्व की उपलब्धि करना चाहता है तभी वह ह्रास के गहरे गढ़े में गिरता है और जब वह अपने सङ्कीर्ण व्यक्तित्व ही का विकास करके उसे पूर्णत्व में लीन कर देना चाहता है तभी उसका विकास होता है। ऐसे विकास के दो मार्ग माने गये हैं। एक प्रवृत्ति मार्ग और एक निवृत्ति मार्ग। जिस समय मनुष्य जगत् के सत्य, शिव और सुन्दर रूप में अपनी व्यक्तिगत सत्ता विलीन करके विश्वरूप बनना चाहता है तब वह विकास के पहिले पथ का पथिक बनता है और जिस समय जगत् की अपूर्णताओं से विरक्त होकर अपने ही जीव के भीतर स्थित रहनेवाले आत्मतत्त्व की उपलब्धि में अग्रसर होता है तब वह दूसरे पथ को अपनाता है।

जीव कहीं आसमान से अथवा शून्य से आप ही आप नहीं टपक पड़ा। वह अखण्ड चैतन्य से ही उत्पन्न हुआ है और उसी का अंश कहा जा सकता है। वह एक अपूर्णता है परन्तु उसे पूर्णत्व की अपूर्णता समझना चाहिए। वह एक विकारशील सत्ता है परन्तु एक अविकारी चैतन्य ही की विकारशील सत्ता है। इसलिए उस अपूर्ण जीव में पूर्णत्व प्राप्ति की भावना होना एकदम अनिवार्य और बिलकुल स्वाभाविक है। जीवों की इसी वासना अथवा भावना को हम वैज्ञानिक भाषा में विकास सिद्धान्त कहते हैं और संसार की जो यह उत्क्रान्ति हो रही है उसका कारण केवल यही वासना

है जिसके कारण जीव अपनी ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की चरम उन्नति करते हुए अखण्ड चैतन्य अथवा सच्चिदानन्द बन जाना चाहते हैं।

सूत्र ५

५ अहङ्कारवाले जीव के मन, बुद्धि और चित्त ही तीन रूप हैं—

जीव की परिभाषा ही में प्रकट हो चुका है कि जिस जीव में व्यक्तित्व नहीं वह जीव ही नहीं कहा जा सकता। जीव के इसी व्यक्तित्व का नाम अहङ्कार है। यह "मैं-पन"—अपनापन—अथवा "अहङ्कार" सदैव विद्यमान रहता है और इसी के नाश के साथ जीव के जीवत्व का विनाश या निर्वाण भी अवश्यम्भावी है। जब हम सुषुप्ति अवस्था के बाद उठते हैं तब कहते हैं कि "मैं सुख से सोया"। इस सुख का अनुभव करनेवाला तथा सुषुप्ति के पहले की जाग्रत् ज्ञान-राशि को सुषुप्ति के बाद की जाग्रत् अवस्था से मेल करानेवाला केवल मेरा व्यक्तित्व—मेरा अहङ्कार—मैं—था। चाहे हमें अपने इस अहङ्कार का बोध हो चाहे न हो पर यह रहता अवश्य है।

इस अहङ्कार के कारण ही संसार में हमें द्वैत का ज्ञान होता है। इसी के कारण हम अपने आपको संसार के सब बाह्य पदार्थों से भिन्न मानते हैं। इसे ही अहम् कहा गया है और इससे भिन्न सम्पूर्ण विश्व को अनहम् कहा गया

है। हमारी स्वतन्त्र सत्ता "अहम्" है और उससे भि सम्पूर्ण बाह्य जगत् "अनहम्" है। संसार में प्रत्येक जीव को अपने व्यक्तित्व के ज्ञान के साथ ही इसी अहम् और अनहम् के द्वैत का ज्ञान हुआ करता है। प्रत्येक जीव का अहम् अलग-अलग है। और प्रत्येक जीव के लिए अनहम् भी अलग-अलग है। परन्तु प्रत्येक जीव के विकास में उसके अहम् और अनहम् का अन्योन्य सम्बन्ध भली भाँति देखा जा सकता है।

अहङ्कार के कारण इस दृष्यमान जगत् में जो दो और केवल दो सत्ताएँ—अहम् और अनहम्—दृष्टिगोचर होती हैं उनका अन्योन्य सम्बन्ध भी तीन और केवल तीन ही प्रकार का हो सकता है। या तो अहम् का प्रभाव अनहम् पर होगा या अनहम् का प्रभाव अहम् पर होगा या दोनों का प्रभाव दोनों पर समान होकर केवल भावना की (हृदय की अवस्था की) ओर लक्ष्य होगा। चौथा कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। जब अहम् का प्रभाव अनहम् पर होता है तब हमारे प्रयत्न से बाह्य पदार्थ में विकार होता है अर्थात् हमारी शक्ति बाहर प्रकट होती है। इसे हम **कार्य्यकारिणी वृत्ति** कह सकते हैं। जब अनहम् का प्रभाव अहम् पर पड़ता है तब बाह्य पदार्थों का हमें ज्ञान होता है। इसे **ज्ञानार्जनी वृत्ति** कह सकते हैं। जब दोनों का प्रभाव समान रहता है तब हमारा लक्ष्य अपने हृदय की अवस्था ही पर विशेष रहता है। उसे

हम **भावनात्मिका वृत्ति** कह सकते हैं। समय-समय पर जीव की इस प्रकार की तीन वृत्तियाँ हुआ करती हैं। और इन्हीं तीन वृत्तियों के कारण चैतन्य में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व का आविर्भाव होता है। जब जीव बाह्य पदार्थों को हृदयङ्गम करना चाहता है तब हम कहते हैं कि वह ज्ञानार्जनी वृत्ति में है। जब वह बाह्य पदार्थों में अपनी ओर से कोई परिणाम उत्पन्न करना चाहता है तब हम कहते हैं कि वह कार्यकारिणी वृत्ति में है। जब वह किसी पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाले भावों, सुख-दुःख, राग-द्वेष, घृणा-प्रेम इत्यादि की ओर लक्ष्य करता है तब हम कहते हैं कि वह भावनात्मिका वृत्ति में है। इन तीन वृत्तियों के सिवा जीव की चौथी वृत्ति नहीं हो सकती। इन्हीं वृत्तियों में क्रमशः जीव के ज्ञानार्जनी वृत्तिवाले रूप को **बुद्धि** (Knowing), कार्यकारिणी वृत्तिवाले रूप को **मन** (Willing) और भावनात्मिका वृत्तिवाले रूप को **चित्त** (Feeling) कहा गया है।

यदि हम किसी भी जीव की स्थिति-गति का भली भाँति निरीक्षण करेंगे तो उसमें केवल इन्हीं तीन वृत्तियों का अस्तित्व दिखाई देगा। बच्चा अपने बाल्यकाल से ही चाहता है कि मैं यह भी जान लूँ, वह भी जान लूँ, 'यह क्या है', 'वह क्या है' आदि। यह जिज्ञासा जीवनपर्यन्त साथ रहती है और मरते तक नहीं छूटती। इसी प्रकार वह प्रारम्भ से ही हाथ-पैर हिलाकर चाहता है कि इसे उठा लूँ, उसे खींच लूँ, उसे हटा

दूँ इत्यादि। और यह चिकीर्षा (कुछ न कुछ करते रहने की इच्छा) भी जीवनपर्यन्त रहती है। इसी प्रकार वह शैशव से ही सुख-शान्ति इत्यादि की कामना करने लगता है और यह भावनेच्छा उसके अन्त पर्यन्त साथ रहती है। यह जिज्ञासा बुद्धि का कार्य है, चिकीर्षा मन का कार्य है, और भावनेच्छा चित्त का कार्य है। बुद्धि ही के चरम विकास का नाम चित् है, मन ही के चरम विकास का नाम सत् है और चित्त ही के चरम विकास का नाम आनन्द है। प्रत्येक जीव इन्हीं तीनों रूपों से अपना विकास किया करता है। उसके विकास के लिए चौथा कोई रूप नहीं।

मन, बुद्धि और चित्त—यद्यपि तीन भिन्न-भिन्न रूप माने गये हैं परन्तु वे वास्तव में एक दूसरे से भिन्न नहीं। असल में तो एक के बिना दूसरे की स्थिति ही नहीं हो सकती। जिस प्रकार काग़ज़ से उसकी सफ़ेदी और उसके दोनों पृष्ठ अलग नहीं किये जा सकते तथा वह सफेदी और वे पृष्ठ भी एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते उसी तरह बुद्धि, मन और चित्त भी न तो जीव से अलग हो सकते और न एक दूसरे से अलग हो सकते हैं। किसी वस्तु का ज्ञान हमको तब तक नहीं हो सकता जब तक मस्तिष्क आदि में उस ज्ञान की क्रिया न हो जाय और फिर ज्ञान होकर चित्त में उसकी भावना होनी भी ज़रूरी है। इसी प्रकार हमारे प्रत्येक कार्य में चेतना और भावना का अंश मिला रहता है। हम सहूलियत और स्पष्ट

विचार के लिए मन, बुद्धि और चित्त को एक दूसरे से पृथक् मान लेते हैं। ज्ञान, राग-द्वेष, सुख-दुख, उदासी इत्यादि सब जीव के ही फल हैं परन्तु ज्ञान में बुद्धि की विशेषता देखकर हम उसे बुद्धि का फल मान लेते हैं। इसी प्रकार राग और द्वेष को हम मन के विकार मान लेते हैं और सुख-दुख औदासीन्य को हम चित्त के भाव मान लेते हैं। प्रत्येक जीव अपने इन्हीं तीनों रूपों से विकास-मार्ग में अग्रसर होता है।

ज्ञातृत्वधर्मापन्न जीव को हम बुद्धि कहते हैं, कर्तृत्वधर्मापन्न जीव को हम मन कह सकते हैं और भोक्तृत्वधर्मापन्न जीव को हम चित्त कह सकते हैं। चैतन्य के तीन धर्मों के अनुसार ये तीनों उसी एक जीव के तीन रूप हैं। सच्चिदानन्द की उपलब्धि के लिए ही जीव के ये तीन रूप होते हैं। क्योंकि अहम् और अनहम् के सम्बन्ध ही पर तो विकास की नींव पड़ी है। अब इन तीनों का वास्तविक विकास तभी समझा जायगा जब ये तीनों रूप अहङ्कार की विशदता के साथ या तो सत्य शिव सुन्दर में लीन हो जायँ या फिर अन्तर्मुखी होकर आत्मा के सच्चिदानन्दत्व में लीन होकर अपना अस्तित्व ही मिटा दें।

शरीर प्रकरण

सूत्र ६

६ जीव की अभिव्यक्ति के लिए शरीर ही साधन है—

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि शरीरों ही के कारण जीवों का निर्माण हुआ है। और वे जीव भी, जो शरीर ही के साथ नाश नहीं होते, अपनी अभिव्यक्ति के लिए शरीर ही की अपेक्षा किया करते हैं। यदि शरीर का साधन न रहा तो फिर ये बाह्य जगत् के साथ सम्यक् सम्पर्क न रख सकेंगे और स्वयं अपना विकास भी भली भांति न कर सकेंगे। यद्यपि यह कहा जाता है कि जीव के अनेक शरीर हुआ करते हैं जिनमें इन्द्रियों के द्वारा अनुभवगम्य यह स्थूल शरीर एक है; परन्तु उन सब शरीरों से अधिक महत्त्ववान् तथा प्रत्यक्ष यही स्थूल शरीर जान पड़ता है और इसी शरीर के द्वारा प्राप्त किये हुए संस्कारों के अनुसार दूसरे शरीरों में परिवर्तन हुआ करता है इसी लिए इस ग्रन्थ में केवल इसी शरीर पर विचार किया गया है। दूसरे शरीरों के विषय में हम लोगों को निश्चित रूप से कुछ अधिक ज्ञात भी तो नहीं है।

महात्माओं ने दुःखसागर से पार होने के लिए इसी शरीर को नौका माना है, और यह उपदेश दिया है कि इस नाव

को सुदृढ़ रखना चाहिए जिसमें यह टूटने-फूटने न पावे और जीव इसके सहारे आसानी से पार हो सके। यथार्थ में इस स्थूल शरीर का ऐसा ही महत्व है। यद्यपि जीव की शक्तियाँ स्वतन्त्र हैं परन्तु शरीर के सम्पर्क से उन शक्तियों का विकास भी शरीर की योग्यता और संस्कारों के अनुसार होगा। प्रत्येक योनि के शरीर भिन्न-भिन्न आकार और भिन्न-भिन्न संस्कार के हुआ करते हैं। उनमें पड़कर जीवात्मा भी उन संस्कारों में बद्ध हो जाता है और विरला ही कोई ऐसा जीव होगा जो उन संस्कारों और सीमाओं से ऊपर उठ सकता हो। शूकर योनि के जीवों में मयूर योनि के जीवों की भावनाएँ और शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। खरगोश हिरन के मांस की इच्छा ही नहीं कर सकता और न सिंह कभी घास खा सकता है। कुत्ते को ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ाना उतना ही कठिन है जितना गर्दभ को बुलबुल की बोली सिखाना। भिन्न-भिन्न योनियों के अनुसार उनकी प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। इतना ही क्यों; यदि शरीर में किसी अङ्ग की त्रुटि हुई तो जीव का उस अङ्ग में विकास होना भी दुर्लभ हो जाता है। यदि किसी मनुष्य का हृदय दुर्वल हुआ तो उसकी मानसिक शक्ति प्रबल नहीं रह सकती। यदि किसी का मस्तिष्क अशक्त हुआ तो उसकी बुद्धि में न्यूनता अवश्य होगी। यदि किसी की आँखें ठीक नहीं हैं तो उसे रूप का पूर्ण ज्ञान हो ही नहीं सकता। यदि कोई कान से बहरा है तो वह

सङ्गीत का आनन्द क्या जानेगा। यदि शरीर के सब अङ्ग सुदृढ़ और सशक्त हैं तो समझिए कि जीव के विकास के लिए सब साधन खुले हुए हैं। जो सन्तान जितनी ही शक्ति-सम्पन्न हो उसमें उतनी ही महान् आत्मा का प्रवेश समझना चाहिए। जो मनुष्य आहार-विहार आदि के कुतर्क में शरीर की शक्तियाँ नष्ट कर देते हैं वे अपने जीव के विकास पर कुठार चलाते हैं।

शरीर और जीव के अन्योन्य सम्बन्ध पर पाश्चात्य वैज्ञानिक नित्य प्रति अधिकाधिक अनुसन्धान कर रहे हैं। भारतीय योगियों ने भी इसका अनुसन्धान किया है और उनका घनिष्ठ सम्बन्ध देखकर इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि हमारा यह शरीर अवश्यमेव कल्प-वृक्ष है और इसी को पूर्ण समृद्ध करके इसी के द्वारा जीव मनमाना विकास कर सकता है। उन्होंने केवल इतना ही विचार नहीं किया है वरन् वे साधन भी ढूँढ़ लिये हैं जिनके सहारे हम इस शरीर को शुद्ध, स्वस्थ और पूर्ण शक्ति-शाली बनाकर इससे अनेक सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं। कफ और मल इत्यादि छाँटने के लिए उन्होंने नेती, धौती और वस्ति सरीखी क्रियाओं का प्रचार किया है। आँतों और जठराग्नि की शुद्धि के लिए नवली सरीखी क्रियाएँ रक्खी हैं। मन की एकाग्रता और विचार-शुद्धि के लिए त्राटक सरीखी क्रियाएँ हैं तथा वायु की शुद्धि और जीवनी शक्ति की वृद्धि इत्यादि के लिए भस्त्रिका

और दूसरे प्राणायामों का विधान रचा है। अङ्ग-प्रत्यङ्गों में रक्त-द्वारा वायु (प्राण) ही पहुँचकर पोषण करती है। उसी शुद्ध वायु को जहाँ चाहे वहाँ पहुँचाने की शक्ति प्राप्त करके योगी लोग इसी शरीर से मनमाने फल दुह सकते हैं। अब भी ऐसे योगियों के दर्शन दुर्लभ नहीं। हाँ, प्रयत्न अवश्य चाहिए। मोती समुद्र के ऊपर उतराते नहीं फिरते और हीरे खदानों के ऊपर धूल में नहीं पड़े रहते।

जब हम यह देखते हैं कि जिस जीव की अधिक से अधिक शक्तियाँ अधिक से अधिक समय तक प्रबुद्ध रहेंगी वही जीव अधिक से अधिक उन्नति कर सकेगा, तब हमें स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन का प्रबल महत्व मानना ही पड़ता है। यह स्वास्थ्य अथवा दीर्घ जीवन चाहे हमें योग की क्रियाओं से प्राप्त हो, चाहे साधारण व्यावहारिक नियमों से, परन्तु इसे प्राप्त करना हमारा प्रथम उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि इसी पर हमारा विकास निर्भर है। यह तभी प्राप्त होगा जब हमारे विचार शुद्ध रहा करेंगे, हम आहार-विहार में संयम किया करेंगे तथा अपने शरीर के पञ्च महाभूतों की शुद्धि में सदा ध्यान रखा करेंगे। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे और अपने शरीर को गन्दगी का घर बनाये रक्खेंगे तो हमारा जीव प्रसन्न, विशद और उन्नत बहुत कम हो सकेगा। हम अपने घर को तो साफ़-सुथरा रखना चाहते हैं परन्तु आश्चर्य है कि हम अपने शरीर को, जो पवित्र जीवात्मा का पवित्रतम

घर होना चाहिए, गन्दगी से भरा रखते हैं। बाहर से यदि हमने नहा-धोकर उसका मैल छुड़ा लिया तो वह कोई सफ़ाई नहीं है। वास्तविक सफ़ाई तो भीतर की है। हमारा हृदय शुद्ध हो, रक्त-संचार ठीक हो, जठराग्नि ठीक हो, मस्तिष्क और विचार-शक्ति ठीक हो तभी समझना चाहिए कि हम स्वस्थ हैं। अन्यथा वेनोलिया या पीयर सोप की रगड़ से हम स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन नहीं प्राप्त कर सकते। जिस प्रकार शरीर के स्वास्थ्य पर हमारे जीव का विकास निर्भर है उसी प्रकार हमारे जीव के विचारों पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है। यदि हम गन्दे विचार रक्खेंगे तो हमारा स्वास्थ्य अवश्य ही गन्दा होगा। यदि हम सोचते रहेंगे कि हम बीमार हैं तो हम यथार्थ ही बीमार पड़ जायँगे। यदि बीमारी में भी हम सोचेंगे कि हम अच्छे हो रहे हैं तो यथार्थ ही हम अच्छे होने लगेंगे। इस दृष्टि से स्वास्थ्य का मूल मन्त्र है सद्विचार। यह सब विषय आगे सूत्रों में भली भाँति वर्णित होगा इसलिए इस पर अभी विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं।

कई योगी लोग तो केवल दीर्घ जीवन और सामान्य स्वास्थ्य से ही सन्तुष्ट न होकर इस शरीर को एकदम अमर बना डालने और इसके द्वारा पञ्चतत्वों पर भी प्रभुत्व प्राप्त कर लेने की चेष्टा किया करते हैं। वे जल में स्थिर रहना चाहते हैं, अग्नि में चलना चाहते हैं, हवा में उड़ना चाहते हैं, सहस्रों वर्ष तक एक ही शरीर बनाये रखना चाहते हैं।

और फिर इसी शरीर का कायाकल्प करके फिर इसी प्रकार जीवित रहना चाहते हैं। इस शरीर ही में अखण्ड शक्ति संचय करके भगवान् भैरव बन जाना ही उनके विचार में परम सिद्धि और प्रत्यक्ष मोक्ष है। आजकल के वैज्ञानिकों में भी अनेक लोग क्षुद्र अंश में ऐसे ही विषयों की उधेड़-बुन में लगे रहते हैं। भारतीय तान्त्रिकों में से अनेक तो इस पथ पर बहुत दूर तक अग्रसर भी हो चुके हैं। इन सब सिद्धान्तों और क्रियाओं से शरीर की महत्ता और भी स्पष्ट रूप से विदित होती है।

यह पहिले ही कहा गया है कि विकास के सिद्धान्त के अनुसार जड़ जगत् में क्रमशः शरीरों और योनियों का निर्माण होता है। नैसर्गिकी प्रेरणा ही से परमाणुओं का संयोग-वियोग हुआ करता है और उन्हीं के संयोग-वियोग से पदार्थों की सृष्टि हुआ करती है। जब इसी प्रेरणा के कारण परमाणुओं का संयोग एक ऐसे विशिष्ट प्रकार से हो जाता है कि जिसमें सौर शक्ति का समावेश विशेष रूप से हो सके तभी वह विशिष्ट पदार्थ सचेतन हो उठता है और फिर उस चैतन्य के आविर्भाव के कारण उस पदार्थ (शरीर) के सम्पूर्ण परमाणु तक एकदम चैतन्य से जान पड़ने लगते हैं और फिर तो मैथुनी सृष्टि इत्यादि के प्राकृतिक नियमों के अनुसार ऐसे शरीरों के चैतन्य रजकण और रेतःकण का संयोग होकर वैसे ही एक नये शरीर का निर्माण हो जाता है। मनुष्य के एक

तो शरीरों का (अथवा पदार्थों का) जीवन चैतन्य के कारण है न कि जीव के कारण। चैतन्य (आत्मा) एक व्यापक शब्द है और जीव एक संकीर्ण शब्द है। पहिले आत्मा के प्रभाव से शरीर जीवित होता है (अर्थात् सचेतन होता है) तब फिर उस जीवित शरीर के व्यक्तित्व की भावना के कारण उसके जीव का निर्माण होता है। यह मानना ठीक नहीं कि प्रत्येक जीवित पदार्थ में शरीर से भिन्न और शरीर से अधिक काल तक जीवित रहनेवाले एक जीव का होना अनिवार्य ही है। इसी दृष्टि से हम वीर्य-कीटों, वृक्ष की शाखाओं अथवा केंचुए के अङ्गों को जीवित मानते हुए तथा उनसे हम वैसे ही शरीरों की उत्पत्ति बतलाते हुए भी यह नहीं मान सकते कि उनमें से प्रत्येक में अलग-अलग जीव था। हाँ, फिर अलग-अलग शरीर पाकर अलग-अलग जीव का निर्माण हो जाय, यह दूसरी बात है। कहा जाता है कि प्रत्येक रोग के अलग-अलग कीटाणु हुआ करते हैं। वायुमण्डल में और भी अनेक प्रकार के कीटाणु पाये जाते हैं। वे भी जीवित ही रहते हैं। तब फिर संसार में ऐसे क्षुद्र कीटों से लेकर विशाल शरीरों तक दृष्टि फिराने में जान पड़ेगा कि जीवित प्राणियों की संख्या असंख्य ही सी है। और उनकी योनियाँ (Species) भी असंख्य ही सी हैं। तब क्या प्रत्येक योनि के प्रत्येक व्यक्ति में अलग अलग जीव होगा? विज्ञान अभी इसका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता। अभी तो एक मनुष्य योनि के जीवों का ही भली

भाँति अनुसन्धान नहीं हो सका और अब तक ऐसे अनेक वैज्ञानिक हैं जो मानवी जीवों की भी सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं। भारतीय आचार्यों ने जीवों की चौरासी लाख योनियाँ मानी हैं। शेष सब योनियाँ चैतन्य के प्रभाव से जीवित भले ही हों परन्तु उनमें विभिन्न सत्तावाले जीव का अस्तित्व नहीं है। ईश्वर ही जाने कि यह चौरासी लाख की संख्या "सहस्रशीर्षा पुरुष:" इत्यादि के समान कोई निश्चित संख्या न बतलाकर केवल अनेकता का भाव व्यक्त करती है अथवा महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से उन सब योनियों की गिनती ही कर ली थी।

प्राकृतिक नियमों ही के अनुसार शरीरों का निर्माण होता है और उन्हीं नियमों के अनुसार वे (आत्मा के आविर्भाव के योग्य स्थल बनकर) जीवित होते हैं और उन्हीं नियमों के अनुसार उन जीवित शरीरों में जीव का निर्माण होता है। तब क्या उन्हीं नियमों को जानकर हम उन्हीं के द्वारा किसी जीवित पदार्थ का निर्माण नहीं कर सकते हैं? आधुनिक विज्ञान तो इसी के पीछे पागल है। धुरंधर वैज्ञानिकों की तो यही धारणा है कि वे किसी न किसी दिन जीवित प्राणियों की सृष्टि करने में सक्षम हो जावेंगे। शरीर के जीवाणु में कौन-कौन से रासायनिक तत्व हैं, इसका उन्होंने विवेचन कर लिया है परन्तु उन तत्वों के संयोग से वह चैतन्यता कैसे आ जाती है, यह अभी उनकी समझ में नहीं आया है। एक जीवित शरीर को अथवा उसके अंग को सामान्य मृत्यु के बाद भी

जीवित बनाये रखने में तो वे सक्षम भी हो चुके हैं। एक सज्जन ने मुर्ग़ी का ताज़ा ख़ून पिला-पिलाकर एक मानवी शरीर के हृदय (heart) को बोतल में बन्द कर कई महीनों तक जीवित रक्खा था। एक दूसरे डाक्टर ने एक धनी व्यक्ति के शरीर को उसकी मृत्यु के दो-तीन घण्टे बाद तक जीवित रक्खा था। कई डाक्टरों ने तो आजकल ग्लैण्ड के आपरेशन से शरीर का काया-कल्प (rejuvination) तक करना आरम्भ कर दिया है। अनेकों ने वीर्य और रज के कणों का कृत्रिम संयोग कराके गर्भ धारण कराना भी शक्य कर दिया है। परन्तु रासायनिक प्रयोग और और किसी प्रक्रिया से पञ्चमहाभूतों का अथवा ऐसे ही तत्वों का संयोग कराकर किसी भी योनि का कोई शरीर निर्माण कर देना तथा उसमें चैतन्य का आविर्भाव कराकर उसे सजीव बना देना अभी आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए मनोमोदक ही है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में महर्षि नारायण ने अनेक अप्सराओं का निर्माण कर दिया था। दुर्वासा ने कृत्या राक्षसी का निर्माण किया था तथा विश्वामित्रजी ने तो नई-नई योनियाँ बनाना ही प्रारम्भ कर दिया था (कुत्ता, नारियल आदि उन्हीं की सृष्टि के अंग कहे जाते हैं)। इन कहानियों में ऐतिहासिक सत्य चाहे जो कुछ हो परन्तु वैज्ञानिक सत्य तो अवश्य भरपूर है। क्योंकि ये बातें वैज्ञानिक दृष्टि से वैसी असम्भव नहीं जैसी कि हममें से अधिकांश इस समय मान रहे हैं।

पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर चाहे अभी हम ऐसी बातों को भले ही असम्भव कह दें परन्तु जब वे ही पश्चिमी विद्वान् इन्हीं बातों को प्रत्यक्ष कर दिखाने लगेंगे तब हमें अपनी आर्ष कृतियों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा। यदि हम चाहें तो अपने इसी भारत में हमें आज भी ऐसे महात्मा मिल सकते हैं जो इस सृष्टि-विज्ञान के रहस्य को प्रत्यक्ष स्पष्ट करके दिखा सकते हैं। इस ग्रन्थ के पाठकों में से अनेकों ने आजकल के स्वामी विशुद्धानन्दजी और उनके "सूर्य-विज्ञान" का हाल पढ़ा होगा (सन् २६ की जनवरी की 'सरस्वती' में उनका हाल निकल चुका है)। उक्त स्वामीजी केवल सूर्यरश्मियों की प्रक्रिया से चूहे और इसी कोटि के प्राणियों का निर्माण कर देते हैं, निर्जीव पदार्थों (कपूर, कोलतार आदि) को बना देना तथा क्षुद्र कोटि के मृत शरीरों (चिड़ियों, मक्खियों आदि) को जीवित कर देना तो उनके बायें हाथ का खेल है। ऐसी सृष्टि एकदम भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। मानसी सृष्टि अथवा मैथुनी सृष्टि से यह भिन्न है। सूर्य ही तो प्राणों का विधाता और जीवित प्राणियों का जीवनदाता है। इसलिए उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला यह सृष्टि-विज्ञान कितना अमूल्य और महत्वपूर्ण होगा। खेद है कि हम भारतीयों में ऐसे विषयों को भुलाने ही की प्रवृत्ति हो रही है।

इस विवेचन से यह तो विदित ही हो गया होगा कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार आत्मा के आविर्भाव के कारण

ही सब योनियों के शरीर जीवित रहते हैं और शरीरों में इस धारणा शक्ति के नष्ट हो जाने ही से उनका मरण हो जाता है। परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि इस नैसर्गिक व्यापार में एक शरीर के जीव का दूसरे शरीर के साथ संयोग कब और क्यों होता है। इसका उत्तर देना वैज्ञानिकों के लिए सामान्य बात नहीं है क्योंकि वे लोग तो जीवित शरीर और सजीव शरीर को समानार्थक ही समझते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह विषय निश्चित रूप से नहीं जाना जाता क्योंकि गर्भावस्था में जीव कब आया, इस विषय के जानने के कोई निश्चित साधन नहीं हैं। अनुमान भी इस प्रश्न का उत्तर भली भाँति नहीं दे सकता। तब फिर स्वाभाविक ही हमें शब्द प्रमाण (Judgement of experts) की ओर जाना पड़ता है। जो आप्त (perfect experts) हैं अर्थात् जिन्होंने किसी विषय का निःसंशय प्रतिपादन कर लिया है उन्हीं की कृतियों को हम शब्द प्रमाण मानते हैं। शेष वाणियों, कथनों अथवा उक्तियों को हम शब्द प्रमाण नहीं मान सकते। जिन महर्षियों ने उपनिषदों इत्यादि की रचना की है वे अधिकांशतः पूर्ण अनुभव प्राप्त करने पर ही कुछ लिखते रहे हैं। अब, जीव के आवागमन का प्रश्न जीवन के आविर्भाव और तिरोभाव के प्रश्न के समान एकदम प्राकृतिक और भौतिक नियमों पर निर्भर नहीं है, इसलिए इस प्रश्न के उत्तर में हमें आर्ष ग्रन्थों के पन्ने उलटना ही अधिक उपयुक्त है। गर्भोपनिषद् में लिखा है—

"शुक्रशोणितसम्बन्धादावर्तते गर्भः ।

× × ×

सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति ॥"

अर्थात् गर्भ के सातवें महीने में जीव का संयोग गर्भ के साथ होता है (स्मरण रहे कि यह मानवी योनि के लिए ही कहा गया है)। यह गर्भ तो अपनी आदिम अवस्था ही से जीवित था और इसी लिए वह विकसित होता जा रहा था परन्तु सातवें महीने में उसका जीव के साथ संयोग होता है इसलिए वह **जीवित** चाहे आदि ही से हो परन्तु **सजीव** होगा सातवें महीने के बाद। प्रमाण और अनुमान भी इसी कथन के सहायक जान पड़ते हैं क्योंकि सातवें महीने ही से गर्भ में हलचल प्रारम्भ होती है और उसी महीने में जीव के निवास-स्थान मस्तिष्क का सम्यक् निर्माण होता है। इसलिए विपरीत प्रमाण के अभाव में हमें यही मानना चाहिए। कहीं-कहीं पर —

"कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।

स्त्रियाः प्रविष्ट उदरम् पुंसो रेतःकणाश्रयः ।"*

सरीखे प्रमाणों द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि पुरुष के रेतःकण का आश्रय लेकर ही जीव स्त्री के गर्भ में प्रवेश करता है और इस प्रकार गर्भ की सृष्टि से ही उसका

---

* भावार्थ—अपने कर्मों के अनुसार देह-प्राप्ति के लिए जीव पुरुष के रेतःकण का आश्रय लेकर स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट होता है।

अस्तित्व रहता है। परन्तु भारतीय आचार्यों में इस मत के माननेवाले बहुत ही कम हैं।

अब दूसरा प्रश्न है कि जीव का संयोग शरीर के साथ क्यों होता है? इसका निश्चित उत्तर तो यह है कि जीव की अभिव्यक्ति के लिए शरीर ही साधन है और उसके बिना जीव इस संसार में अपना विकास नहीं कर सकता। इस प्रकार जीवों के कर्म के लिए शरीरसंयोग अनिवार्य है। परन्तु केवल कर्म ही के लिए नहीं वरन् कर्मफल भोग के लिए भी शरीर आवश्यक है। इसलिए उसके संस्कारों के अनुसार ही, अदृष्ट की प्रेरणा से, उसे अनेक प्रकार की परिस्थितियों में अनेक प्रकार के शरीर मिला करते हैं। यह विषय कर्म के जगद्व्यापी नियम से सम्बन्ध रखता है और इसलिए इसका विवेचन आगे होगा।

अब तीसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि एक स्थूल शरीर छोड़ने के बाद क्या जीव एकदम दूसरा शरीर धारण कर लेता है अथवा उसे कुछ काल किसी दूसरी अवस्था में ठहरना पड़ता है? इसका भी उत्तर भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट दे दिया है। उनके मतानुसार प्रत्येक जीव को एक शरीर त्यागकर दूसरा शरीर ग्रहण करने के पहिले, उसके कर्मानुसार, कुछ या अधिक काल तक **प्रेत योनि** में रहना पड़ता है और इस योनि में भी वह अपने कर्मों के सुखात्मक अथवा दुःखात्मक फलभोग करता है। इसी फलभोग की अवस्था का नाम स्वर्ग

और नरक है। आजकल के अध्यात्मवादी वैज्ञानिक इस रहस्य-मयी प्रेतयोनि और प्रेतलोकों के तत्वों को धीरे-धीरे स्पष्ट करते जा रहे हैं। वे वर्णन बड़े रोचक होने पर भी अभी स्थिरता नहीं प्राप्त कर सके हैं। इसलिए उन विषयों (परलोक के विषयों) का विस्तृत निदर्शन करना इस समय उचित नहीं। परन्तु इतना तो अवश्य है कि ऐसे वैज्ञानिकों का यह प्रयत्न भी भारतीय आचार्यों के प्रेतयोनिवाले सिद्धान्त का पोषण ही करता है।

शरीर पर जीवात्मा की विशेष निर्भरता देखकर तथा ज्ञान और क्रिया के सब विकारों के चिह्न मस्तिष्क में होते हुए देखकर कई विद्वानों ने जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार ही नहीं की और उन्होंने शरीर ही को सब कुछ समझा है तथा हमारे ज्ञान और कर्म की प्रत्येक प्रक्रिया को शरीर-शास्त्र से ही समझाने की चेष्टा की है। इसके खण्डन में अनेक बातें कही जा सकती हैं। यहाँ केवल कुछ का दिग्दर्शन किया जायगा।

१ **चेतना**—हमारी पाँच इन्द्रियों के ज्ञान (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के आधारभूत पाँच ही बाह्य पदार्थों (नभ, पवन, पावक, जल और क्षिति) का हमें अनुभव होता है। इन्हें ही हम पञ्च तत्व कहते हैं। यह शरीर केवल इन्हीं पञ्च तत्वों से बना है और नाश होने पर इन्हीं में मिल जाता है। अब ये पाँचों तत्व हम जगत् में एकदम अचेतन पाते हैं इसलिए इनके संयोग से जो शरीर बनता है उसमें आप ही आप चेतनता प्रकट नहीं हो सकती। वह अवश्यमेव कोई

बाहरी वस्तु है जो शरीर के साथ संयुक्त होकर हमें दिखाई देती है। यदि कहा जाय कि पञ्चतत्वों के रासायनिक संयोग से चेतना आ जाती है, जैसे हल्दी और चूने के संयोग से लाल रङ्ग का रोचना बन जाता है, तो इसका उत्तर यही होगा कि रासायनिक प्रक्रिया से वही वस्तु प्रकट होगी जो अप्रकट अथवा अंश रूप से पहिले ही विद्यमान थी (उदाहरणार्थ लाल रङ्ग इसी लिए प्रकट हुआ क्योंकि वह सफ़ेद रङ्ग में—जो कि सात रङ्गों का मिश्रण है—पहिले ही से विद्यमान था)। हम देखते हैं कि पञ्चतत्वों में चेतना का कोई अंश किसी भी रूप में विद्यमान नहीं है तो फिर केवल उन्हीं के संयोग से चेतना कभी प्रकट नहीं हो सकती। इन कारणों से मानना ही होगा कि चेतना शरीर की वस्तु नहीं। वह शरीर से भिन्न कोई दूसरी ही वस्तु है।

२ **सुव्यवस्थित जीवन**—यदि यह कहा जाय कि हमारा सम्पूर्ण शरीर चैतन्य परमाणुओं अथवा जीवाणुओं (conscious atoms) से बना हुआ है [और प्राणिशास्त्र-विद्या (Biology) ऐसा सिद्ध भी करती है] इसी लिए हमारे शरीर में चैतन्यता है, और इस दृष्टि से हमारा सम्पूर्ण शरीर ही जीवमय है; उसमें शरीर से भिन्न किसी एक जीव की कल्पना करना एकदम निरर्थक है; तो ऐसी शङ्का करनेवालों को शरीर के सुव्यवस्थित जीवन की ओर दृष्टिपात करना चाहिए। यदि शरीर के वे असंख्य जीवाणु एकदम

स्वतन्त्र होते तो हमारा शरीर कितना अव्यवस्थित हो जाता। यदि वे कहते कि वे पैर की वृद्धि न करेंगे और हाथ के जीवाणुओं से मिलकर हाथ की वृद्धि करेंगे तो पैर को ठूँठा रखकर हाथ को दस हाथ बढ़ा देने में उन्हें कौन रोक सकता था? यदि सभी जीवाणु एक बराबर और सब स्वतन्त्र हैं तो फिर सिर ही के जीवाणु विचार करें, आँख ही के जीवाणु देखने की क्रिया करें, इसका क्या अर्थ! इन सब बातों से जान पड़ता है कि इन सब जीवाणुओं का शासक कोई प्रबलतम एक जीवाणु या ऐसी ही कोई शक्ति इस शरीर के भीतर अवश्य है जिसके वशवर्ती होकर सब कोई अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर के उसी एक जीवाणु अथवा शक्ति को हम उसका जीव कह सकते हैं। शरीर-शास्त्र से भी हमें विदित होता है कि सब इन्द्रियाँ अपनी ज्ञान-राशि को मस्तिष्क के भीतर एक ही नियत स्थान तक पहुँचाती हैं और वहीं से शरीर का सब कार्य होता है। इससे भी विदित होता है कि उस स्थान-विशेष में कोई जीवाणु अथवा चैतन्य परमाणु अथवा इसी प्रकार का शक्तिकेन्द्र ऐसा है जो शरीर के सब कार्यों का नियन्त्रण करता है और जिसके कारण हमारा जीवन सुव्यवस्थित रहता है। वही हमारा जीव है। उसी में हमारे ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, हानि-लाभ इत्यादि की कथा अङ्कित रहती है। मृत्यु के बाद अक्सर वही जीवाणु अथवा चित्शक्ति केन्द्र शरीर से पृथक् हो जाती है। उसी के न रहने पर शरीर अनियंत्रित

अथवा चारों ओर से समान खींचतान में पड़कर निश्चेष्ट हो जाता है। फिर शरीर का एक व्यक्तित्व भी क़ायम नहीं रह सकता और क्रमशः पञ्चतत्व अथवा सब जीवाणु अलग-अलग हो जाते हैं। जब तक वह स्वामी शरीर से अलग न होगा तब तक शरीर का नाश ही न होगा। शरीर का नाश—अथवा मृत्यु—उस स्वामी के अलग होने ही पर निर्भर है, इसलिए शरीर के नाश के साथ उसका भी अवश्यम्भावी नाश मान लेना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं है।

३ पूर्वजन्म—जीव को हम आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते इसलिए हम जीव का एक शरीर से निकलना और दूसरे शरीर में घुसना भी नहीं देख सकते। फिर भी हम स्मृति (memory) आदि से पूर्व-जन्म का प्रमाण भली भाँति पा सकते हैं। हमें चार दिन पहिले की खाई हुई चीज़ याद नहीं रहती फिर इस जन्म के पहिले की घटनायें स्मरण रखना तो असम्भव ही सा है। फिर भी जैसे हमारे बाल्यकाल की कोई महत्वपूर्ण घटना हमारे बुढ़ापे तक बराबर स्मरण रहती है (जैसे मुझे अपने पाँच वर्ष की अवस्था तक के कार्यों का कुछ भी स्मरण नहीं है, फिर भी मुझे एक घटना-विशेष का—जिसमें मैं ख़ूब डरवाया गया था—अब तक इतनी अच्छी तरह स्मरण है मानो वह कल की ही हो) उसी प्रकार किसी-किसी व्यक्ति में उसके पूर्वजन्म की भी कोई-कोई घटना स्मरण रह जाती है। किसी पत्र

में एक बार प्रकाशित हुआ था कि एक गाँव में एक स्त्री का स्वर्गवास हुआ और उसी के बाद समीप ही के एक गाँव में एक लड़की पैदा हुई। ज्योंही वह लड़की बोलने लायक हुई त्योंही उसने अपने पूर्वजन्म की कथा कहनी प्रारम्भ की। उसने अपने लड़कों के नाम बताये, अपने घर की हालत बताई और यहाँ तक कि अपने गड़े हुए धन के भी हाल बताये। इस लड़की के माँ-बाप, घरवाले, अड़ोसी-पड़ोसी किसी को उस बुढ़िया का पता न था। लड़की के पता बताने पर खोज की गई और सब बातें सच पाई गई। यहाँ तक कि वह गड़ा धन भी मिला जिसका पता उस बुढ़िया के बेटों तक को न था। यदि पुनर्जन्म झूठा है तो यह सब हाल उस अबोध बालिका से किसने कहा? काशी के एक सुप्रसिद्ध स्वामी भी, जब पाँच वर्ष के थे तब, अपनी गीता की पुस्तक ढूँढ़ने के लिए व्यग्र हो गये थे। एक दिन वे भागे-भागे गये और किसी मन्दिर के किसी गुप्त स्थान में सुरक्षित रखी हुई गीता की पुस्तक उठा लाये। पता लगाने पर उस मन्दिर के महन्त ने कहा कि वह पुस्तक उनके गुरुदेव की बड़ी प्रिय वस्तु थी जिनका स्वर्गवास हुए ५ या ६ वर्ष हो चुके थे। सुप्रसिद्ध बंकिमचन्द्र चटर्जी की भी जीवनी में उनके पूर्वजन्म का पता लगने का उल्लेख हुआ है। ये सब आधुनिक पुरुषों के उदाहरण हैं। प्राचीन पुस्तकों में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। अब यदि कोई इन उदाहरणों को ही सत्य न माने

तो फिर बात ही दूसरी है। ऐसे शङ्कावादियों के लिए तो फिर विशेषज्ञों के निरीक्षण (Observation of experts) और ऐतिहासिक घटनाओं का भी क्या प्रमाण है ? यदि कोई कहे कि वैज्ञानिक निरीक्षणों और घटनाओं के चिह्नों की हम पुनर्वार परीक्षा कर सकते हैं परन्तु पुनर्जन्म इत्यादि की घटनाओं की परीक्षा कैसे होगी ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि हमारे योग और तन्त्रशास्त्र ने पर-काय-प्रवेश और मृतात्माओं के दर्शन की विधियाँ लिख रक्खी हैं। जिसे परीक्षा करनी हो वह इन उपायों से पूर्वजन्म और जीव की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में परीक्षा कर सकता है। जब स्मृति के उदाहरण और इन परीक्षाओं से पूर्वजन्म सिद्ध होता है तब जीव को शरीर से भिन्न मानना ही पड़ेगा; क्योंकि यदि किसी का पुनर्जन्म हो सकता है तो वह इस जीव का ही हो सकता है, शरीर का नहीं। शरीर तो मृत्यु के बाद अपना व्यक्तित्व ही खो बैठता है फिर उसका पर-जन्म कैसा!

४ **प्रेतविद्या**—मृत्यु के असीम अन्धकार के उस पार भी कुछ है या नहीं ? यह जानने के लिए सभी देशों के मनुष्य प्रयत्न करते चले आये हैं और प्राय: सभी देशों के अनेकों विद्वानों ने मृत्यु के बाद भी जीव का प्रेत रूप में अस्तित्व माना है। भारतवर्ष में तो तंत्र-मंत्र, जादू-टोने इत्यादि के अनेकों शास्त्र बन चुके हैं और सैकड़ों ग्रन्थ भरे पड़े हैं। पाश्चात्य देशों के अधिकांश आधुनिक विज्ञानवादी भी, जो इन बातों

को बिलकुल न मानते थे, अब दिन प्रति दिन मानते चले जा रहे हैं और नित्य नई-नई परीक्षाएँ करते चले जा रहे हैं। अब तो प्रेतात्मा के आह्वान की, उनके साथ सम्भाषण की और यहाँ तक कि उनके फोटो इत्यादि तक लेने की युक्तियाँ और हिकमतें निकलती चली जा रही हैं। जिन्हें इसके विषय में विशेष देखना है वे साइकिकल रिसर्च और थियासफिकल सोसाइटी इत्यादि संस्थाओं के ग्रन्थ देख सकते और इस विषय के विज्ञों से मिलकर प्रेतात्मा का आह्वान प्रत्यक्ष देख सकते हैं। उसकी क्रिया भी बिलकुल सामान्य है और हर कोई थोड़े प्रयत्न से कर सकता है। हिन्दी में भी छाया-दर्शन सरीखी अनेक पुस्तकें इस विषय पर निकल चुकी हैं और श्री वी० डी० ऋषि सरीखे लोग सर आलिवर लाज, सर आर्थर कानन डाइल, लेड बीटर सरीखे महानुभावों का अनुकरण करते हुए नये ढङ्ग से इस विषय की अधिकाधिक खोज करते जाते हैं। इस प्रकार प्रेतविद्या भी यह बताती है कि जीव शरीर से भिन्न है।

५ अवस्थान्तरत्व—हम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का अनुभव किया करते हैं तथा अन्त में प्रत्येक शरीर की मृत्यु भी हो जाती है। यदि चेतनता केवल शरीर ही का गुण अथवा विकार होती तो फिर इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अस्तित्व कैसे होता? हमारा शरीर तो सभी अवस्थाओं में वही है फिर सब अवस्थाओं में उसकी चेतनता भी बराबर रहनी चाहिए। परन्तु वह चेतनता जाग्रत् अवस्था ही में

विशेष क्यों होती है ? सोये हुए मनुष्य की आँख खोलकर हम प्रकाश दिखावें तो उसकी आँखों के ज्ञानतन्तुओं में हल-चल अवश्य होगी और वह हलचल जीव के निवासस्थान मस्तिष्क के भीतर तक पहुँच जायगी। परन्तु फिर भी उसे उस वस्तु का ज्ञान न होगा। यह क्यों ? यदि हमारे शरीर और इन्द्रियों का व्यापार प्राकृतिक नियमों से आप ही आप होता रहता है और कोई अलग सत्ता इसकी सञ्चालिका नहीं है तो फिर उस वस्तु का ज्ञान हमें क्यों न होना चाहिए। और भी, यदि चेतनता केवल हमारे शरीर का विकार है तो फिर वह सशक्त शरीर को भी छोड़कर कभी-कभी क्यों अलग हो जाती है। इस अवस्थान्तरत्व से भी जीव का शरीर से पार्थक्य सिद्ध होता है। इन्द्रियों का ज्ञान शरीर के कार-खाने से घूमता हुआ आप ही आप कहीं अङ्कित नहीं हो जाता। वह तभी अङ्कित होता है जब जीव उसे ग्रहण करना चाहता है अथवा ग्रहण कर सकने की अवस्था में रहता है।

६ **नैतिक नियम**—यदि हम मान लें कि जीव शरीर से भिन्न नहीं है तो फिर हमें बरबस "Eat, drink and be merry for tomorrow we die" अथवा "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"* के सिद्धान्त पर

---

* अर्थ—जब तक जीवे तब तक सुख से जिये (क्योंकि मरने के बाद तो जीव का कुछ अस्तित्व रह ही न जायगा) और क़र्ज़ लेकर भी घी पिये (मौज उड़ावे)।

आना पड़ेगा परन्तु संसार जिन्हें बड़ा कहता है उनमें से क्या एक भी मनुष्य के जीवन का मूल मन्त्र "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" रहा है ! इससे स्पष्ट है कि संसार ने इस सिद्धान्त को न कभी आदर्श माना है और न मानेगा। यदि कोई अधर्म करके अन्त तक सङ्कटापन्न न हुआ तो हम यही कहते हैं कि उस अधर्म का फल उसे अगले जन्म में मिलेगा। हम यह कभी नहीं मान सकते कि वह बाजी मार ले गया और उसे कभी दुःख नहीं भोगना होगा। ऐसा मान लेने में विधि-निषेध शास्त्र डावाँडोल हो उठेगा और सब लोगों की अप्रतिहत प्रवृत्ति क्षुद्र स्वार्थ-साधन में लग जाने से मानव जाति का संहार भी शीघ्र ही हो जायगा। जो किसी पदार्थ की स्थिति-गति के लिए पोषक और आवश्यक हो वही उसका नियम है, जो विरोधक है वही अपवाद है। अब यह "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" वाला सिद्धान्त मानव जाति की स्थिति-गति का पोषक न होकर उसका विरोधक है। इसलिए यह मानव जाति का नियम नहीं हो सकता। तब जब कि यह सिद्धान्त मानव जाति के लिए नियम रूप नहीं हो सकता तो फिर स्पष्ट है कि मानव जीवात्मा शरीर से कोई उत्कृष्ट वस्तु है और शरीर के साथ उसका नाश नहीं होता इसी लिए 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' से शरीर को चाहे तृप्ति या सन्तोष हो जाय परन्तु जीव को न तृप्ति होगी, न सन्तोष होगा और न इष्ट-सिद्धि होगी।

७ **अनन्तत्व भावना**—अनादि काल से प्रबुद्ध जीवों में अनन्तत्व की भावना होती चली आई है। हम अनन्त काल तक जीना चाहते हैं, अनन्त शक्ति सम्पन्न होना चाहते हैं इत्यादि। हमारी ऐसी-ऐसी महत्वाकांक्षाएँ निश्चय ही एक शरीर के अस्तित्व-काल के भीतर ही नहीं प्राप्त हो सकतीं। तो फिर जब ऐसी ऐसी महत्वाकांक्षाएँ एक जन्म में पूरी नहीं होतीं और फिर भी मनुष्य-जाति में विद्यमान रहती हैं तब कहना और मानना ही पड़ता है कि वे शरीर ही के साथ नष्ट हो जाने के लिए नहीं हैं।

ऊपर की बातों से स्पष्ट हो गया होगा कि चैतन्य तत्व इस जड़ शरीर का धर्म नहीं है बल्कि वह इससे एक भिन्न वस्तु ही है और इसी तत्व से सम्पूर्ण जीवों की सृष्टि और आविर्भाव हुआ है। चैतन्य के कारण जब शरीर में व्यक्तित्व की भावना का उदय होता है तभी जीव बनते हैं। ये जीव शरीर में रहकर भी शरीर से भिन्न होते हैं और शरीर के सञ्चालक और स्वामी बने रहते हैं।

सूत्र ७

७ ज्ञानतन्तु-जाल और क्रियातन्तु-जाल का मूल स्वरूपी मस्तिष्क ही जीव का निवासस्थान है

मानव-शरीर में ऊपरी चमड़े के भीतर मांस है और मांस के भीतर हड्डियों का ढाँचा है। हाथ-पाँव में तो यही

यही है। छाती में फेफड़े, दिल और कलेजा है। पेट में उदर, आँतें, प्लीहा इत्यादि हैं। सिर में केवल मस्तिष्क रक्खा हुआ है, जहाँ आँख, कान, नाक, जीभ इत्यादि इन्द्रियों का सम्बन्ध बँधा हुआ है। हम जो कुछ भोजन करते हैं वह मुख से उदर में पहुँचता है फिर आँतों से होकर बाहर निकल जाता है। यहाँ से वहाँ तक एक ही नली लगी हुई है। इसी नली में कलेजे इत्यादि से पित्त सरीखे रस आ-आकर भोजन पचा देते हैं। भोजन का सारभाग इस बड़ी नली से सटी हुई छोटी छोटी नलिकाओं से होकर रक्त की नाड़ियों में पहुँचता है और वहाँ से शरीर भर में फैलकर सब अङ्गों को पुष्ट करता है। इस रक्त का केन्द्र-स्थान हृदय है। यहीं से निकलकर सब ओर नस नाड़ियों का जाल बँधा हुआ है। सम्पूर्ण शरीर का रक्त नीली नसों से होकर हृदय में आता है और वहाँ शुद्ध होकर लाल नाड़ियों द्वारा फिर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। यह रक्त वायु के संयोग से शुद्ध होता है। जब हम साँस लेते हैं तब विशुद्ध वायु—प्राणप्रद वायु—हमारे फेफड़ों में जाकर हृदय के रक्त को शुद्ध करती है और जब हम साँस छोड़ते हैं तब रक्त की अशुद्धियों-सहित वह वायु बाहर आ जाती है। फिर शुद्ध रक्त शरीर के अङ्गों की पुष्टि करता हुआ बहता है और साथ ही निरन्तर विकारशील अङ्गों की अशुद्धियाँ अपने साथ लाकर हृदय में पहुँचा देता है जहाँ से वायु उन अशुद्धियों को बाहर कर देती है। शरीर के पोषक

पदार्थों की जब कमी होती है तब अन्न खाकर हम उसकी पूर्ति करते हैं। यही क्रम इस शरीर में चला करता है।

शरीर का यह सब क्रम केवल मस्तिष्क (Brain) और उसके स्नायु-तन्तुओं (Nerves) की रक्षा के लिए है। ज्ञान चेष्टा और सुख-दुख इत्यादि ही तो हमारे जीवन के सार हैं और इन सबका होना न होना हमारे स्नायु-तन्तुओं पर निर्भर है। ये सब स्नायु तन्तु हमारे शरीर के कोने-कोने तक फैले हुए हैं। यदि शरीर के किसी भी कोने में छोटी से छोटी वस्तु का स्पर्शमात्र हो जाय तो झट वहाँ के स्नायु-जाल उस स्पर्श की हलचल को मस्तिष्क तक पहुँचा देंगे। यह मस्तिष्क वीर्य के ही सदृश किसी पदार्थ विशेष से बनी हुई अण्डाकृत अखरोट की गरी के समान वस्तु है जो सिर की सुदृढ़ हड्डियों से एकदम सुरक्षित है। वहीं से सब स्नायुतन्तु निकलकर हमारी इन्द्रियों में फैले हुए हैं। मेरुदण्ड अथवा रीढ़ से हमारा सिर जुड़ा हुआ है। यह मेरुदण्ड पोला है और इसके भीतर एक ऐसी मोटी स्नायुरज्जु (Spinal cord) व्याप्त रहती है जहाँ से अनेक स्नायुतन्तु निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं। हमारा उदर और पाचननली केवल शरीर की रस-वृद्धि के लिए है। हमारा हृदय और रक्त-नलिकाएँ केवल प्राणों की वृद्धि के लिए हैं और हमारा मस्तिष्क तथा स्नायुजाल हमारे जीव की वृद्धि के लिए हैं। शरीर की वृद्धि और प्राणों की वृद्धि केवल हमारे मस्तिष्क की वृद्धि के

लिए है जिसके ऊपर हमारे जीव की वृद्धि निर्भर है। यही मस्तिष्क हमारे जीव का स्थान है।

इस शरीर में मुख्य मर्मस्थान चार माने गये हैं। वे हैं—(१) सिर, (२) कण्ठ, (३) हृदय और (४) नाभि। इन्हीं को देखकर शारीरक उपनिषद् में बुद्धि का स्थान सिर, मन का कण्ठ, अहङ्कार का हृदय और चित्त का नाभि माना गया है। जीव के ऐसे चार भेद अलग-अलग नहीं हैं और इसलिए उनके अलग-अलग स्थान मानना भी ठीक नहीं है। इन चारों में जो सबसे अधिक मर्मस्थल होगा वही जीव का निवासस्थान माना जायगा अब आजकल की अस्त्रवैद्यक में शरीर के दूसरे अंगों की तो चीर-फाड़ बराबर की जा सकती है परन्तु हृदय और मस्तिष्क के मर्म-स्थानों को काटने से जीव तुरन्त निकल जाता है। इसी से कुछ ने हृदय को और कुछ ने मस्तिष्क को जीव का निवासस्थान माना है। यों तो जीव की सत्ता सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और इस हिसाब से हृदय ही क्यों, शरीर के प्रत्येक अङ्ग को हम जीव का निवासस्थान मान सकते हैं; परन्तु यदि उस दृष्टि से विचार न करके जीव के किसी स्थान-विशेष का अनुसन्धान किया जाय तो हमें मानना होगा कि वह स्थान-विशेष हृदय नहीं हो सकता। हृदय केवल प्राणों का स्थान है (अर्थात् शुद्ध वायु को रक्त के साथ शरीर भर में फैलानेवाला है); चेतना, ज्ञान, अङ्ग-सञ्चालन इत्यादि की क्रिया का स्थान नहीं है। इसलिए उसे

जीव का मुख्य स्थान मानना ठीक नहीं है। मस्तिष्क ही वह स्थान है जहाँ इन्द्रियों के ज्ञान-तन्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के तार पहुँचाया करते हैं और क्रिया-तन्तु वहाँ के हुक्मनामे शरीर भर में फैलाया करते हैं। इसलिए स्वाभाविक ही इस शरीर के बादशाह का वही स्थान होना चाहिए। साथ ही योगी लोग जब प्राण वायु को ऊपर चढ़ा लेते हैं तब केवल मस्तिष्क ही जागृत रहता है और हृदय का स्पन्दन भी बन्द हो जाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि मस्तिष्क ही जीव का आश्रम है न कि हृदय। इस मस्तिष्क में भी एक ऐसा गड्ढा है जहाँ जीव के निवास की विशेष सम्भावना हो सकती है क्योंकि सब प्रकार के विषयज्ञान की सूचना स्नायु-तन्तुओं इत्यादि के द्वारा वहीं तक पहुँचती है। उसी गड्ढे में—गहन गुहा में—जीव निवास करता है।

यहाँ पर एक बात और कह देना अनुचित न होगा। जहाँ केवल ज्ञान अथवा विचार की बात आती है वहाँ तो केवल मस्तिष्क में हलचल होती है परन्तु जब सङ्कल्प-विकल्प अथवा अनुभूति इत्यादि की बात आती है तब उसका प्रभाव हृदय पर भी विशेष पड़ता है। इसी लिए कई लोगों ने बुद्धि का स्थान मस्तिष्क (दिमाग़) और मन तथा चित्त का स्थान हृदय (दिल) को माना है। हम साधारण बोलचाल में भले ही कहें कि हमारे दिल में बड़ा रंज है या हमारा दिमाग़ इस सवाल को हल नहीं कर सकता; परन्तु यथार्थ में

जीव के ऐसे दो भेद और ऐसे दो स्थान नहीं हैं। सहूलियत के लिए भले ही ऐसा कह दिया जाय। यही बात जीव के चार भेद और चार स्थानों के विषय में भी कही जा सकती है।

हमारे शरीर में दो तरह की तारवर्की है। एक तरह के तन्तु रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान हमारे मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। इन्हें हम ज्ञानतन्तु (Sensory nerves) कह सकते हैं। दूसरी तरह के तन्तु हमारी आज्ञा अथवा इच्छाओं की पूर्ति में सहायक होते हैं। इन्हें हम आज्ञा-तन्तु (Motor nerves) कह सकते हैं। इन्हीं के सहारे हमारे अङ्गों का सङ्कोच अथवा विस्तार करना, स्थिर अथवा गतिमान् करना या ऐसे ही कर्म करना निर्भर है। हमारे ज्ञानतन्तु के लिए भी भिन्न-भिन्न ज्ञान के साधनरूप भिन्न-भिन्न स्थान हैं। रूप-सम्बन्धी ज्ञानतन्तु के साधन हमारे नेत्र हैं, शब्द-सम्बन्धी ज्ञानतन्तु के साधन हमारे कान हैं। इसी तरह स्पर्श के लिए त्वचा (बाहरी चमड़ा), रस के लिए जिह्वा और गन्ध के लिए नाक है। इन्हीं पाँच साधनों को हम पंच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के समान ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी मानी गई हैं। उनके नाम हैं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। बोलने की क्रिया वाक् से, आकुंचन-प्रसारण की क्रिया पाणि से, गमन इत्यादि की क्रिया पाद (पैरों) से, मलोत्सर्ग की क्रिया पायु से और मूत्रोत्सर्ग

की क्रिया उपस्थ से होती है (शारीरक उपनिषद् इत्यादि आर्ष ग्रन्थों में आनन्द को उपस्थ इन्द्रिय का विषय माना है परन्तु आनन्द तो चित्त की अनुभूति का विषय है, उसे किसी कर्मेन्द्रिय का विषय मानना ठीक नहीं)। इन अङ्गों के अतिरिक्त हम दूसरे अङ्गों से भी क्रियाएँ कर सकते हैं। यथा हम सिर हिलाते हैं, ओठ चलाते हैं, आँखों से इशारे करते हैं। इतना ही क्यों, हम एक इन्द्रिय का काम दूसरे स्थान से भी कर सकते हैं; जैसे गूँगे लोग नाक से शब्द और हाथ की उँगलियों और चुटकियों से बात कर सकते हैं। हथकटे लोग ओठों और पैरों से रुपये पैसे इत्यादि उठा सकते हैं। लूले लोग हाथों के ही बल चल सकते हैं। इसी लिए कई विद्वानों ने केवल पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही मानी हैं और आज्ञा-तन्तुओं के कोई केन्द्र-विशेष या उपकरण-विशेष (अर्थात् कर्मेन्द्रियाँ) नहीं माने हैं।

आँखों में बाहर के पदार्थों का अक्स पुतलीरूपी लेंस से होकर पीछे परदे (Retina) पर पड़ता है और वहाँ से ज्ञान-तन्तु उस रूप को मस्तिष्क के विशिष्ट भाग तक पहुँचाते हैं जहाँ जीव को उसका ज्ञान होता है; कान के विवर में बाहरी ध्वनि भी एकत्र होकर परदे पर ठोकरें लगाती है और वहाँ से ज्ञानतन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है। वायु के द्वारा नासिका में खींची हुई गन्ध का ज्ञान भी ज्ञानतन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है। जिह्वा से स्वाद और त्वचा

से स्पर्श-ज्ञान भी इसी प्रकार पहुँचाया जाता है। नादयोगी कान को बन्द करके भी ज्ञान-तन्तुओं के संघर्ष से नाद सुन सकते हैं। त्राटकवाले अथवा ध्यानयोगी आँखें बन्द करके या स्थिर करके भी ज्ञानतन्तुओं के संघर्ष से तत्वों के रङ्ग अथवा ज्योति के दर्शन कर सकते हैं। बाह्य स्पर्श न रहते हुए भी आन्तरिक अवस्था का ज्ञान मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। इससे विदित होता है कि ज्ञानतन्तुओं की शक्ति केवल बाह्य पदार्थों ही तक परिमित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि आँख के ज्ञानतन्तु से हम रूप ही का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, कान से शब्द ही का। कुछ लोग मानते हैं कि विशेष अभ्यास या परिस्थिति से संभव है कि हम एक प्रकार के ज्ञानतन्तुओं से दूसरे ही प्रकार के विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकें। कहावत है कि साँप आँखों से देखता भी है और सुनता भी है, इसी लिए वह दृक् श्रोत्र (चक्षुःश्रवा) कहाता है। वैज्ञानिकों ने भी माना है कि सब प्रकार के ज्ञानतन्तुओं की बनावट एक ही बराबर है; केवल उनके सिरों या अग्रभाग में अन्तर हो जाने के कारण उनसे भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान प्रवाहित होता है। यदि प्रयत्न द्वारा उस अन्तर या भेद में परिवर्तन कर दिया जाय तो एक इन्द्रिय-द्वारा दूसरी इन्द्रिय का काम लिया जा सकना सम्भव है।

बाहरी वस्तुओं का ज्ञान हमें वायु अथवा आकाश में उठी हुई लहरियों के द्वारा होता है। ऐसी लहरियों की संख्या

एक सेकण्ड में करोड़ों तक होती है। प्रति सेकण्ड चालीस सहस्र लहरें तक यदि उठीं तो हम शब्द सुन सकते हैं अर्थात् लहरों की इतनी संख्या कर्णेन्द्रिय के विषय का ज्ञान पहुँचाने में समर्थ हैं। यही संख्या जब करोड़ों तक पहुँच जाती है तब हमें गर्मी का ज्ञान अर्थात् त्वचा इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होने लगता है। जब लहरियाँ प्रति सेकण्ड चालीस सहस्र से ऊपर और करोड़ों से नीचे रहती हैं तब हमें किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे दो बातें मालूम पड़ती हैं। एक तो यह कि हमारी पंच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) एक दूसरे से एकदम भिन्न नहीं हैं। हम ऊपर की परीक्षा से कह सकते हैं कि शब्द के घनीभूत विकार से स्पर्श का ज्ञान होता है और इसी प्रकार कदाचित् हम यह भी सिद्ध कर सकें कि इसी तरह के क्रमशः घनीभूत विकारों से रूप, रस और गंध की तन्मात्रा बनी है। सांख्यवाले तो ऐसा मानते ही हैं। तन्त्रशास्त्र और संतमत ने शब्द (नाद) से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का विषय ही समझाया है। दूसरी बात यह जान पड़ती है कि इस विश्व में केवल पञ्च तन्मात्राएँ ही नहीं हैं। प्रति सेकण्ड चालीस हज़ार और करोड़ों के बीच की लहरियों में संभव है कोई दूसरे ही अपूर्व विषयों का ज्ञान होता हो जिन्हें प्राप्त करने की साधन रूप इन्द्रियाँ हमारे पास नहीं हैं। तो फिर मनुष्यों में पाँच ही इन्द्रियाँ क्यों हैं ? और फिर कालान्तर में क्या विकासवान् मनुष्यों को

कभी और भी इन्द्रियाँ प्राप्त हो सकेंगी ? इस प्रश्न का उत्तर अभी निश्चित रूप से नहीं मिल सका है। योगियों ने योग की सहायता से अथवा साधारण मनुष्यों ने भी प्राकृतिक चमत्कार से रूप की इन्द्रिय में त्रिकालदर्शिता अथवा दिव्य दृष्टि (Clairvoyance) प्राप्त कर ली है जिसके सहारे वे साधारणतः अदृश्य वस्तु (दूर देश की चीज़) भी देख सकते हैं ; नादानुसंधान अथवा दिव्य श्रवण (Clairaudience) प्राप्त कर लिया है जिसके सहारे वे अश्रव्य शब्द भी सुन लेते हैं। इसी प्रकार और भी अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त हो सकी हैं। परन्तु ये सब सिद्धियाँ केवल इन्हीं पाँच इन्द्रियों की विशेष शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनसे किसी छठी इन्द्रिय का आविर्भाव नहीं हो सका है।

जगत् के समस्त पदार्थों को हम देश, काल और निमित्त (कार्य-कारण-शृंखला) से जकड़ा हुआ पाते हैं। हमारी इन्द्रियों का क्षेत्र भी इन्हीं के कारण सीमाबद्ध रहता है। हम नज़दीक की चीज़ देख सकते हैं, दूर की नहीं। कल की नष्ट हो गई हुई चीज़ या वह वस्तु जो परसों उत्पन्न होगी, हमें आज नहीं दिखाई देती। यौगिक अभ्यास या प्राकृतिक शक्ति-विशेष से हम देश-काल की दीवाल को फोड़कर अपनी इन्द्रियों की शक्ति दूर तक फैला सकते हैं। यह बात दूसरी है। परन्तु जगत् में देश-काल और निमित्त के अस्तित्व का कोई खण्डन नहीं कर सकता। इस देश, काल और निमित्त के विषय का बोध हमें

किस इन्द्रिय से होता है ? मानस-शास्त्रियों ने इसको कई प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। इनके ज्ञान के लिए किसी ख़ास इन्द्रिय अथवा प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं। जीव में जो व्यक्तित्व और अनेकत्व की भावना है उसी के कारण हमें जगत् में सृष्टि, स्थिति और लय का तारतम्य जान पड़ने लगता है। उसी स्थिति के तारतम्य का नाम देश (Space) है। लय के तारतम्य का नाम काल (Time) है और सृष्टि के तारतम्य का नाम निमित्त (Causality) है। इसे ही क्रमशः सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण कहा गया है। अपनी इन्द्रियों द्वारा जगत् के बाह्य पदार्थों का ज्ञान होते ही हमें इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान आप ही आप हो जाता है। अब देश, काल, निमित्त के अतिरिक्त इस जगत् में हम क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन ऐसे पञ्च तत्वों का अस्तित्व भी मानते हैं। ये पाँच पदार्थ अपनी पञ्च तन्मात्राओं के आश्रयस्थान होने से पञ्चतत्व माने गये हैं। इनमें यदि विचार किया जाय तो अपनी इन्द्रियों द्वारा हम पञ्च तन्मात्राओं के अतिरिक्त और कुछ अनुभव भी नहीं कर सकते परन्तु पंच तन्मात्राओं में सूक्ष्मता (Subtlety) और इन तत्वों में स्थूलता (Grossness) देखकर इन्हें अलग तत्व मान लिया गया है। जैसे तन्मात्राओं में एक तन्मात्रा दूसरी का घनीभूत विकार है उसी प्रकार ये पंच तत्व भी एक दूसरे के घनीभूत विकार होकर पंच तन्मात्राओं के घनीभूत विकार हो सकते हैं। परन्तु बाह्य जगत् में पंच

तन्मात्राएँ अलग-अलग नहीं मिलतीं। वे सङ्गीत, इत्र, दूध, घोड़ा, बगीचे इत्यादि के ढङ्ग पर देश काल इत्यादि से नियमित होकर मिलती हैं। इसी लिए यह मान लिया गया है कि संसार केवल पंचतन्मात्राओं का ही अनियमित अथवा उच्छृं-खल खेल नहीं है। जिस अनिर्वचनीय शक्ति के कारण पंच तन्मात्राएँ बाह्य पदार्थों के रूप में सुश्रृंखलित हो जाती हैं वही शक्ति विश्व के सम्पूर्ण दृश्य और अदृश्य पदार्थों के अस्तित्व को निश्चित अतः सत्य बना देती है। इस प्रकार हम जगत् को सत्य जानते हुए उसके सम्पूर्ण पदार्थों का विषय-ज्ञान अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया करते हैं।

ज्ञानतन्तुओं पर तो बहुत कुछ कहा गया, अब कर्म-तन्तुओं पर भी कुछ कहकर यह विषय समाप्त किया जायगा। हमारे मन में कुछ कार्य करने की इच्छा होते ही उस सम्बन्ध के क्रियातन्तु एकदम तैयार हो जाते हैं। फिर चाहे हम उनसे काम लें या न लें। मुट्ठी बाँधने की इच्छा करते ही हमारे हाथों के क्रियातन्तु एकदम सिकुड़ उठने के लिए तैयार हो जायँगे, फिर यदि कोई विपरीत अथवा बाधक इच्छा न हुई तो हमारी मुट्ठी एकदम बँध जायगी। कभी-कभी तो मन में एक विचार उठते ही उसके अनुकूल कार्य आप ही आप हो उठता है चाहे हम चाहें या न चाहें। रात्रि में स्वप्नदोष, निःस्तब्ध प्रकृति में एकाकी मनुष्य का गुनगुनाने लगना, ऊँचे शिखर पर चढ़नेवाले मनुष्य का—जो अपने गिर जाने के डर से

भयभीत हो रहा हो—सचमुच ही गिर पड़ना आदि इस विषय में उदाहरणस्वरूप कहे जा सकते हैं। स्वप्नदोष के समय "अरे यह तो स्वप्न है", गुनगुनाने के समय "अरे मैं क्या पागलपन कर रहा हूँ, कोई देख लेगा तो क्या कहेगा," ऊँचे शिखर से झाँकने के समय "मैं सुरक्षित हूँ" ऐसे बाधक विचार मन में आ जाने से पहिले कार्यों की पूर्णता न हो सकेगी। एकाग्रता (Concentration) का अभ्यास करके जिसने किसी भी एक विषय पर मन को इस तरह दृढ़ करने की शक्ति प्राप्त कर ली जिसमें बाधक विचार पास तक न फटकने पावें, उसके लिए इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। अपने आज्ञातन्तुओं को वह मनमाना शक्तिसम्पन्न बना सकता है और उनके द्वारा वह असीम शक्तिशाली तथा स्वच्छन्द विहारी बन सकता है।

एक बात और है। पहले पहल तो ज्ञानतन्तु और आज्ञातन्तु दोनों को पद-पद पर जाग्रत् जीव का रुख देख-कर काम करना पड़ता है परन्तु पीछे आदत या अभ्यास हो जाने से इन तन्तुओं के साधारण काम इतनी शीघ्रता से हो जाते हैं कि कभी-कभी जीव को उनकी ख़बर ही नहीं होने पाती। आप सोये हुए मनुष्य के पैरों में चिमटी काटिए, वह झट पैर फटकारकर एक आध थप्पड़ आपकी ओर चला देगा। उस सोये हुए जीव को न तो उस चिमटी का ही ज्ञान हुआ और न उससे अपनी रक्षा करने के लिए पैर फट-

काटने या थप्पड़ मारने ही की युक्ति उसे सूझी होगी परन्तु आत्मरक्षा के भाव की प्रबलता के कारण पूर्वाभ्यास से उन दोनों तन्तुजालों ने मिलकर अभीष्ट कार्य को पूरा कर दिया और इस साधारण काम के लिए जीवात्मा की शान्ति में बाधा नहीं दी। ऐसे कार्यों को हम **स्वतःसिद्ध कार्य** (Reflex actions) कहते हैं।* हमारे जीवन के सब आवश्यकीय कार्य इसी प्रकार आप ही आप हुआ करते हैं और उनके सम्पादन में हमारे जीव को विचार अथवा प्रयत्न इत्यादि का विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता। पुण्य और पाप, सत्कर्म और दुष्कर्म इत्यादि में भी हमारी आदत के अनुसार हमारे तन्तुओं की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति हो जाया करती है और उस अवस्था-विशेष पर एक प्रकार के जोश (Impulse) में आकर हमारे तन्तु वैसा ही कार्य कर बैठते हैं, चाहे उसके लिए हमारी पूर्ण इच्छा हो चाहे न हो। एक स्त्री एक बार खिलौना चोरी करती हुई पाई गई। वह बड़े घर की लड़की होकर भी चार बार की सज़ायाफ़्ता थी। चाहती तो वैसा खिलौना मोल ले सकती थी। पूछे जाने पर उसने कहा कि मैं चोरी करना नहीं चाहती परन्तु किसी अच्छी चीज़ को देखकर न जाने

---

* मस्तिष्क के अतिरिक्त हमारे शरीर में अनेकों स्नायुकेन्द्र रहते हैं और ऐसे स्वतःसिद्ध कार्यों के सम्पादन में ये स्नायुकेन्द्र ही मस्तिष्क का काम देते हैं और मस्तिष्क के सेक्रेटरीयट में अण्डर सेक्रेटरी का काम किया करते हैं।

मन कैसा हो जाता है और हाथ आप ही आप उस वस्तु को चुरा लेते हैं। जो मनुष्य सदा अच्छी ही आदतें बनाये रहते हैं उनसे भूलकर भी जोश (Impulse) में भी कोई अनुचित कार्य नहीं होने पाता।

जिस प्रकार शरीर में ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तु हैं, क्या उसी प्रकार भावतन्तुओं (Aesthetic nerves) का होना भी सम्भव है ? क्या जिस प्रकार मस्तिष्क में रूप, रस इत्यादि विषयों के ज्ञान के लिए अलग-अलग केन्द्र नियत हैं उसी प्रकार भावनाओं (Feelings) के लिए भी कोई केन्द्र-विशेष नियत है ? भावनाओं का प्रभाव हमारे स्नायुपुञ्जों और मस्तिष्क में किस प्रकार पड़ता है ? इत्यादि इत्यादि अनेक प्रश्न किये जा सकते हैं। शरीरशास्त्रियों को इनका सन्तोषजनक उत्तर अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है और कई विद्वानों के मन में ऐसी कल्पना भी नहीं उठी है, इस विषय की परीक्षा करनी तो दूसरी बात है।

सूत्र ८

८ योगाभ्यास से जीवन का उत्कर्ष होता है

ऊपर ही कहा गया है कि जीवात्मा का विकास जीवन के उत्कर्ष पर निर्भर है और जीवन का उत्कर्ष हमारी शक्ति और प्राणों पर निर्भर है। इस शक्ति और प्राणों की वृद्धि हम योगाभ्यास ही से विशेषतापूर्वक कर सकते हैं। आहार-

विहार में सामान्य संयम करते रहने और स्वास्थ्य के साधारण नियमों का पालन करते रहने ही से जब हमारी जीवनी शक्ति की वृद्धि होती है तब योग सरीखे सर्वोच्च संयमपूर्ण मार्ग का अभ्यास करने से हमारी जीवनी शक्ति में अवश्यमेव असाधारण वृद्धि होगी, इसमें सन्देह नहीं है। कई लोगों ने योग को हौवा समझ रक्खा है और प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी कभी सिफ़ारिश नहीं करना चाहते। उन्हें अपनी यह भूल अवश्य दूर कर देनी चाहिए। योग की क्रियाएँ किसी समुदाय-विशेष के लिए नहीं हैं। वे सम्पूर्ण मनुष्यों—ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, संन्यासियों, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध—सभी के लिए हैं बशर्तें कि वे यम-नियमादि का अभ्यास करके इसके अधिकारी बन गये हों। [स्मरण रखना चाहिए कि योग का अर्थ केवल हठयोग ही नहीं है, इसी लिए योग-मार्गावलम्बियों को अनेकानेक आसन, प्राणायाम, मुद्राएँ, बन्ध, इत्यादि सीखने की विशेष आवश्यकता नहीं।] प्रत्येक मनुष्य को अपने जीव और जीवन के विकास के लिए इन क्रियाओं का यथावकाश और यथारुचि अवश्यमेव अभ्यास करना चाहिए। हाँ, इन क्रियाओं में पथदर्शक अथवा गुरु की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। परन्तु यदि मन में लगन सच्ची रही तो गुरु भी मिल ही जाता है। और फिर योग की सामान्य क्रियाओं के लिए तो गुरु की इतनी आवश्यकता भी नहीं रहती। सामान्य क्रिया बतानेवाले सज्जन भी बहुत मिल सकते हैं।

पहिले ही कह आये हैं कि शरीर में पाचकशक्ति के लिए पाचननली का, प्राणशक्ति के लिए रक्तनाड़ियों का और जीवशक्ति के लिए (अथवा चेतनाशक्ति या चित्शक्ति के लिए) तन्तुओं का विस्तार फैला हुआ है। हमारे जीवन में इन तीनों शक्तियों की प्रबलता की आवश्यकता है। पाचकशक्ति की शिथिलता से हमारी प्राणशक्ति और जीवशक्ति में भी शिथिलता आ जाती है। प्राणशक्ति की शिथिलता से शेष दो शक्तियाँ भी शिथिल हो जाती हैं और चित्शक्ति की शिथिलता से शेष शक्तियों का शिथिल होना तो निश्चित ही है।

पाचकशक्ति की वृद्धि अथवा **शरीररक्षा** के लिए योग के आचार्यों ने अनेकानेक क्रियाएँ ढूँढ़ निकाली हैं। शरीर में विजातीय वस्तुओं अथवा विजातीय (अर्थात् ह्रासोन्मुखी—उदाहरणार्थ क्रोध, काम, लोभ, इत्यादि) विचारों के आने से ही मल का आधिक्य होता है और मल के बढ़ने से ही रोग उत्पन्न होते तथा शरीररक्षा में बाधा होती है। इसी लिए सद्विचार, **यम, नियम,** व्रत, उपवास, इत्यादि के साथ नेती, धोती, वस्ती, नवली इत्यादि का विधान किया गया है तथा अनेक **आसनों,** बन्धों और मुद्राओं का अनुसन्धान किया गया है। इनके अभ्यास से मनुष्य अपने शरीर को वज्र के बराबर बना सकता और पत्थर भी पचा सकता है।

प्राणशक्ति की वृद्धि अथवा **प्राणरक्षा** के लिए योगाचार्यों ने **प्राणायाम** की अनेकानेक क्रियाओं का अनुसन्धान किया

है। इस जगत् में सर्वत्र प्राण ही प्रवाहित हो रहे हैं। कोई स्थान इस प्राण वायु से ख़ाली नहीं। सम्पूर्ण वायुमण्डल को हम प्राण नहीं कहते। वायुमण्डल का विशुद्धतम अंश-विशेष ही प्राणवायु कहाता है। इस विशुद्ध अंश-विशेष का सम्बन्ध ग्रहों की शक्ति (Planetary electricity) और विशेष कर सूर्य-ज्योति से है। जिस समय सूर्य की ज्योति रहेगी उस समय प्राण वायु का विशेष सञ्चार होने से जगत् एकदम जागृत सा हो उठता है और सब जीवों में विशेष चेतना आ जाती है। सूर्य के न रहने पर रात्रि के समय प्राण वायु भी शक्तिहीन सी हो जाती है और इसी लिए जीवों को भी विश्राम करने—सो जाने—की आवश्यकता सी जान पड़ती है। सो इस प्रकार सूर्य-ज्योति से चित्शक्ति (Solar electricity) पाकर प्राण वायु उसे हमारे शरीर में लाती है और उसी चित्शक्ति को प्राप्त करके हमारे जीवन की वृद्धि होती है। प्राणायाम की प्रक्रियाओं द्वारा इसी चित्शक्ति की वृद्धि की जाती है और हमारे नाभि के पास स्थित सूर्यचक्र का वेध किया जाता है जिससे वह प्राणायामी योगी अतुल शक्तिसम्पन्न होकर कठिन से कठिन कार्य सरलतापूर्वक कर सकता है।

योग का वास्तविक कार्य इसके बाद प्रारम्भ होता है। पाचक शक्ति और प्राण शक्ति तो हमारे जीव शक्ति के विकास के लिए साधनरूप ही हैं। वास्तव में तो **जीवरक्षा** अथवा जीव-शक्ति की वृद्धि ही मुख्य है। उसी की वृद्धि में हमारे

जीवन की अनन्तता और सर्वशक्तिमत्ता है इसी लिए योगियों ने प्राणायाम के बाद **प्रत्याहार** और **ध्यान, धारणा, समाधि** की व्यवस्था की है। ऊपर लिखा गया है कि मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जु के रूप में मेरुदण्ड के भीतर नीचे तक जाकर अनन्त स्नायुतन्तुओं के रूप में फैला हुआ है। पायु से दो अंगुलि ऊपर और उपस्थ से दो अंगुलि नीचे जाकर ज्ञानरज्जु मेरुदण्ड के बाहर एक चतुरंगुल विस्तृत कन्द के रूप में प्रकट हुई है। योगियों के मतानुसार उसी कन्द से बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ (स्नायुतन्तु) निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुई हैं। इनमें से तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं जिन्हें योगी लोग इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहते हैं। वे इसी लिए मुख्य मानी गई हैं क्योंकि उनके द्वारा प्राण वायु उस मूलस्थ कन्द के पास तक पहुँचती है। दाहिनी नाक के पास पिंगला नाड़ी है, बाईं के पास इड़ा है और दोनों के मध्य में सुषुम्ना है। जब हमारा दाहिना सुर चलता है (अर्थात् जब हम दाहिनी नाक से स्वच्छन्दतापूर्वक साँस लेते हैं) तब पिंगला नाड़ी उस श्वास-प्रश्वास से प्राण वायु खींचकर कन्दमूल तक पहुँचाती है। जब बायाँ सुर चलता है तब इड़ा नाड़ी प्राण वायु खींचकर कन्दमूल तक पहुँचाती है। दक्षिण सुर तभी चलेगा जब प्राण वायु में सूर्य का तत्व विशेष हो; इसी लिए वह सूर्यस्वर कहाता है। वाम सुर से शान्ति की मात्रा विशेष मिलती है इसी लिए वह चन्द्र स्वर कहा गया है। परन्तु इतना निश्चित है कि इड़ा और पिंगला

दोनों के द्वारा हमारे कन्दमूल तक शक्ति पहुँचती है और उसी शक्ति को पाकर बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ अपना-अपना कार्य किया करती हैं। रक्त की नलिकाओं से भी प्राण वायु प्रवाहित होकर मस्तिष्क के तन्तुओं में पहुँचती और उसे पुष्ट करती है तथा इड़ा, पिंगला इत्यादि के मार्ग से होकर भी वह शक्ति पहुँचाई जा सकती है। जो मनुष्य प्राणायाम के द्वारा कन्दमूल में शक्ति का सञ्चय करके उसके द्वारा बहत्तर हज़ार नाड़ियों ही की पुष्टि किया करते हैं वे उन नाड़ियों द्वारा अपनी शक्ति को बहिर्मुखी ही किया करते हैं इसलिए उनकी शक्ति का ह्रास और अपूर्णत्व अवश्यम्भावी है। और जो अपनी इस शक्ति को बहिर्मुखी न करके अन्तर्मुखी होने देते हैं वे ही जीव के साथ इस शक्ति का संयोग कराकर पूर्ण और कृतकृत्य हो जाते हैं। रक्त की नलिकाओं से जो प्राण के साथ चित् शक्ति मस्तिष्क तक पहुँचती है वह अत्यन्त स्वल्प रहती है। और जो चित् शक्ति अन्तर्मुखी क्रिया से कन्दमूल और ज्ञानरज्जु के द्वारा पहुँचाई जा सकती है उसकी कोई सीमा नहीं। यह अन्तर्मुखी क्रिया विशेष रूप से तब सिद्ध होती है जब सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा चित् शक्ति खींची जाय। क्योंकि इड़ा पिंगला के समान वह नाड़ी कन्दमूल तक ही जाकर नहीं रह जाती वरन् वह उससे भी आगे बढ़कर हमारे मस्तिष्क तक पहुँचती और जीव के स्थान से विशेष सम्बन्ध रखती है। इसी सुषुम्ना के सहारे योगी लोग शक्ति को ऊर्ध्वगामिनी करके अमृत पद

प्राप्त करते हैं। जिस समय दाहिने और बायें दोनों सुर बराबर चलें उस समय समझना चाहिए कि श्वास-प्रश्वास सुषुम्ना के समीप से प्रवाहित हो रहा है और चित् शक्ति सुषुम्ना के मार्ग से आगे बढ़ रही है। बस, प्राणायाम के द्वारा योगी लोग शक्ति को प्रबुद्ध करके इसी सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर प्रवाहित करने की चेष्टा किया करते हैं। योग की इसी अन्तर्मुखी क्रिया का नाम प्रत्याहार है। और कन्दमूल के पास सञ्चित होनेवाली उस चित् शक्ति (life energy अथवा अहों की विद्युत्) ही को कुण्डलिनी कहा गया है। वह कम्प अथवा नाद के रूप में विकसित होने के कारण परावाणी अथवा आदि-शक्ति भी कही गई है। बहिर्मुखी क्रिया के विपरीत जो यह अन्तर्मुखी क्रिया है उसे ही योग का उल्टा मार्ग कहा गया है; तथा मस्तिष्क रूपी मूल से निकलकर ७२ हज़ार नाड़ियों के रूप में नीचे आकर फैलनेवाले तन्तु-जाल ही को ऊर्ध्वमूल और अधः शाखावाला अश्वत्थ वृक्ष (पीपल का पेड़) कहा गया है।

भारतीय महात्माओं ने इसी जीव और शक्ति के संयोग को बड़े ही मनोहारी भावों में व्यक्त किया है। शङ्करभक्त इसे शिवशक्ति-संयोग के रूप में वर्णित करते हैं। रामभक्त इसे सीताराम-मिलन समझते हैं। कृष्णभक्त तो बहत्तर हज़ार (नाड़ी रूप) गोपियों के संग श्रीराधाजी का (कुण्डलिनी का) वंशीवट के निकट (मस्तिष्क के पास) जाकर श्रीकृष्ण

के साथ रास-विलास ही देखा करते हैं। और आधुनिक संतगण इसे सुरति शब्द संयोग के रूप में वर्णित करके गद्‌गद हुआ करते हैं। इसी शक्ति का संयोग पाकर जीव पूर्ण हो जाता है, शिव हो जाता है, साक्षात् परमात्मा हो जाता है। हमारा जीव जितना ही बहिर्मुखी रहेगा उतना ही संकीर्ण होगा। वह जितना ही अन्तर्मुखी होगा उतना ही पूर्ण होता जायगा। हमारी शक्ति की उत्क्रान्ति के साथ हमारा बहिर्मुखी क्षुद्र जीव भी ऊपर उठता जाता है और अन्त में मस्तिष्क में पहुँचकर सर्वशक्तिसम्पन्न स्वयं शिव बन जाता है। इसी में अनन्त जीवन है, इसी में अनन्त कल्याण है, इसी में जीवन के उत्कर्ष की इयत्ता है।

कन्दमूल से लेकर मस्तिष्क तक सुषुम्ना नाड़ी एकदम सीधी-सीधी ही नहीं चली गई है। बीच-बीच में उसकी अनेकों गुत्थियाँ भी पड़ गई हैं। इन गुत्थियों में छः प्रधान हैं, इन्हें **षट्‌चक्र** कहते हैं। इसी चक्रव्यूह को भेदकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर पहुँचाई जाती है। ये गुत्थियाँ (अथवा चक्र) कमल के आकार की हैं और उनमें सुषुम्ना के लपेट कमलदलों के समान दिखाई देते हैं। वे चक्र क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र कहाते हैं और उनके स्थान भी क्रमशः कन्द और सुषुम्ना का सन्धिस्थल, लिंग-मूल, नाभिमूल, हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य है। प्रत्येक पद्म के दलों की संख्या भिन्न-भिन्न है और उनके एक-एक पत्ते पर एक

एक विशिष्ट आकृति सी बनी हुई है (जो सुषुम्ना की उलझन ही के कारण जान पड़ती है और जिसे वर्णमाला के एक-एक अक्षर की आकृति माना गया है) तथा उस दल से वैसे ही अक्षर की ध्वनि भी होती है (जो चित् शक्ति के प्रवाह-भेद से जान पड़ती है)। इस प्रकार प्रणव-रूपिणी वह परावाणी (आदि शक्ति) षट्चक्र के भीतर वर्णमाला के रूप में विकसित होकर मस्तिष्क के कैलासकूट पर स्थित सदा-शिव के गले में पड़ जाती है। तभी विश्व में आनन्द की धाराएँ बह निकलती हैं और कालकूट भी अमृत का फल देने लगता है। हमारा मस्तिष्क भी, जो अखरोट के समान बना हुआ है, हजार पत्तोंवाला कमल ही जान पड़ता है। इसलिए योगियों ने षट्चक्र के ऊपर इसे सातवाँ चक्र माना है और इसे सहस्र-दल कमल कहा है। यहीं पर राधा-कृष्ण का अपूर्व रास सदैव हुआ करता है। जो इसका अनुभव करता है वही कृत-कृत्य होता है।

इस षट्चक्र को भेदन कर सहस्रदल कमल में शिवशक्ति-संयोग करा देने के तीन उपाय हैं। (१) मन्त्र, (२) ज्योति, (३) नाद। इनमें से किसी एक की सहायता से कार्य-सिद्धि हो सकती है। ये तीनों उपाय भी—जैसा कि आगे विदित होगा—"ध्यान" पर निर्भर हैं और असल में ध्यान ही के कारण शिवशक्ति-संयोग हो जाता है। तीनों का संक्षिप्त वृत्तान्त आगे दिया जाता है।

(१)**मन्त्र**—यह विज्ञान-सम्मत है कि समस्त संसार विद्यु-दणुओं (electrons) का विकास है। तन्त्र और योग-वाले इन विद्युदणुओं को भी कम्प या नाद और बिन्दु (vibration and rotation) का विकास मानते हैं। इस दृष्टि से नाद अथवा शब्द ही आदि-शक्ति है। नाद और बिन्दु का मूलतम रूप है ॐ। वह मूलभूत शब्द इसी प्रकार गूँजता रहता है और कुण्डलिनी के रूप में उसका आकार भो ऐसा ही रहता है। इसलिए मन्त्रशास्त्र में ओंकार ही ब्रह्म रूप माना गया है। षट्चक्र में विकसित होकर यह शब्द वर्ण-माला के सब अक्षरों के रूप में (जिनमें अनुस्वार अवश्य रहता है जैसे कं खं गं घं आदि) हो जाता है। प्रत्येक अक्षर की शक्ति अलग-अलग है और रङ्ग-रूप, आकार, परिणाम और फलाफल इत्यादि भी अलग-अलग है। उस अक्षर के उच्चा-रण होते ही उसमें निहित शक्ति और रूप का प्रादुर्भाव होना अवश्यम्भावी है। मन्त्रशास्त्र में इन्हीं अक्षरों और इनमें निहित शक्ति (जिसे उस मन्त्र का देवता कहते हैं) के ध्यान करने की विधियाँ हैं और यह दावे के साथ कहा गया है कि अमुक मन्त्र के जप से अमुक सिद्धि होना अवश्यम्भावी है। हमारे भीतर चित् शक्ति के अनवरत नाद से जो शब्द उठा करते हैं वे ही वास्तव में अक्षर कहाने योग्य हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष फलदायक होते हैं और उनका नाश नहीं होता। हम मुँह से जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं वे तो उच्चरित होने

के बाद शून्य में विलीन हो जाते हैं। हमने "राम" कहा और हमारे कहने के बाद ही वह शब्द शून्य में विलीन हो गया। यदि हमने बाहरी वाणी से न कहकर यही शब्द परावाणी से "रम्' बीज के रूप में उठवाया तो तत्काल ही हम उसका फल दृष्टिगोचर कर सकते हैं। मन्त्रशास्त्र में मन्त्र-सिद्धि के विषय में यही रहस्य है। इसी पर ध्यान न देने से ज़बानी जप करनेवालों को सिद्धि नहीं प्राप्त होती। अब परावाणी से शब्द उठाना सबके लिए तो सरल नहीं है। इसी लिए यह विधान किया गया है कि प्रत्येक मन्त्र जपने के समय उसके देवता (तन्निहित शक्ति) का स्थूल रूप में ध्यान किया जाय और इस प्रकार मन्त्र और उसके देवता का जप में अनेक बार (अथवा यथासंख्यात) एकीकरण होने से उसका फल प्रत्यक्ष दिखने लगता है। देवता का ध्यान किये बिना मन्त्र का जप करना लाभदायक नहीं। (यद्यपि ऐसे कोरे जप से इतना लाभ अवश्य होता है कि कालान्तर में उस ओर अभ्यास के कारण हमारी प्रवृत्ति हो उठती है और उस मन्त्र के शब्द की ठोकरें लग-लग कर कुण्डलिनी को उस मन्त्र-विशेष की ओर बढ़ चलने की उत्तेजना मिलती है। परन्तु ये लाभ प्रत्यक्ष सिद्धि के आगे तुच्छ ही से हैं।) इस प्रकार मन्त्र के साधन में मन्त्रशास्त्रियों ने ध्यान ही की प्रधानता मानी है। अब यह पहिले ही कहा जा चुका है कि मन में कोई विचार आते ही हमारे आज्ञातन्तु आप ही आप वैसा कार्य करने लगते हैं बशर्ते कि कोई बाधक

विचार उपस्थित न हो। तब जब ध्यान-योग से हम किसी विशिष्ट शक्ति (देवता) ही का विचार इस दृढ़ता से कर सकेंगे कि जिससे बाधक विचार पास तक न फटकने पावें तो यह निश्चित ही है कि हमें उस विशिष्ट शक्ति की सिद्धि अवश्यमेव हो जायगी और हमारे स्नायुजाल वैसे ही शक्तिसम्पन्न हो जायँगे। इस प्रकार जब हम मन्त्रयोग से पूर्ण सच्चिदानन्द का ध्यान करेंगे तब सुषुम्ना सरीखे हमारे स्नायुजाल अवश्य ही उस विचार की पूर्ति के लिए कुण्डलिनी शक्ति को आप ही आप ऊपर पहुँचा देंगे। षट्चक्र भेद आप ही आप हो जायगा। हमें प्रयत्न भी न करना पड़ेगा। आजकल के अधिकांश वैज्ञानिक नाद और अक्षर के रहस्य को चाहे स्वीकार न करें परन्तु ध्यान के महत्व को और उसके द्वारा कार्यसिद्धि को तो उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस विषय का विशेष विवरण बुद्धि प्रकरण के अन्तिम सूत्र में मिलेगा।

(२) **ज्योति**—मन्त्रयोगी लोग स्थूल रूप का ध्यान करते हैं। प्रत्येक मन्त्र की शक्ति के अनुसार उसके देवता और उस देवता के रूप की कल्पना करनी पड़ती है तथा उसकी बाह्य मूर्ति का ध्यान करना पड़ता है। ऐसे बाह्य और कल्पित पदार्थ का ध्यान नीचे दर्जे ही का ध्यान कहा जायगा। केवल ज्योति का ध्यान करना किसी बाहरी रूप-विशेष के ध्यान से उत्तम है। इस ज्योति का ध्यान आँखें बन्द करके भ्रूमध्य के बीच में (त्रिपुटी में) किया जाता है। इस

ज्योति की भी सोलह कलाएँ या सीढ़ियाँ मानी गई हैं; जिनमें प्रथम नौ क्रमशः ओस, धुवाँ, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, बिजली, स्फटिक और चन्द्र के समान हैं। शेष शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकतीं। त्रिपुटी में ध्यान का अभ्यास करते रहने से क्रमशः इन सब ज्योतियों के दर्शन होते हैं। हम उस स्थान-विशेष में ज्योति का ध्यान करते हैं इसलिए हमारी आँखों के ज्ञान-तन्तु यथार्थ ही वहाँ ज्योति के दर्शन पाने लगते हैं। हम विरह, उन्माद या भक्ति के आवेश (ध्यान की एकाग्रता) में अपनी प्रियतमा, जगत् के ऐसे ही पदार्थ या स्वयं मूर्तिमान् ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेते हैं (हमारी आँख के ज्ञानतन्तुओं के द्वारा जान पड़ता है कि बाहर आराध्य मूर्ति खड़ी हुई है)। तब फिर ध्यान की एकाग्रता के कारण एक विशिष्ट बात के दर्शन के लिए आँख के ज्ञानतन्तुओं में हलचल पैदा करके क्या हम ज्योति के दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते? त्रिपुटी ही वह स्थान है जहाँ इड़ा और पिङ्गला के साथ सुषुम्ना का सङ्गम हुआ है। इसी लिए वह त्रिवेणी के समान पवित्र माना गया है। सो उस स्थान पर ज्योति का ध्यान करने से सुषुम्ना में हलचल होना और उसके द्वारा ज्योति अथवा चित् शक्ति का ऊपर उठना अवश्यम्भावी है। अब, हम अपने त्राटक की ज्योति को साक्षात् ब्रह्मज्योति मानते हैं इसलिए ज्योति के साथ जो इस पूर्णत्व की भावना का ध्यान होता है उससे सहज ही हमारे षट्चक्र का वेध हो जाता है।

(३) **नाद**—ऊपर ही कहा गया है कि तन्त्र और योग के अनेक विद्वानों ने नाद ही से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। इससे नाद का अनुसन्धान करके नाद के केन्द्र-भूत बिन्दु का ध्यान करने से भी उस मूल शक्ति के साथ जीवात्मा का संयोग होने से षट्चक्र का वेध आप ही हो जाता है। कर्णरन्ध्र को मूँदकर ध्यानस्थ होने से आप ही कुछ शब्द सुनाई देता है। वह शब्द चाहे सूक्ष्म वायु के प्रवेश के कारण हो, चाहे कान के ज्ञानतन्तुओं के संघर्ष के कारण हो, चाहे रक्तनलिकाओं में रक्त के दौड़ने के कारण हो। क्रमशः उसी शब्द पर लक्ष्य करते रहने से हम उसी के भीतर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुन सकने की शक्ति प्राप्त करते हैं। अन्त में वह शब्द सूक्ष्मतम होते हुए आदि शक्ति कुण्डलिनी में उठते रहनेवाले शब्द के समान हो जाता है। उस समय हमें अपनी कुण्डलिनी शक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है और उसी बिन्दु रूपिणी पराशक्ति में अपने क्षुद्र जीव का लय करके हम पूर्णत्व का पद प्राप्त कर सकते हैं। इस नाद के अठारह भेद माने गये हैं और यह अनाहत (बिना बजाये आप ही आप निरन्तर) हुआ करता है इसलिए इसे अनाहत नाद या **अनहद नाद** कहा गया है। नादबिन्दूपनिषद् में यह नाद क्रमशः जलधितरङ्ग, मेघ-गर्जना, भेरी, निर्झर, मृदङ्ग, घटा, वेणु, किंकिणी, वंशी, वीणा और भ्रमर के स्वर के समान माना गया है। योगी लोग क्रमशः ये नाद सुनकर परम पद प्राप्त करते हैं।

षट्चक्रवेध के जो ये तीन मार्ग बताये गये हैं वे तीनों **ध्यान** ही के ऊपर निर्भर हैं। मुख्य तो ध्यान ही है जिसके कारण षट्चक्रभेद होता है। जिसमें एकाग्रता की शक्ति अच्छी तरह आ गई है और जो अपने पूर्णत्व अथवा सच्चिदानन्दत्व पर दृढ़ ध्यान कर सकता है उसका षट्चक्रभेद अवश्यम्भावी है। जब वही ध्यान किसी मूर्ति के सहारे होता है तब हम उस प्रक्रिया को **मन्त्रयोग** कहते हैं; जब वही ध्यान ज्योति के सहारे होता है तब हम उसे **हठयोग** कहते हैं (हठयोग में नाड़ियों के व्यायाम और उन्हें प्रबुद्ध करने की विधियाँ हैं इसी लिए उसमें ज्योति-ध्यान का विधान किया गया है जिससे सुषुम्ना में उस ज्योति और शक्ति का सञ्चार होकर षट्चक्रवेध हो जाय); जब वही ध्यान बिन्दु (नाद के केन्द्रित रूप) के सहारे होता है तब हम उसे **लययोग** कहते हैं। परन्तु वास्तव में तो **ध्यानयोग** ही (जिसे हम **राजयोग** कह सकते हैं) प्रधान है। सच्चिदानन्द की प्राप्ति में सत् अथवा शक्ति का अंश मन्त्रयोग के मार्ग में विशेष है; चित् (ज्योति, प्रकाश, ज्ञान) का अंश हठयोग के मार्ग में विशेष है और आनन्द का अंश लययोग के मार्ग में विशेष है। हम चाहे किसी भी मार्ग का अवलम्बन करें, षट्चक्रवेध अवश्यम्भावी है।

योग कोई अप्राकृतिक वस्तु नहीं है। वह केवल प्राकृतिक नियमों ही के आधार पर जीवन को विशेष उत्कृष्ट बनाने की प्रक्रिया मात्र है। इसलिए उसे हौवा समझना एकदम अनु-

चित है। जीवों के जीवन को उत्कृष्टतम बनाने के इस अमूल्य शास्त्र की (जिसकी सब क्रियाएँ वैज्ञानिक नियमों के अनुसार निश्चित की हुई हैं) जो कोई उपेक्षा करते हैं वे अपने पूर्वज महर्षियों के साथ बड़ा अनुचित व्यवहार कर रहे हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु एक बात और भी है जिसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए नहीं तो लाभ के बदले बड़ी हानि हो सकती है। जब तक मनुष्य में संयम न होगा तब तक उसका ध्यान किसी विषय में बराबर न लग सकेगा और मनुष्य अपने मन की मधुप वृत्ति के कारण वासनाओं का फ़ुटबाल बना रहेगा। ऐसी अवस्था में मन्त्र, लय अथवा हठयोगों से ध्यान की एकाग्रता एक तो बढ़ ही न सकेगी और यदि बढ़ भी गई तो अनाड़ी के हाथ की बन्दूक के समान हानिकारक ही सिद्ध होगी। इसी लिए जब तक यम और नियम का पूरा अभ्यास नहीं हो चुका है तब तक आगे बढ़ना कदापि उपयुक्त नहीं। इसी प्रकार हठयोग की प्रायः सम्पूर्ण क्रियाएँ ही तब तक न करनी चाहिएँ जब तक कोई अच्छा उपदेष्टा न मिल जाय और जब तक कि मन में इस विषय का संयमपूर्ण दृढ़ निश्चय न हो जाय। हठयोग में हवा ही का तो विशेष खेल है और इस हवा का सँभालना बड़ी टेढ़ी खीर है। ज़रा भी कुतर्क होने से प्राणान्त की नौबत आ जाती है। जो लोग बात की बात में अथवा अपने ही मन से योगेश्वर बन जाना चाहते हैं वे बड़ी उलटी बुद्धि रखते हैं। पुराने

समय में यह विषय अत्यन्त गुप्त रक्खा जाता था और अधिकारी की परीक्षा करके ही दिया जाता था। चाहिए भी ऐसा ही।*

सूत्र ६

८ चिकित्सा आदि से भी स्वास्थ्य की सिद्धि होती है—

शरीर में मल की वृद्धि न रहने ही का नाम स्वास्थ्य है। चाहे वह मल शरीर-सम्बन्धी (वात, पित्त, कफ, पसीना, पीब इत्यादि) हो चाहे विचार-सम्बन्धी (शोक, चिन्ता, दुःख अथवा पापपूर्ण विचार)। हमारे स्वास्थ्य ही पर हमारा दीर्घजीवन और हमारे जीव की उन्नति निर्भर है। मनुष्य का सबसे प्रधान कर्तव्य अपने स्वास्थ्य को ठीक रखना ही है। इसको ठीक रखने के अनेक उपाय हैं जिनमें दो प्रधान उपायों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वे हैं (१) सद्विचार और (२) योगाभ्यास। इन दोनों में भी सद्विचार की महिमा सबसे अधिक है। यदि हम अपने हृदय में गन्दे विचार धारण किये रहेंगे तो हमारा स्वास्थ्य कभी न सुधरेगा चाहे हम

---

* भली भाँति अनुभव प्राप्त किये बिना ही योग सरीखे जटिल विषय पर जो मैंने इस प्रकार इतना लिख देने का दुःसाहस किया है वह केवल योग की महत्ता और वैज्ञानिकता दिखाने ही के लिए किया है। यदि कोई त्रुटि हो तो विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

साक्षात् धन्वन्तरि ही की दवा का सेवन करते हों। यदि हमें अपना स्वास्थ्य ठीक रखना है तो हमें सदैव उच्च और पवित्र विचार ही रखने चाहिएँ। योगाभ्यास सबके लिए नितान्त आवश्यक नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में उसको स्वस्थ और उन्नतिशील बनाये रखने के लिए पर्याप्त शक्ति रहती है। जो मनुष्य उससे भी अधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है उसके लिए योगाभ्यास की क्रियाएँ उपयुक्त हैं।

इन दोनों उपायों के बाद तीसरा नम्बर है (३) **नियमित आहार-विहार** का। ऊपर कहा जा चुका है कि शरीर निरन्तर विकारशील है इसलिए उसमें पोषक पदार्थों की कमी होती ही रहती है। यह कमी पूरी करने के लिए हम लोग भोजन करते हैं। यह प्राकृतिक नियम ही साफ़-साफ़ चिल्लाकर कह रहा है कि हमें केवल वे ही पदार्थ खाने चाहिएँ जो हमारी प्रकृति को स्वस्थ रख सकें और हमारे पोषक पदार्थों की पूर्ति कर सकें। जब भोजनों के द्वारा हमारे शरीर में कोई मलवृद्धिकारी पदार्थ पहुँच जाता है तभी हम अस्वस्थ होने लगते हैं। हमारी प्रवृत्ति गरिष्ठ भोजन (Rich food) की ओर होती है क्योंकि उसमें सारभाग विशेष रहता है। परन्तु हम अपनी पाचनशक्ति की योग्यता की जाँच न करते हुए जब गरिष्ठ पदार्थ पेट में ठूँसते चले जाते हैं तब वही पदार्थ भली भाँति न पचकर मलवृद्धिकारी ही बन जाता है। इसी प्रकार जब हम अपनी जिह्वा की चाट के

कारण नमक मिर्च मसालेदार चटपटी चीज़ें अथवा तम्बाकू, भङ्ग या ऐसे ही अनेक पदार्थ उदरस्थ करते जावेंगे तब इन विजातीय पदार्थों के संयोग से हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक खाद्य पदार्थ के गुण-दोष अलग-अलग हैं। यदि उनका विचार करते हुए हम अपनी शारीरिक शक्ति (constitution) के अनुसार अपना भोजन निश्चित कर लिया करें तो कितना उत्तम हो। विद्वानों का मत है कि हमारे भोजनों में एक तिहाई अन्न, एक तिहाई दूध और एक तिहाई फल होना चाहिए। शुद्ध दूध और ताज़े फल तो सदैव ही लाभदायक हैं परन्तु इनके सिवा सोते समय हर्र इत्यादि का सेवन और उष:काल में जलपान करना भी स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है। मठा, निम्बू, आँवला, हर्र अथवा ऐसे ही पदार्थ यदि मिल सकें तो नित्य ही सेवन किये जायँ। परन्तु इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ अपनी उचित मात्रा में खाने से गुणदायक होता है। कोई पदार्थ अच्छा है इसलिए उसको एकदम अधिक खा जाना उचित नहीं।

आहार के विषय में तीन बातें और भी ध्यान में रखने योग्य हैं। एक तो यह कि कभी भर पेट आहार न करना चाहिए। पेट में तीन चतुर्थांश अन्न और जल से भरे (खाने के समय जल का विशेष पीना उचित नहीं; कुछ समय बाद जल पीना उत्तम है) तथा एक चतुर्थांश वायु के लिए छोड़

दे। ऐसा आयुर्वेदाचार्यों का मत है। कहावत भी है—'मिताहारी सदा सुखी'। यदि हम सूक्ष्म भोजन करेंगे तो हमारी जठराग्नि पर विशेष बोझ न पड़ने से वह सदा प्रबल रहेगी और हमारा हाज़मा दुरुस्त रहने से हमारी तन्दुरुस्ती भी ठीक रहेगी। जिसका हाज़मा दुरुस्त नहीं है वह घड़ों घी पी जाय तो भी सिवाय हानि के लाभ कुछ भी नहीं है। यदि हमारी जठराग्नि प्रबल है तो हमारे शरीर के प्रायः सब रोग उसमें भस्म हो सकते हैं। इसी लिए कई लोगों ने रोगों के दूर करने के लिए उपवासचिकित्सा ही का विधान किया है। जिस समय मलेरिया, कालरा सरीखे संक्रामक रोग फैले हुए हों उस समय यदि मनुष्य अपने आहार में संयम करेगा तो वह इन रोगों से बराबर बच सकता है। बुख़ार इत्यादि में तो लङ्घन कराये ही जाते हैं। यदि हम मिताहारी हैं तो हम गरिष्ठ तथा विजातीय पदार्थों को भी पचा सकते हैं और इस प्रकार शरीर को अनेक रोगों से बचा सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि हम जो कुछ खावें, ख़ूब चबाकर और स्वाद ले-लेकर खावें। ऐसा करने से पाचन-सम्बन्धी अनेकों रसों (सलाइवा आदि) की वृद्धि होती है जो बढ़कर अन्न भली भाँति पचा देते हैं। स्वाद ले-लेकर खाने से हमारे विचारों का असर हमारे हाज़मे में बहुत अच्छा पड़ता है। जिस प्रकार विहार की प्रक्रिया में उसी प्रकार आहार की प्रक्रिया में शीघ्रता करना अत्यन्त हानिकारक है। हमें चाहिए कि

हम छोटे-छोटे ग्रास भली भाँति चबाकर खायँ और दाँतों का काम आँतों से न लें।

तीसरी बात जो आहार के विषय में ध्यान रखने योग्य है वह है व्यायाम। यदि हम अपने शरीर को किसी प्रकार का परिश्रम न करने देंगे तो हमारा आहार किस प्रकार पचेगा? परिश्रम करने ही से हमारी पाचनशक्ति विशेष बढ़ती है। जो मनुष्य मानसिक परिश्रम विशेष करते हैं उनके लिए मस्तिष्कवर्धक, पौष्टिक और गरिष्ठ पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यदि हमारी पाचनशक्ति शारीरिक परिश्रम की कमी के कारण क्षीण हो गई है तो वे गरिष्ठ पदार्थ हमारे मस्तिष्क की पूर्ति नहीं कर सकते। इसी लिए ऐसे आद-मियों को दिमाग़ की कमज़ोरी की शिकायत बनी रहती है। देहाती किसान या मज़दूर बहुत कम बीमार पड़ते हैं और शहरवाले या दिमाग़ी काम करनेवाले लोग सदैव सर्दी-गरमी की शिकायत ही किया करते हैं। उनकी तबीयत के इस प्रकार तोला-माशे होने का कारण केवल उनकी शारीरिक परि-श्रमहीनता है। यह व्यायाम कई प्रकार से किया जा सकता है। घरू धन्धे करना (धोती धोना, लकड़ी फाड़ना आदि) भी एक व्यायाम है, डण्ड-बैठक भी व्यायाम है, टेनिस-फुटबाल भी व्यायाम है, घूमने जाना भी व्यायाम है। प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी व्यायाम का नियमपूर्वक अभ्यास नित्य करना चाहिए नहीं तो उसकी पाचन-शक्ति प्रबल नहीं रह सकती।

जिस प्रकार आहार का विषय महत्वपूर्ण है उसी प्रकार विहार का भी विषय कम महत्वपूर्ण नहीं। प्रत्येक शरीरी जीव में शरीररक्षा और वंशविस्तार की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं। ये दोनों ही प्रबलतम प्रवृत्तियाँ हैं क्योंकि इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के बल पर जीव का इस संसार में विकास होता रहता है। यदि शरीररक्षा की प्रवृत्ति न रहे तो संसार में हमारा अस्तित्व ही न रहे। यदि वंशविस्तार की प्रवृत्ति न हो तो हमारा अस्तित्व कुछ काल-विशेष तक रहकर सदा के लिए अस्त हो जाय। इसी लिए अमीबा सरीखे सूक्ष्मतम जीव से लेकर बड़े-बड़े महात्माओं तक में ये प्रवृत्तियाँ अवश्य विद्यमान रहती हैं। (ये प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से जीती भी जा सकती हैं। परन्तु विकासावस्था में इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेना असम्भव ही सा है। इनका दमन कर लेना सम्भव है परन्तु इन्हें एकदम उखाड़कर फेंक देना बहुत कठिन है।) आहार की प्रवृत्ति तो प्रारम्भ से ही होती है क्योंकि उसकी आवश्यकता प्रारम्भ ही से है परन्तु विहार की प्रवृत्ति कुछ समय बाद से प्रारम्भ होती है। जब हमारा शरीर विकास की एक ऐसी सीमा तक पहुँच जाता है जब वह दूसरा शरीर उत्पन्न करने की क्षमता रखने लगता है, तब इस प्रवृत्ति का उदय होता है। उस काल को यौवन-काल कहते हैं। इसी यौवन-काल में स्त्री और पुरुष का अन्योन्य आकर्षण होने लगता है और इसी काल में विवाह

इत्यादि के बाद यह प्रवृत्ति चरितार्थ की जाती है। आहार-द्वारा हम बाहर से रस लेकर अपने पोषक पदार्थों की वृद्धि करते हैं और विहार द्वारा हम अपने उस सार पदार्थ को, जिसके द्वारा हमारे ही समान नया शरीर बन सकता है, बाहर निकालते हैं। इस प्रकार विहार से हमारी शक्ति की क्षीणता अवश्यम्भावी है परन्तु वह क्षीणता पौष्टिक पदार्थ खाकर तथा उन्हें पचाकर दूर की जाती है। वीर्य ही हमारे मस्तिष्क का सार है इसलिए वीर्य के क्षय होने पर हमारे मस्तिष्क का दुर्बल होना निश्चित है। जिस प्रकार हम आहार में संयम न रखकर मन्दाग्नि बुला लेते हैं उसी प्रकार विहार में संयम न रखकर हम धातुदौर्बल्य सरीखा भयङ्कर रोग बुला लेते हैं। मन्दाग्नि और धातुदौर्बल्य ही वे भयङ्कर बीमारियाँ हैं जिनसे सहस्रों और लाखों मनुष्य ही नहीं बल्कि मनुष्यों की अनेक जातियाँ भी असमय ही में कराल काल के गाल में समा गई हैं।

पशु-पक्षियों में विहार के लिए एक ख़ास समय (season) रहता है। उनका विहार उस नियत समय ही में होगा। मनुष्यों में ऐसी कोई बात नहीं। न उनके लिए दिन का विचार है, न रात का विचार है, न जाड़े-गरमी-बरसात का विचार है। वीर्य-रक्षा का तो मानों कोई महत्व ही नहीं। एक बार के वीर्यपात में लाखों वीर्यकीट रहते हैं। उनमें से एक-एक वीर्य-कीट एक-एक बच्चा पैदा करने की क्षमता रखता है। माता-

पिता की शारीरिक अवस्था के अनुसार करीब डेढ़ साल के बाद एक वीर्य-कीट एक बच्चे के रूप में गर्भ में आता है। इस प्रकार हिसाब लगाने से विदित होगा कि इन डेढ़ वर्षों में हमने न जाने कितने अर्ब-खर्ब वीर्य-कीटों का व्यर्थ ही नाश कर दिया। जिस प्रकार जिह्वेन्द्रिय के सुख के लिए हम अनाप-शनाप खाकर मन्दाग्नि और रोग बुला लेते हैं उसी प्रकार भोगेन्द्रिय के सुख के लिए हम विहार में उच्छृङ्खल होकर धातु-दौर्बल्य और नाश ही बुला लेते हैं। हमारी वीर्यरक्षा जितनी अधिक होगी, हमारी शक्ति और स्वास्थ्य भी उतने ही अच्छे होंगे। हमारी विहार-वासना को नियमित करने ही के लिए विवाह इत्यादि के अनेक बन्धन बाँधे गये हैं। फिर भी पर-कीयाओं और गणिकाओं का अस्तित्व ही सिद्ध कर रहा है कि अभी समाज ने इस विषय में विशेष सफलता नहीं प्राप्त की है। बाहरी बन्धन एक नहीं अनेक बना लिये जायँ परन्तु यदि भीतरी विचार सुधारने का प्रयत्न न किया गया तो कोई लाभ न होगा। हम यदि अपनी कड़ाई से किसी युवक अथवा युवती का पारस्परिक संयोग न भी होने दें फिर भी वे अपने विचारों में एक दूसरे का ध्यान करते हुए अपने शरीर को काँटा बना लेंगे अथवा स्वप्नदोष सरीखी बीमारियाँ पैदा कर लेंगे। स्त्री और पुरुष का शारीरिक संयोग न होने देना ही ब्रह्मचर्य नहीं है। वास्तविक ब्रह्मचर्य तो वह है कि जिसमें मन से भी विहार की ओर प्रवृत्ति न होने पावे। इस प्रवृत्ति को

एकदम दमन कर देना अभीष्ट नहीं है किन्तु इसको उचित मार्ग से आगे बढ़ने देना ही अभीष्ट है। उस उचित मार्ग को पहिचानने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक युवक को वीर्य तथा विवाह-सम्बन्धी प्रत्येक बातों का ज्ञान अच्छी तरह कराया जाय। खेद है कि अनेक सभाजों में यह विषय अत्यन्त गुप्त और घृणित समझा गया है। और नवयुवकों के सामने इस विषय की चर्चा करना ही पाप समझा गया है। इस विषय को घृणित समझने का तो कोई कारण नहीं है। जिस विषय पर भावी सन्तानों की उत्पत्ति और विकास तथा वर्तमान युवकों की जीवनी शक्ति निर्भर है उसकी उपेक्षा करना तथा उसे घृणित बताना ठीक नहीं। हाँ यदि ऐसे विषयों की चर्चा खुले तौर से न की जाय तो भी इस विषय की उत्तमोत्तम पुस्तकें हम नवयुवकों के हाथ अवश्यमेव पहुँचा सकते हैं।

अपने विहार को नियमित रखने के लिए (१) सद्विचार रखना, (२) कामोत्तेजक पदार्थों में प्रवृत्ति न जमने देना, (३) स्त्री-पुरुष का अधिक एक संग न रहना, (४) सरल आहार रखना, (५) ब्रह्मचर्य के महत्व पर ध्यान देना, (६) कुछ दिन अथवा तिथियों में ब्रह्मचर्य ही रखने का निश्चय करना, (७) स्त्रियों अथवा स्त्रैणों की संगति न करना इत्यादि अनेक उपाय बताये जा सकते हैं। इसी प्रकार अभ्यास से हम अपने विहार को बराबर नियमित रख सकते हैं और इस तरह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी कहा सकते हैं। जब तक शरीर का पूर्ण विकास

नहीं हुआ है तब तक तो प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह तन और मन दोनों से ब्रह्मचारी रहे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह अपनी विकासशील शक्ति का ह्रास करके अकाल मृत्यु के चक्कर में जा गिरता है। मनुष्य की पूर्णायु १२० वर्ष की है। अर्थात् यदि वह अपने स्वास्थ्य के विरुद्ध कुतर्क न करेगा तो वह १२० वर्ष तक मज़े में जी सकता है। परन्तु अधिकांश मनुष्य ६० वर्ष तक मुश्किल से पहुँच पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश मनुष्य आहार-विहार में संयम न रखकर अपनी इस शरीर-रूपी धरोहर को नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। यदि हम आहार-विहार में संयम करना प्रारम्भ कर दें तो हमारा दीर्घजीवन अवश्यम्भावी है।

कई लोग प्रश्न कर सकते हैं कि मनुष्य जाग्रत् अवस्था में तो किसी प्रकार संयम कर सकता है परन्तु स्वप्नावस्था में होने-वाली बातों का वह किस प्रकार संयम कर सकता है। इसका उत्तर यही है कि स्वप्न होना न होना हमारे ही विचारों, प्रवृत्तियों और आदतों का परिणाम है। साधारणतया हम लोगों के लिए छः घण्टे की नींद बहुत काफ़ी है। जब हम इससे अधिक सोने का प्रयत्न करते हैं तब हमारे स्नायुतन्तु और मस्तिष्कतन्तु, जो पर्याप्त विश्राम के बाद प्रबुद्ध होना चाहते हैं, आन्दोलन करने लगते हैं और उस आन्दोलन का परिणाम यह होता है कि हमारी पूर्वसञ्चित ज्ञान-राशि के संस्कारों में प्रवृत्ति और कल्पना के अनुसार हलचल होने लगती

है और उसी हलचल के कारण हमें स्वप्न दिखाई देता है। यदि हम आवश्यकता से अधिक न सोवें तो हमें स्वप्न बहुत कम दिखाई देंगे। इसी प्रकार जब हम पेट को अन्न से अधिक ठूँस देते हैं तब भी हमारी आन्तरिक शक्ति को विश्राम नहीं मिलने पाता। और इसी लिए नींद में गड़बड़ होने से हमें स्वप्न दिखाई देता है। स्वप्न का तीसरा कारण है हमारी चिन्ता और मानसिक परिश्रम। यदि हम तरह-तरह की चिन्ताओं और विचारों से अपने मस्तिष्क को फ़ुरसत ही न पाने देंगे तो सोने के समय भी वह बेचारा उसी चिन्ता की उधेड़-बुन में पड़ा रहेगा और उसी चिन्ता के कारण वैसे स्वप्न भी हमें दिखाई देंगे। जो चिन्ता से जर्जर नहीं होता उसे स्वप्न भी नहीं सता सकते।

आहार और विहार का संयम बड़े ही महत्व की बात है। यहाँ केवल संक्षेप में इसका दिग्दर्शन कराया गया है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इस विषय का जितना अधिक अनुभव करके जितना अधिक संयमी हो सके उतना बने। आहार में तो प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने ही संयम का ध्यान रह सकता है परन्तु विहार में वास्तविक संयम तभी होगा जब वह दोनों ओर से (पति और पत्नी दोनों से) हो; अन्यथा यदि एक संयमी हुआ और दूसरा संयमी न बनाया जा सका तो वास्तविक शान्ति न होकर कौटुम्बिक अथवा सामाजिक उच्छृंखलता ही गले पड़ेगी।

(४) **स्नान** का नम्बर चौथा है। यों तो हमें प्रत्येक वस्तु की सफ़ाई देखनी चाहिए। हमारे खाने का अन्न, पीने का पानी, रहने का घर, पहिनने के कपड़े इत्यादि सब साफ़-सुथरे और शुद्ध होने चाहिएँ परन्तु इन बाहरी सफ़ाइयों से अधिक महत्वपूर्ण हमारे शरीर ही की सफ़ाई है। यदि हमने अपने शरीर ही की सफ़ाई का अभ्यास डाला तो हमें बाहरी सफ़ाई की ओर भी आप ही आप अनुराग हो जायगा और हम दाना-पानी, घर-कपड़े इत्यादि साफ़ रखने की सदैव इच्छा करेंगे। हमारे शरीर की यह सफ़ाई स्नान से होती है। यहाँ पर स्नान का अर्थ केवल जल का अभिषेक ही नहीं है। वह शब्द कुछ विशद अर्थ में लिया गया है। यहाँ पर स्नान का अर्थ केवल जल से ही नहीं बल्कि पाँचों तत्वों से इस पंचतत्वात्मक शरीर की शुद्धि करना है। इस दृष्टि से स्नान पाँच प्रकार का होगा (अ) मृत्तिकास्नान, (आ) जलस्नान, (इ) ज्योतिस्नान, (ई) वायुस्नान और (उ) आकाशस्नान। मृत्तिकास्नान के अन्तर्गत उबटन लगाना, राख-मलना, मिट्टी लगाना आदि है। जलस्नान के अन्तर्गत तेल लगाना आदि है। ज्योतिस्नान के अन्तर्गत पंचाग्नि तापना, देह भर में सूर्यज्योति पड़ने देना आदि है। वायु-स्नान में प्राणायाम करना या सवेरे-शाम की ठण्ढी हवा खाना आदि सम्मिलित है। आकाशस्नान में ओऽम् सरीखे अनाहत शब्दों की ध्वनि करना आदि है।

प्रत्येक मनुष्य से ये सब स्नान नित्य विधि-विधान के साथ नहीं हो सकते। परन्तु इन पंचस्नानों में जितनी आवश्यक बात है उतनी तो प्रत्येक मनुष्य ही नित्य कर सकता है। मिट्टी, जल, सूर्य-प्रकाश और वायु तो सर्वत्र सुलभ है इसलिए इनके उपयोग में कमी करने का कोई कारण ही नहीं। हम शौच के बाद हाथों को मिट्टी से धोते हैं। उतना ही पर्याप्त नहीं, हमें दूसरी कर्मेन्द्रियों को भी (पेशाब और पाख़ाने की इन्द्रियों तथा पैरों को भी) मिट्टी या राख से अच्छी तरह धोना चाहिए। पाँचवीं कर्मेन्द्रिय वाक् (दाँत, जीभ इत्यादि) भी राख, मंजन या दतून से भली भाँति साफ़ करनी चाहिए। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों का **मृत्तिकास्नान** कराकर ज्ञानेन्द्रियों का (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा का) अच्छी तरह **जलस्नान** कराना चाहिए। हम अक्सर काकस्नान किया करते हैं। ज़रा सा जल डाला अथवा जल में एक ग़ोता लगाया कि स्नान हो गये। यह स्नान करने का बड़ा बुरा ढंग है। हमें चाहिए कि हम ख़ूब मल-मलकर स्नान करें और स्नान करने का मतलब केवल त्वचा में जल डाल लेना ही न समझें बल्कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की भली भाँति मलशुद्धि उसका मुख्य अर्थ समझें। आजकल जल का महत्व दिन-दिन विशेष प्रकट हो रहा है। डाक्टर लुई कोने सरीखे महानुभाव तो केवल जलचिकित्सा से सब रोग दूर करने का दावा करते हैं। इस जल से भी बढ़कर महत्व सूर्यज्योति का हो रहा

है। **ज्योतिस्नान** के लिए ग्रहों की ज्योति और विशेष कर प्रातःकाल नक्षत्रों के प्रकाश में घूमना या सबेरे थोड़ी देर तक घाम तापना ही पर्याप्त है। यदि हम अपने सम्पूर्ण शरीर में सूर्य की रोशनी पड़ने देंगे तो हमारी शक्ति की वृद्धि होकर जठराग्नि इत्यादि प्रबल होगी और शरीर के अनेक रोग दूर हो जायँगे। राजयक्ष्मा सरीखे राजरोगों के लिए भी सूर्य-ज्योति अपूर्व गुणकारी सिद्ध हुई है। हाल में तो सूर्यरश्मि-चिकित्सा (cromopathy) का ही प्रचार होने लगा है जिसमें सूर्यरश्मि को रङ्गविरङ्गी शीशियों के जल में डाल-कर उसी सूर्यज्योतियुक्त जल से सब रोगों के नाश करने की युक्ति निश्चित की गई है। **वायुस्नान** का तो कहना ही क्या है। उसी की सुविधा के लिए तो शहरों में बड़े-बड़े उद्यान, लान, पार्क आदि निर्माण किये जाते हैं। जिस क्रिया से शुद्ध वायु प्राप्त हो सके (चाहे बाहर मैदान में घूमने से, चाहे उद्यान में टहलने से और चाहे प्राणायाम से) उसे वायु-स्नान कहते हैं। इस स्नान से हमारा रक्त शुद्ध होता है और हममें प्राणों की वृद्धि होती है। और कुछ यदि न हो सके तो शुद्ध खुली जगह में कम से कम दीर्घ श्वास-प्रश्वास क्रिया (deep breathing) तो अवश्य करनी चाहिए। हमारे शरीर को जितने अधिक परिमाण में शुद्ध वायु मिलेगी उतना ही अच्छा है। **आकाशस्नान** किसी ध्वनि-विशेष पर ध्यान करने से होता है। जब हम साँस लेते हैं तब "सो"

सरीखी ध्वनि निकलती है और जब साँस छोड़ते हैं तब "हम्" सरीखी ध्वनि होती है। इस प्रकार हमारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में आप ही "सोहम्" का शब्द हुआ करता है। यही अजपा जप है क्योंकि इन शब्दों का जप आप ही आप होता है, हमें जपना नहीं पड़ता। यह सोहम् शब्द संस्कृत में सार्थक है और इसका मतलब होता है "वह (पूर्णत्व) मैं हूँ"। इसी सोहम् का सार शब्द है ओऽम् जो सम्पूर्ण शक्ति का आदिम रूप माना गया है। ऐसे ही किसी शब्द का कुछ देर ध्यान-पूर्वक उच्चारण करने से आकाशस्नान होता है।

मृत्तिका और जलस्नान से इन्द्रियों की शुद्धि, पुष्टि और स्वस्थता प्राप्त होती है। सूर्यस्नान से जठराग्नि और मन-सम्बन्धी शक्ति की शुद्धि, पुष्टि तथा स्वस्थता होती है। वायु-स्नान से रक्त, प्राण तथा बुद्धि-सम्बन्धी शक्ति की शुद्धि, पुष्टि तथा स्वस्थता प्राप्त होती है। और आकाशस्नान से स्नायु, मस्तिष्क तथा चित्त और अहङ्कार-सम्बन्धी शक्ति में विशदता आती है, हमारे विचार शुद्ध होते हैं तथा इन सबकी शुद्धि, पुष्टि और स्वस्थता प्राप्त होती है। हमें आवश्यक है कि बाहरी सफ़ाई के साथ ही साथ हम इन पाँचों प्रकार के स्नान का भी अभ्यास रक्खें। ये स्नान भी हमारी प्रकृति और शक्ति के अनुसार होने चाहिएँ। यदि ये नियमपूर्वक किये जायँ तो इनसे हमें आशातीत स्वास्थ्यलाभ हो सकता है।

(५) **चिकित्सा**—जो ऊपरी चार उपायों का अवलम्बन करेगा उसे वैद्यों, डाक्टरों इत्यादि की शरण जाना ही न पड़ेगा। परन्तु अधिकतर मनुष्य ऊपर बताये हुए उपायों का अवलम्बन नहीं करते और इसी लिए उन्हें वैद्यों और डाक्टरों की शरण जाना अनिवार्य हो जाता है। इस बाहरी चिकित्सा से हम लोगों को स्वास्थ्यलाभ अवश्य होता है परन्तु सद्विचार स्नान और नियमित आहार-विहार से जो स्वास्थ्य-लाभ हमें हो सकता है उसकी बात ही दूसरी है। पशु-पक्षी प्रवृत्ति के नियमों से नियमित-आहार-विहारवाले होने के कारण बहुत कम बीमार पड़ते हैं, परन्तु मनुष्य स्वतन्त्र विचार-वाला होने के कारण अक्सर कुतर्क कर बैठता है और उसे वैद्य, डाक्टरों का मुँह ताकना पड़ता है। यदि चिकित्साशास्त्र न हो तो आजकल के सभ्य समाज के ९९ प्रतिशत मनुष्यों को अपने स्वास्थ्य के लाले पड़ जायँ। इसलिए यद्यपि यह स्वास्थ्यलाभ का निकृष्ट उपाय है तथापि इस समय यही सबसे आवश्यक उपाय बन गया है। कोई भी गृहस्थ इस उपाय की उपेक्षा नहीं कर सकता। असभ्य जङ्गलियों से लगाकर सभ्यतम नागरिकों और राष्ट्रों तक में यह शास्त्र अनेक रूप धारण करके अपना प्रभुत्व दिखा रहा है। इन सब शाखाओं और रूपों में केवल उसी रूप पर ज़ोर देना चाहिए जो विज्ञान की भित्ति पर स्थित हो (अर्थात् जो शरीररचना, रोगनिदान, वस्तु के गुण-दोष, औषधि के गुण-दोष इत्यादि के वैज्ञानिक

वर्णन से पूर्ण हो)। फिर भी अनेकों देहातियों और जङ्गलियों को कई अमूल्य नुसख़े और जड़ी-बूटियाँ विदित रहती हैं। उनकी भी उपेक्षा करना ठीक नहीं। बल्कि उनका संग्रह करके उनकी वैज्ञानिक परीक्षा करना तथा सर्वसाधारण के लाभ के लिए उनका प्रचार करना ही उचित है। आजकल तो समय ऐसा आ रहा है कि प्रत्येक गृहस्थ को किसी न किसी प्रकार के चिकित्साशास्त्र का साधारण अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेना अनिवार्य सा हो गया है। यदि वह इस शास्त्र से एकदम अनभिज्ञ है तो उसे अपने कुटुम्बियों को स्वस्थ रखने के लिये प्रायः नित्य ही वैद्यों और डाक्टरों की जेब गरम करनी पड़ेगी

बुद्धि प्रकरण

सूत्र १०

१० बुद्धि चेतनाशील है—

चेतना ही बुद्धि का धर्म है। यदि चेतना न हो तो बुद्धि के अस्तित्व का पता लगना भी दुर्लभ है। वस्तु का ज्ञान हमें चेतना ही के कारण होता है। यदि एकदम अचेतन अवस्था हो तो किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो सकेगा। जीव तो एक बहुत ही सूक्ष्म वस्तु है और उसके तीनों रूपों में से किसी भी रूप को हम किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। उसके रूपों को हम केवल उनके भिन्न-भिन्न धर्मों ही से जान सकते हैं। हम चेतना का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। इसी चेतना के कारण हमको ज्ञान प्राप्त होता है और इसी के अभाव में हमें ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती इसलिए अवश्य ही यह चेतना (consciousness) हमारे जीव के उस रूप का धर्म है जिस रूप से हमें ज्ञान की उपलब्धि होती है। वही रूप बुद्धि है। इसी लिए कहा गया है कि बुद्धि चेतनाशील है।

जीव किसी समय एकदम अचेतन हो जाता हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जाग्रत अवस्था में तो हमारी चेतना पूरी तरह विकसित रहती ही है। स्वप्नावस्था

में भी हमें स्वप्न का ज्ञान हुआ करता है और फिर उसका स्मरण भी रह जाता है इसलिए उस समय भी चेतना अवश्य वर्तमान रहती है। जब हम प्रगाढ़ निद्रा में रहते हैं उस समय भी हमें अपने अहङ्कार की शान्ति का बोध होता रहता है। तभी तो हम उठने के बाद कहते हैं कि "मैं सुख से सोया"। यदि पहले का ज्ञान हमें कुछ भी न होता तो यह अनुभवात्मक वाक्य कहाँ से आता? इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था में भी हम एकदम अचेतन नहीं हो जाते। इन अवस्थाओं में जीवात्मा के विश्राम के साथ चेतना भी विश्राम करने लगती है परन्तु उसका एकदम अभाव नहीं हो जाता। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि हमारी चेतना का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से हमारे जीवन पर्यन्त चलता रहता है। (बौद्ध दर्शन में तो ऐसे चेतना-प्रवाह के अतिरिक्त और दूसरी तरह से जीव की सत्ता मानी ही नहीं गई है।) फिर भी, साधारण दृष्टि से देखने पर जिस प्रकार हम विषय-ज्ञान (इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान) ही को सब ज्ञान समझते हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था को ही चैतन्य अवस्था मानते हैं और सोये हुए मनुष्य के लिये हम कहते हैं वह अचेत (अचेतन) हो गया। इस दृष्टि से हमारी चेतना हमारी जागृतावस्था ही तक रहती है।

जागृत अवस्था में भी हमारी चेतना सदा सब विषयों पर एक सी नहीं होती। यदि हम किसी फूल की ओर देखें तो कभी उसके रङ्ग पर हमारा विशेष ध्यान आकृष्ट होगा, कभी

रूप पर, कभी सुवास पर और कभी उस फूल की अवस्था अथवा झाड़ पर। जब हम किसी प्राकृतिक दृश्य की ओर देखते हैं तब कभी हमारी चेतना पर्वत की ओर, कभी समीप बहती हुई नदी की ओर, कभी पास लगे हुए वृक्षों की ओर और कभी आकाश में उठते हुए बादलों की ओर जायगी। इस प्रकार विदित होता है कि हमारी चेतना के वृत्त में ऐसे अनेक विषय केन्द्र तक आते और हटते रहते हैं। एक समय में केवल एक ही विचार हमारी चेतना के केन्द्र में रहता है फिर भी वह एक विचार वहाँ देर तक नहीं ठहर पाता। अधिक-तर तो एक सेकेण्ड भी ठहरना दुर्लभ होता है। यदि हम अपने विचारों पर ध्यान दें तो हमें विदित होगा कि हमारे विचार हरदम शृङ्खला-बद्ध (in association) रहते हैं और ज्योंही कोई पदार्थ चेतना के केन्द्र में आया और हमने अपना ध्यान वहाँ से न हटाया त्योंही हमारे चेतना के केन्द्र पर उस पदार्थ से सम्बन्ध रखनेवाली विचार-शृङ्खलाओं का सिनेमा सा होने लगेगा। उदाहरणार्थ उस प्राकृतिक दृश्य में यदि हमने झाड़ से दृष्टि न हटाई तो हमारे हृदय की अवस्था के अनुसार क्रमशः वैसे ही झाड़ों का स्मरण, उन झाड़ों के सम्बन्ध में हमारे बगीचे का स्मरण, हमारे बगीचे के साथ हमारे माली की नालायकी का स्मरण, माली के साथ श्रमजीवियों की दुर्लभता का स्मरण, और उससे देश की वर्त-मान दशा का स्मरण होता चला जायगा। अथवा यदि हमारी

चित्त-वृत्ति दूसरी हुई तो वृक्षों के साथ वन्य जीवन का स्मरण, तपोभूमि का स्मरण, पूर्वकालीन शिक्षा का स्मरण इत्यादि होता जायगा। मतलब यह है कि हमारी चेतना के केन्द्र में उस प्राकृतिक दृश्य का झाड़ ही न बना रहेगा। ये विचार-शृंखलाएँ (association of ideas) इतने सपाटे से दौड़ जाती हैं कि हमको कभी-कभी एक विचार का दूसरे से सम्बन्ध ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। ये विचारों की शृङ्खलाएँ इतनी दुर्दमनीय रहती हैं कि एक काम करते हुए भी मन हज़ार बातों की ओर दौड़ जाता है। यहाँ तक कि ख़ाली बैठने पर भी हमारे मन में कोई न कोई विचार आया ही करते हैं। विचारों और विषयों का यह प्रवाह एक प्रकार से अनियन्त्रित ही सा रहता है। इसी के नियन्त्रित करने की शक्ति का नाम मनोबल या योग है। एकाग्रता की शक्ति से जब हम किसी एक ही विषय अथवा विचार पर दृढ़ ध्यान इस तरह जमा सकेंगे जिसको दूसरा कोई भी विचार उपस्थित होकर डिगा न सके तभी हमें जानना चाहिए कि हम किसी भी विषय को ग्रहण कर लेने की शक्ति पा गये। ऐसी ही शक्तिवाले को संसार में कुछ भी जानना दुर्लभ नहीं है। वह किसी भी विषय में ध्यान जमाकर उसे बात की बात में स्पष्ट कर सकता है।

यह तो हुआ चेतना के केन्द्र तक आये हुए पदार्थों का हाल। अब बहुत से पदार्थ ऐसे रहते हैं जो केन्द्र तक कभी आते ही नहीं और उनका स्पष्ट ज्ञान हमें होता ही नहीं

परन्तु यदि उन पदार्थों का अभाव हो जाता है तो हमें वह अभाव एकदम जान पड़ने लगता है। जैसे, हमें चाहे अपने कमरे की सब चीज़ों का ज्ञान न हो परन्तु यदि कोई किसी चीज़ को उठा ले जाय तो हमें देखते ही ज्ञात हो जाता है कि वहाँ कोई पदार्थ रक्खा हुआ था जो इस समय नहीं है। जैसे, किसी धनी बालक के गहनों पर चाहे हमारा ध्यान कभी न गया हो परन्तु जब वही बालक उन गहनों से रहित होकर हमारे सामने आवेगा तब हम अवश्य कह देंगे कि उसके अङ्ग सूने जान पड़ते हैं। हम यह चाहे भले ही न कह सकें कि उन अङ्गों में क्या था परन्तु उनका सूनापन हमें ज़रूर खटक जायगा। इससे विदित होता है कि हमारे कमरे के सब पदार्थ और उस बालक के सब आभूषण हमारी चेतना की सीमा के बाहर नहीं थे फिर भी वे कभी चेतना के केन्द्र में नहीं आये। वे परिधि के पास कहीं पड़े रहे। ऐसे पदार्थों के ज्ञान को औपचेतनिक ज्ञान (subconscious knowledge) कहते हैं।

हमारी चेतना अथवा उपचेतना के परदे पर एक बार जो दृश्य दिखलाई दे जाते हैं वे सदैव वहीं अङ्कित नहीं बने रहते। नई-नई परिस्थिति में नये-नये विषय ही हमारी चेतना के भीतर अपनी झाँकी दिखाया करते हैं और पुराने विषय सिनेमा के फ़िल्मों की तरह संस्कार रूप से हमारी अचेतन अवस्था की अँधेरी कोठरी में भरते चले जाते हैं। ज्योंही

उनकी ज़रूरत हुई त्योंही वे शृङ्खला से बद्ध होकर चेतना के क्षेत्र में दौड़ते चले आते हैं। जब तक उनकी ज़रूरत नहीं तब तक संस्काररूप में वे उसी अँधेरी कोठरी के भीतर पड़े रहते हैं। ऐसे-ऐसे न जाने कितने संस्कार (dispositions) हमारे भीतर भरे होंगे। इन्हीं संस्कारों के रूप में हमारी ज्ञान-राशि सञ्चित रहती है। ये संस्कार एक दूसरे से जितने सम्बद्ध होंगे उतने चिरस्थायी होंगे और जितने एकाकी रहेंगे उतनी ही जल्दी नष्ट हो जायँगे। यदि हमने किसी युद्ध की घटना पढ़कर उसका संस्कार अपने हृदय में अङ्कित करना चाहा तो घटना का संस्कार तो हमारे हृदय में जल्दी हो जायगा परन्तु सन्, संवत् या व्यक्तिवाचक नामों के भी संस्कार बनाये रखने के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा।

इन्हीं संस्कारों से हमारी बुद्धि, प्रवृत्ति और रुचि इत्यादि में परिवर्तन होता रहता है। चेतना के केन्द्र में आये हुए विषयों का जो कुछ ज्ञान होता है उनके संस्कारों पर तो हमें विचार अथवा निरीक्षण करने का अवसर भी रहता है परन्तु उपचेतना के मार्ग से आये हुए विषयों का संस्कार हममें आप ही आप होता जाता है और उन पर विचार करने का हमें अवसर तक नहीं मिलता। इसी लिए विद्वानों ने नैतिक नियमों इत्यादि का ज्ञान उपचेतना के मार्ग से होने देना ही प्रशस्त समझा है। व्याख्यानदाता के समान "सत्य बोलो", "चोरी मत करो", "धर्म से रहो" इत्यादि आदेश-वाक्यों की

अपेक्षा उन्हें ऐसी-ऐसी कहानियाँ सुनाना अथवा नाटक दिखाना पसन्द है जिनमें बालक तो प्रत्यक्ष में कथा-प्रसंग ही पर ध्यान दे रहा है परन्तु अलक्षित रूप से उन कथाओं में निहित नैतिक सिद्धान्त उपचेतना के मार्ग से अपने संस्कार हृदय में अङ्कित करते चले जा रहे हैं। पूर्वकाल की भारतीय शालाओं में कदाचित् इसी लिए वन्य दृश्यों और सरल जीवन की परिस्थिति रक्खी जाती थी जिससे उसका प्रभाव उपचेतना के मार्ग से सदा बालकों के हृदय में पड़ता रहे और उनके संस्कारों में विश्व की एकात्मता और सरल जीवन की छाप अधिकाधिक पड़ती जाय। कई महापुरुष लोग अकसर धर्मप्रचारकों के समान उपदेश नहीं देते फिरते। उनके साथ रहने से हम भी ऐसा नहीं सोचते कि हम अपने जीवन को किसी विशेष प्रकार से सुधार रहे हैं। फिर भी कालान्तर में यदि हम विचार करके देखेंगे तो हमें स्वयं ही अपनी रहन-सहन, रुचि-प्रवृत्ति आदि में विशेष परिवर्तन जान पड़ने लगेगा। यह परिवर्तन इन्हीं औपचेतनिक ज्ञान के संस्कारों के कारण है। सत्सङ्ग अथवा दुःसङ्ग में यह आवश्यक नहीं है कि उस सज्जन अथवा दुर्जन की बातें अथवा उपदेश सुनकर ही हम सुधरते या बिगड़ते हों। असल में तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले औपचेतनिक संस्कार ही हमारी प्रवृत्ति को ऊर्ध्वमुखी या अधोगामिनी कर देते हैं। इसी लिए अपनी परिस्थिति का हमें सदैव बहुत ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के समान हमारी चेतना की भी (१) चेतन, (२) उपचेतन, (३) अचेतन ऐसी तीन अवस्थाएँ होती हैं। ऐसी तीन अवस्थाओंवाली चेतना ही बुद्धि का धर्म है और इसी के द्वारा बुद्धि ज्ञान को ग्रहण करती है।

सूत्र ११

११ ज्ञान ही बुद्धि का फल है—

किसी भी बात का ज्ञान होना हमारी उसी चेतनाशक्ति का फल है। उसी शक्ति के कारण हममें किसी विषय अथवा पदार्थ का भान होता है और उसी के कारण हमें उस पदार्थ अथवा विषय का ज्ञान होता है। यह ज्ञान हमें विशेष कर इन्द्रियों से होता है और अनुभव से ही इसकी वृद्धि होती है। बालक पहिले-पहिल अपने शरीर को, अपनी खाट को, अपनी माँ के शरीर को, और कमरे की दीवालों को एक ही समझता है। क्रमशः अवस्थान्तर और पार्थक्य देखते-देखते उसे विभिन्नता का अनुभव होने लगता है और फिर वह अपनी देह, अपनी माँ, अपनी खाट यहाँ तक कि अपने ही आँख, कान, रोयें और ज़मीन पर रेंगती हुई छोटी-छोटी चींटियों तक में विभिन्नता पहिचानने लगता है।

इस जीवन में हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका आधार विषय-ज्ञान (इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान) ही है।

हमारी इन्द्रियाँ जितनी शक्तिशालिनी होंगी, हमारा विषय-ज्ञान भी उतना ही प्रबल होगा और उसी के अनुसार हमारा अनुभव भी उतना ही बढ़ा-चढ़ा हो सकता है। इस इन्द्रियों की शक्ति-वृद्धि के लिए ही हम सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का निरीक्षण किया करते हैं। आश्चर्य है कि मनुष्य यद्यपि सबसे उन्नत जीव है फिर भी इन्द्रियों की शक्ति विशेष कर घ्राणशक्ति कई पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों में मनुष्य से अनेक गुण अधिक होती है। गृध्र मीलों की चीज़ देख लेता है, ऊँट कोसों से पानी का स्थान सूँघ कर जान जाता है। इतना ही क्यों, बन्दरों को किसी पिटारी में बन्द करके कोसों दूर पर छोड़ आइए, वे फिर अपने स्थान पर एकदम आ जावेंगे। जब महामारी इत्यादि संक्रामक रोगों का प्रचार होनेवाला होगा तब कुत्तों का रोना, कौवों और शृगालों का बढ़ना और व्याकुल होना प्रारम्भ हो जायगा (जान पड़ता है कि ऐसे ही अनुभवों पर शकुन-शास्त्र निर्माण किया गया है)। जब मौन्ट पीरी पहाड़ से ज्वालामुखी का स्फोट होनेवाला था उसके कुछ दिन पहिले ही से जानवर, पक्षी तथा सर्प आदि व्याकुल हो-होकर भागने लगे थे। मनुष्यों को उसका कारण विदित ही न हो सका। निदान एक दिन ज्वालामुखी फूटा और लाखों मनुष्य उसकी अग्निवर्षा से जल गये परन्तु पशु-पक्षी एक भी न मरने पाया। इन सब बातों से जान पड़ता है कि मनुष्यों में इन्द्रियों की शक्ति ऐसे जानवरों से बहुत ही कम दर्जे की है। कहा जाता

है कि उत्तरी ध्रुव के पास रहनेवाले एस्किमो लोग पके मांस को केवल सूँघकर यह बता सकते हैं कि अमुक मांस किसी पशु की जाँघ का है या कमर का है या कलेजे का है। यदि यह बात सच है तो क्या इससे यह समझना चाहिए कि विकास के साथ जीवों की इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण पड़ जाती है ?

ऊपर के दृष्टान्तों से यद्यपि यह विदित होता है कि पशुओं की इन्द्रियों में विशेष शक्ति रहती है फिर भी उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें मनुष्यों की अपेक्षा विशेष ज्ञान रहता है। ज्ञान तो असल में उस जीव में विशेष होगा जिसमें अनुभवग्राहिका बुद्धि (learning by experience) विशेष हो। जो मनुष्य एक विषय को सौ बार पढ़ता है परन्तु फिर भी उसे याद नहीं रख सकता तथा उससे कोई लाभ नहीं उठा सकता तथा जो मनुष्य एक ही दो बार पढ़कर उसे याद कर लेता है और उससे लाभ उठाने लगता है, इन दोनों मनुष्यों में हम पीछेवाले मनुष्य ही को ज्ञानी कहेंगे। यही हाल पशुओं और मनुष्यों का है। मनुष्यों में चाहे कतिपय पशुओं के समान विषय-ज्ञान न हो परन्तु उनमें अनुभव-ग्राहिका बुद्धि इतनी प्रबल है कि वे उस साधारण विषय-ज्ञान ही से अपनी शक्तियों की बदौलत असाधारण लाभ उठा सकेंगे। पतङ्ग यदि ५० बार आग में जल चुका है और ५१वीं बार फिर उसके सामने दीपक लाया जाय तो फिर वह उसी में

जल मरेगा। मनुष्य यदि एक बार गरम दूध से जल चुका है तो मठा भी फूँक-फूँककर पियेगा। मकड़ी के जाल का यदि एक तार भी टूट जाय तो वह उसे न सुधारकर दूसरा ही जाल बनाने लगेगी। मनुष्य के कपड़े या घर में यदि एक छेद हो जाय तो वह उनका परित्याग कर नये कपड़े या नये घर के बनाने का परिश्रम कभी न उठावेगा बल्कि उस छेद ही की मरम्मत कर लेगा।

दूसरी योनियों के जीवों से मानवीय जीव अधिक विकसित हैं और उनकी उन्नति की सीमा नहीं। पशु-पक्षियों की प्रत्येक योनि में प्रायः एक ही तरह की भावनाएँ, एक ही तरह के कार्य और एक ही तरह के विचार होंगे। और उनकी सम्पूर्ण कार्यवाहियों और विचारों की सीमा पहिले ही से निश्चित सी रहेगी। ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति के ऐन्द्रजालिक डण्डे के बल पर अथवा जगत्-सूत्रधार के हाइप्नटिक प्रभाव के बल पर विश्व के मनुष्येतर सम्पूर्ण जीव अपना जीवन-यापन करते रहते हैं। बया पक्षी जिस प्रकार पहिले दो-मुँहे घोंसले बनाया करता था वैसे ही आज तक बनाता रहता है। मकड़ी जिस प्रकार पहिले कीड़ों को जाल में फाँसकर खाया करती थी वैसे ही अब तक किया करती है। बन्दर जिस तरह पहिले अपने बच्चों को दबाये जङ्गल में घूमा करते थे वैसे ही अब भी झाड़ों पर घूमा करते हैं। मनुष्यों की गृह-निर्माण-कला, भोजन-अन्वेषण की क्रिया तथा रहन-सहन में कितनी जल्दी कितना

इसी लिए वह प्राकृतिक प्रवृत्तियों की परवा न करके अपनी रुचि के अनुसार ही सुख-भोग इत्यादि चाहेगा; चाहे उसके लिए निसर्गदत्त समय या साधन हों अथवा न हों। यदि समय और साधन सुलभ न हों तो वह वैसे साधनों का निर्माण कर लेगा। मनुष्यों का ज्ञान पहिले ही से उन्नत नहीं रहता इसलिए वे अधिकतर यह नहीं समझते कि क्या काम करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। पशु-पक्षियों में यह गड़बड़ ही नहीं है। योनि-विशेष के शरीर-धर्म के अनुसार जो करना चाहिए वह सब वे प्राकृतिक प्रेरणा से कर ही लिया करते हैं, जो न करना चाहिए उसके लिए उनमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। इसी लिए नैतिक नियमों का शास्त्र (code of morals) मनुष्यों के लिए आवश्यक है, दूसरे प्राणियों के लिए नहीं। धर्माधर्म-विवेक विशेष ज्ञान ही का फल है। जिन जीवों में व्यक्तित्व की विशेष स्वतन्त्रता अतः विशेष ज्ञान रहेगा उन्हीं में धर्म और अधर्म का विवेक करने की शक्ति भी विशेष होगी और उन्हें ही इस विवेक की आवश्यकता भी है। दूसरों को नहीं।

सूत्र १२

१२ ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष है परन्तु उसकी शक्तियाँ अतीन्द्रिय हैं—

कथा है कि एक बार किसी जन्मान्ध से किसी भक्त ने पूछा "सूरदास! दूध खैहै?" सूरदास ने दूध का नाम ही

न सुना था इसलिए कौतूहलवश पूछा "दूध कस होत ?" भक्त ने कहा "सपेद सपेद"। यह दूसरी पहेली थी। उन्होंने सोचा, यह सपेद क्या बला है इसलिए उन्होंने फिर पूछा "सपेद कस होत" ? भक्त ने कहा "जस बगुला"। सूरदास फिर भी न समझ सके। उन्होंने पूछा "बगुला कस होत" ? भक्त ने और उपाय न देखकर अपने हाथ को बगुले के आकार का बनाकर बता दिया। सूरदास ने उसे टटोला और तुरन्त समझ गये कि 'जस बगुला तस सपेद और जस सपेद तस दूध'। इसलिए बड़े गम्भीर भाव से सिर हिलाकर कहा "ना बाबा ! ना खाब नटई फाट जाई"। जब तक उन सूरदासजी ने दूध का स्पर्श न कर लिया तब तक उसे पीने का नाम तक न लिया परन्तु स्पर्श कर लेने के बाद भी सफ़ेद रङ्ग के विषय में तो वे अन्त तक कुछ समझ ही न सके। यह बात केवल एक ही सूरदास के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण जन्मान्ध सूरदासों के लिए है। उन्हें रूप की कल्पना हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार जन्म के बहिरे मनुष्य को स्वर की कल्पना होना असम्भव है। इन परीक्षाओं से यह सिद्ध होता है कि हमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है और यदि हममें किसी इन्द्रिय का अभाव रहेगा तो हममें उस विषय के ज्ञान का भी अभाव रहेगा। हम इन्द्रियों के द्वारा रूप रस गंध स्पर्श और शब्द का अनुभव प्राप्त करते हैं। हम उसे अपनी स्मरण-शक्ति और कल्पना-

शक्ति द्वारा भले ही तोड़-मरोड़कर अप्राकृतिक और अघटनीय बना डालें परन्तु इससे अपने सिद्धान्तों में क्षति नहीं आती। हम उड़ते हुए शेर की कल्पना कर सकते हैं। उड़ता हुआ शेर चाहे कहीं देखा-सुना न गया हो परन्तु शेर और उड़ान का अनुभव तो हमें नेत्र इन्द्रिय के द्वारा हुआ है। अब इन दो अलग-अलग होनेवाले अनुभवों को हमने कल्पना द्वारा एकत्र कर दिया परन्तु फिर भी वह उड़ते शेर का विचार हमारे विषय-ज्ञान की सीमा के भीतर ही तो रहा। जिसे न हमने देखा न सुना न सूँघा न चखा न स्पर्श किया उसकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इस प्रकार इन्द्रियों ही के ऊपर आश्रित है और इसी लिए वह इन्द्रिय-सापेक्ष कहा गया है। परन्तु जिन शक्तियों से हमारी इस ज्ञान-राशि का निर्माण होता है वे इन्द्रियों से नहीं जानी जातीं। उन्हें अतीन्द्रिय मानना ही होगा।

इन्द्रियों पर पञ्चतन्मात्राओं का जो प्रभाव पड़ता है उससे उन इन्द्रियों के ज्ञान-तन्तुओं में हलचल सी पैदा हो जाती है और वह तन्मात्रा उसी हलचल के रूप में उस ज्ञान-तन्तु द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है। इन्द्रियों का काम इतना ही है कि उनसे हमें तन्मात्राओं की यह हलचल (sensation) प्राप्त होती है। इसी हलचल को बौद्ध लोगों ने **वेदना** कहा है। इन वेदनाओं का सादृश्य पार्थक्य सजातीयत्व विजातीयत्व इत्यादि देखना, अथवा उनसे कई प्रकार की कल्पना करना,

वैसी ही पूर्वानुभूत वेदनाओं का स्मरण करना, उनको हमारी ज्ञान-राशि के किनारे अथवा केन्द्र में रखना, अथवा विस्मृति के गर्त में गिर जाने देना, उसके कार्य्य और कारण पर विचार करना, उसके देश, काल, सीमा इत्यादि पर ध्यान देना, इत्यादि बातें इन्द्रियों के द्वारा कदापि नहीं प्राप्त हो सकतीं। ऊपर के उड़ते हुए शेर के उदाहरण में उड़ान और शेर के भावों का तो बाह्य आधार है परन्तु जिस कल्पना-शक्ति के द्वारा हमने इन दोनों विचारों को एक में कर दिया उसका बाह्य आधार क्या हो सकता है? उस कल्पना को हम किस इन्द्रिय के द्वारा अनुभव कर सकते हैं? शारीरिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने (physiological psychologists) उनका अस्तित्व भी बाह्य आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है और इसके लिए अनेक प्रकार की क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। परन्तु जिसने एक बार जीव को शरीर से भिन्न मान लिया और समझ लिया उसे वैसे वैज्ञानिकों की क्लिष्ट कल्पना पर अवश्य हँसी आ जावेगी। शरीर और मन का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि जो हलचल इत्यादि जीव में होती है उसका प्रभाव मस्तिष्क पर भी होता है। इसलिए केवल मस्तिष्क के प्रभावों को देखकर यह समझ बैठना एकदम भूल है कि सब कुछ मस्तिष्क ही है, जीव इत्यादि कहीं कुछ भी नहीं।

बाह्य विषय (शब्द स्पर्श रूप रस गंध वाले पदार्थ) अपना-अपना प्रभाव इन्द्रियों तक पहुँचाते हैं (लहरों इत्यादि

के द्वारा) और वहाँ से ज्ञानतन्तु उनकी वेदनाएँ मस्तिष्क तक ले जाते हैं और मस्तिष्क से उन वेदनाओं को प्रबुद्ध अथवा जाग्रत जीव ग्रहण करता है। वेदनाएँ केवल रूप रस गंध शब्द स्पर्श की हलचल मात्र हैं इसलिए उनका कोई निश्चित रूप इत्यादि नहीं रहता। एक ही पदार्थ की ये वेदनाएँ हमें अनेक इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। हमारे हाथ में जो गुलाब का फूल है उसके रूप की वेदनाएँ आँखों से, स्पर्श की त्वचा से, तथा गंध की नाक के मार्ग से हमारे पास तक पहुँचेंगी। हमारा अहङ्कार इन विभिन्न भावनाओं के अनुभवों का एकीकरण करता है। उसी अहङ्कार की बदौलत हम यह जानते हैं कि नेत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय से जो विभिन्न अनुभव हुए वे अलग अलग व्यक्तियों को नहीं हुए बल्कि एक ही व्यक्ति को हुए। एकसाथ होनेवाली वे अनेक वेदनाएँ इसी अहङ्कार के कारण फिर एक में एकत्रित होती हैं और हमें उस बाह्य विषय का एक निश्चित बोध सा होता है। इसी बोध को बौद्ध लोगों ने **विज्ञान** (perception) कहा है। यह विज्ञान उसी प्रकार का है जैसा अबोध बालक अबोध दृश्य देखा करते हैं, या जैसा कि जंगली गँवार लोग किसी प्रदर्शिनी में वैज्ञानिक यन्त्र इत्यादि देखा करते हैं। किसी पदार्थ के साधारण अस्तित्व-बोध का नाम विज्ञान है। इस स्थिति में हम केवल इतना ही जान सकते हैं कि कोई निश्चित रूपरङ्ग-वाला पदार्थ सामने स्थित है। परन्तु उस पदार्थ की बारीकियाँ

क्या हैं, उसकी विशेषताएँ क्या हैं, दूसरे दिखाई देनेवाले पदार्थों से वह कहाँ तक अलग है, इत्यादि बातें इस श्रेणी में नहीं आ सकतीं। जब निरीक्षण-शक्ति तथा मेधा-शक्ति (स्मरण-शक्ति) इत्यादि से हम उस दृश्यमान पदार्थ के विषय में निश्चित धारणा कर सकते हैं तब उस पदार्थ का हमें एक निश्चित विचार (idea) सा होता है। इसी विचार को बौद्ध लोगों ने **संज्ञा** (conception) कहा है। किसी पदार्थ की संज्ञा हो जाने ही से हमें उसका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। उसका पूर्ण ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि वह हमारे संस्कारों के साथ सम्बद्ध हो। हमारा पूर्वानुभव ही **संस्कारों** के रूप में हममें विद्यमान रहता है। नित्य प्रति होनेवाला हमारा अनुभव उन्हीं संस्कारों के साथ मिलता चला जाता है और वही भविष्य में हमारी ज्ञान-वृद्धि का सहायक होता है। हमारे संस्कारों से एकदम असम्बद्ध होकर किसी भी संज्ञा का हमारी बुद्धि में ठहरा रहना असम्भव ही सा है। इस प्रकार रूप (बाह्य विषय) वेदना, विज्ञान, संज्ञा, और संस्कार ये ही प्रत्येक ज्ञान के पाँच स्कंध (शाखायें या भाग) हैं। बौद्ध दर्शन और यूरोपीय दर्शन में ज्ञान की उपलब्धि क़रीब-क़रीब इसी प्रकार की मानी गई है।

बौद्ध लोगों ने पञ्चस्कन्धात्मक ज्ञान ही को जीव या आत्मा माना है। इस ज्ञान के अतिरिक्त जीव की कोई भिन्न सत्ता नहीं मानी है। यूरोपीय दर्शनों में भी अनेक विद्वानों

ने मन को कोरी टेबिल (tabula rasa) या सफ़ेद कैनविस सा बतलाते हुए यह कहा है कि बाह्य रूपों की वेदनाएँ उसमें आप ही आप पड़ती जाती हैं और उन वेदनाओं ही से आप हो आप विज्ञान, संज्ञा और संस्कार बनते चले जाते हैं तथा विचार-शृङ्खला (association of ideas) के कारण हमारी ज्ञानराशि निश्चित होती चली जाती है। मानो इस ज्ञानराशि के निर्माण से और हमारे जीव से कोई वास्ता हो नहीं है। साधारण विचार करने पर इस सिद्धान्त की त्रुटि आप ही आप प्रकट हो जायगी। ख़ूब सोये हुए मनुष्य की आँखें खोलकर आप सुन्दर चित्र दिखाइए, उसके कानों के पास बढ़िया सितार बजाइए, उसकी नाक के सामने इत्र की शीशी ले जाइए, वह बेचारा क्या जानेगा। अब यहाँ पर रूप (बाह्य विषय) भी है और ज्ञान-तन्तुओं द्वारा उसकी वेदना भी पहुँचती है परन्तु फिर भी हमें आप ही आप उसका ज्ञान क्यों नहीं हो जाता ? रूप और वेदना को चाहिए था कि विज्ञान, संज्ञा और संस्कार भी झटपट बना डालते। तब फिर मन को कोरी टेबिल इत्यादि कहना एकदम अनुचित है। यह तो हुई सुप्त अवस्था की बात। परन्तु ऐसा ही जागृत् अवस्था में भी होता है। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हिगेल ने जिस समय अपनी जगत्प्रसिद्ध मानस विज्ञान की पुस्तक लिखी उस समय वीर नेपोलियन की सेना उसका शहर अपनी तोपों से विध्वंस कर रही थी। सन्ध्या समय जब उसने अपनी

खिड़की से बाहर दृष्टि डाली तब प्रलय के काण्ड के ऐसे अपूर्व दृश्य देखकर वह अवाक् रह गया। यदि उसके स्थान में कोई दूसरा होता तो तोपों की घड़घड़ाहट से उसके कान फूट जाते; परन्तु हिगेल ने एक शब्द भी न सुना। न तो वह बहरा था और न किसी बन्द कोठे में बैठा था; परन्तु उसका ध्यान अपनी पुस्तक में इस प्रकार जमा था कि तोपों की ध्वनि की प्रबल वेदनाएँ भी मस्तिष्क ही तक आकर रह गईं, चेतना के भीतर प्रवेश न पा सकीं। गुरु द्रोण की परीक्षा में अर्जुन को भी झाड़ इत्यादि कुछ न दिखाई देकर केवल पक्षी का कण्ठ दिखाई दिया था। और भी, जब हम कमरे में किसी मित्र से बातें करते हैं तब उस मित्र की आकृति ही का ज्ञान हमें विशेष रहता है। यद्यपि उस कमरे की तसवीरों, टेबल-कुर्सियों, किताबों, आलमारियों इत्यादि का भी हमें सामान्य ज्ञान होता रहेगा परन्तु वैसा नहीं जैसा कि हमारे मित्र की आकृति का हो रहा है। तो जब प्रत्येक वेदनाएँ ज्ञान की उपलब्धि आप ही आप करा सकती हैं तब फिर सभी पदार्थों का एक समान स्पष्ट ज्ञान हमें क्यों नहीं होता? एक बात और भी है। जिस विषय की ओर हमारा ध्यान नहीं (उदाहरणार्थ हिगेल का तोपों की ओर) उसका हमें ज्ञान भी न होगा और जिस ओर हमारी रुचि नहीं है उस ओर हमारा ध्यान भी अधिक न जमेगा। अब, कभी-कभी ऐसा होता है कि हम किसी ऐसे अरुचिकर विषय पर हठपूर्वक

ध्यान जमाकर उस ओर बरबस रुचि (obstructed interest) उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि ज्ञान की उपलब्धि केवल अन्ध प्राकृतिक नियमों से ही हो तो उसमें यह बरबस रुचि की शक्ति कहाँ से आ जाती? इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की उपलब्धि आप ही आप नहीं हो जाती वरन् वह हमारे जीव की शक्ति के द्वारा होती है।

बाह्य विषयों की जो कुछ वेदनाएँ होती हैं उन सबका ज्ञान हमें नहीं हो जाता। उनका ज्ञान हमारी चेतना (consciousness) और ध्यान (attention) के अनुसार होता है। फिर किसी विषय में सामान्य ध्यान दे देने मात्र से उसका ज्ञान नहीं होता। उसकी सम्यक् उपलब्धि के लिए निरीक्षणशक्ति (observation), विचारशक्ति (power of understanding), मेधाशक्ति (memory), कल्पनाशक्ति (imagination) और तर्कशक्ति (reason) सरीखी शक्तियों का भी प्रयोग करना पड़ता है। इन सबका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि जंगल के बीच में एक घोड़ा खड़ा है और उस ओर से हमीं एकाकी पथिक होकर आ रहे हैं। अब बाहर चरते हुए उस घोड़े के **रूप का** प्रभाव हमारी आँखों में पड़ते ही उसके रंग और आकार की **वेदना** हमारी चेतना के क्षेत्र तक पहुँची। वहाँ पर उन वेदनाओं ने हमारी **ध्यानशक्ति** को आकृष्ट किया। उस ओर हमारा ध्यान पहुँचते ही हमने **निरीक्षण-**

शक्ति का प्रयोग करके वहाँ एक लाल रंग के चतुष्पद पदार्थ-विशेष का **विज्ञान** प्राप्त किया। हमारी **विचारशक्ति** के कारण हमें उस पदार्थ की एक निश्चित **संज्ञा** विदित हुई और हमने उसे चलने-फिरनेवाला एक प्राणि-विशेष माना। हमारी **स्मरणशक्ति** ने वे सब अनुभव उपस्थित कर दिये जो हमने भूतकाल में ऐसे ही प्राणिविशेष के सम्बन्ध में प्राप्त किये थे और जो हममें **संस्कार** रूप से वर्तमान थे तथा जिन्हें हमने "घोड़ा" नाम दे रक्खा था। **कल्पनाशक्ति** ने यह प्रकट कर दिया कि यह पदार्थ-विशेष चाहे रंग रूप आकार में पुराने देखे हुए सब घोड़ों से पूरा-पूरा सादृश्य न रखता हो फिर भी यह बहुत कुछ वैसा ही है इसलिए यह भी घोड़ा होगा; तथा जैसे पुराने अनुभूत घोड़े सवारी के काम आते थे वैसे ही यह भी सवारी के काम आ सकता होगा। इस प्रकार संज्ञा और संस्कार का एकीकरण और भी दृढ़ हो गया। अब **तर्कशक्ति** ने संस्कारों के आधार पर यह स्थिर किया कि यदि हम घोड़े की पीठ पर बैठकर उसे चलावें तो वह हमें जल्दी घर पहुँचा देगा और ऐसा करने से हमारी तथा उसकी दोनों की रक्षा हो जावेगी और हिंसक जन्तु किसी को भी न पा सकेंगे; इत्यादि। इसी प्रकार निश्चय करके हम उस घोड़े के ज्ञान का समुचित लाभ उठाकर कुशलता-पूर्वक घर पहुँच जाते हैं। इस उदाहरण में मोटी रीति से ज्ञान के पाँचों स्कन्धों और बुद्धि की सब प्रधान शक्तियों का

उल्लेख किया गया है। इन शक्तियों के अतिरिक्त छोटी-छोटी और भी शक्तियाँ हैं जो साधारण ज्ञान में बहुत कम काम आती हैं इसलिए उनका उल्लेख यहाँ पर इस समय नहीं किया जा रहा है। हमें किसी विषय का ज्ञान होने के समय ये पाँचों स्कंध हमारी बुद्धि की शक्तियों सहित इतनी जल्दी सम्पन्न (बन-कर तैयार) हो जाते हैं कि हम उनके क्रम का अनुभव भी नहीं कर पाते। उसी घोड़े के ज्ञान के समय हमें पहिले वेदना का, फिर विज्ञान का, फिर संज्ञा का, फिर संस्कार का, अलग-अलग अनुभव हो ही न सका और झट हमने उसको देखते ही पहि-चान लिया और कूदकर सवार हो गये। सवारी करने के पहिले निरीक्षण, विचार, मेधा, कल्पना, तर्क इत्यादि शक्तियों का हम अलग-अलग क्रम-क्रम से आह्वान करते नहीं बैठे रहे। वे सब बातें बहुत ही जल्दी हो गईं। यह केवल हमारे अभ्यास के कारण है। जब बालक चलना सीखता है तब किस प्रकार क्रम से एक पैर उठाने, शरीर का बोझ सँभालने, फिर उस पैर को रखने, और शरीर का बोझ उसके आधार पर झुकाने, फिर दूसरा पैर उठाने और इसी प्रकार उसे बढ़ाने इत्यादि का क्रम-क्रम से अभ्यास करता है। परन्तु जब वही बालक बड़ा हो जाता है तब उसके लिए चलना इतना सरल हो जाता है कि उसको फिर यह अनुभव भी नहीं होता कि चलने की क्रिया में भी अनेक स्कंध हैं और उसके सम्पादन में भी अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है।

हमारी वास्तविक ज्ञानवृद्धि केवल अधिकाधिक रूपों की अधिकाधिक वेदनाएँ प्राप्त करने ही से नहीं होती। वह हमारी बुद्धि की शक्तियों ही पर निर्भर है। इसलिए उसका बढ़ना न बढ़ना हमारी बुद्धि की शक्तियों की योग्यता अथवा अयोग्यता पर निर्भर है। हमारी ये शक्तियाँ जितनी ही उच्च और प्रबल होंगी, हमारी ज्ञान-राशि भी उतनी ही उन्नत हो सकेगी। इसलिए जो लोग अपनी ज्ञानराशि को उन्नत करना चाहते हैं उन्हें अपनी बुद्धि की शक्तियाँ ही बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षकों के लिए तो यह बड़े काम की बात है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है हमारी शक्तियों का विकास करना। बाहरी बातों को मस्तिष्क में ठूँस देना ही उसका अर्थ नहीं है। हम चाहे सिकन्दर के पिता का नाम न जानें, मंगल ग्रह के अस्तित्व का हाल न जानें, यहाँ तक कि दो संख्याओं का गुणा करना भी न जानें, परन्तु यदि हमारी निरीक्षणशक्ति, विचारशक्ति, स्मरणशक्ति, कल्पनाशक्ति और तर्कशक्ति में अच्छी तरह विकास हो सका है तो हम समझेंगे कि हमारी बुद्धि-सम्बन्धी शिक्षा यथार्थ में अच्छी हुई। पाठ्य पुस्तकों में "चूहे की पूँछ लम्बी होती है" पढ़ाने की अपेक्षा बालकों को प्राकृतिक क्षेत्र में ऐसे-ऐसे अनुभव प्राप्त करने देना लाख दर्जे उत्तम है। बाल्यकाल ही से प्रत्येक मनुष्य अनेक प्रकार के प्रश्न अपने माता-पिता और शिक्षकों इत्यादि से पूछा करता है। इससे जान पड़ता है कि जिज्ञासा

के रूप में उसकी बुद्धि की शक्तियाँ विकसित होना चाहती हैं। उस समय यदि शिक्षक ने उन प्रश्नों का उत्तर न देकर केवल लाल-लाल आँखें अथवा लपलपाता बेत दिखाकर पाठ्य विषय कण्ठ कराना प्रारम्भ किया तो बालकों की वे महत्वपूर्ण शक्तियाँ कुण्ठित होने लगती हैं और उनकी प्रतिभाशक्ति (genius) का ह्रास हो जाता है। शिक्षक का काम इतना ही है कि वह योग्य विषयों की ओर विद्यार्थियों की रुचि जागृत कर दे और फिर देखता जाय कि विद्यार्थी की शक्तियाँ बराबर विकास कर रही हैं कि नहीं और यदि कर रही हैं तो किस विषय की ओर, किस प्रकार से। उनमें निश्चित तथा अभीष्ट विकास होता जाय, यही शिक्षक का प्रयत्न होना चाहिए। ये शक्तियाँ यद्यपि स्वाभाविक हैं परन्तु अभ्यास और प्रयत्न से हम इन शक्तियों में बहुत सुधार और उन्नति कर सकते हैं। यहाँ पर इन प्रधान शक्तियों के विषय में कुछ विशेष रूप से लिख देना अनुचित न होगा।

१ ध्यान (attention)—चेतना को केन्द्रीभूत करने ही का नाम ध्यान है। इसके विषय में पहिले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है। प्रसंग पड़ने पर यहाँ भी कहा जा रहा है। किसी भी पदार्थ का हमें ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि उस ओर हमारा ध्यान जाय। यह ध्यान जितना ही अधिक होगा वह विषय उतना ही हमारी चेतना के केन्द्र के समीप होगा और उस विषय का उतना ही अधिक

ज्ञान हमें होगा। इसलिए जिस विषय को हमें ग्रहण करना है उस विषय में हमें विशेष ध्यान देना ही पड़ता है। अब, जैसा कि पहिले कहा गया है, हमारी चेतना का केन्द्र एक जगह स्थिर होकर नहीं रहने पाता और हमारा ध्यान कभी सिर, कभी पैर, कभी हृदय इत्यादि की ओर होता रहता है परन्तु यदि हम प्रयत्न करें तो अपनी चेतना को एक ही स्थान पर अधिक समय तक केन्द्रीभूत कर सकते हैं। हम यदि एक बिन्दु पर एक घंटे ध्यान जमाना चाहें तो पहिले-पहिल तो बड़ी कठिनाई होगी परन्तु निरन्तर अभ्यास के बाद कुछ दिनों में यह काम सुसाध्य हो जायगा। इस प्रकार ध्यान एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त करना बड़ा लाभदायक है। इस शक्ति के सहारे हम जिस विषय में चाहें उसी में विशेषता प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि यह ध्यान का विषय मन की शक्ति से विशेष सम्बन्ध रखता है फिर भी इसका मुख्य आधार चेतना ही है तथा इसके सहारे ज्ञान की उपलब्धि होती है इसलिए इसका वर्णन बुद्धि की शक्तियों में किया गया है।

इस ध्यानशक्ति का महत्त्व हम अपनी साधारण दिनचर्या में भूल जाते हैं। भोजन करते समय हम किसी दूसरी बात को सोचा करते हैं, अध्ययन के समय गृहस्थी की किसी समस्या पर विचार करने लगते हैं, शौच के समय किसी अध्यात्म विषय पर शङ्का-समाधान करने लगते हैं। इसके कारण हमारे विचारों की स्थिरता नहीं आने पाती, हमारे कार्यों की पूरी

सफलता नहीं होने पाती और हममें एकाग्रता (concentration) का अभाव सा हो जाता है। इससे हमारे शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य दोनों में बाधा आती है। हमें जो काम करना चाहिए मन लगाकर करना चाहिए, चाहे वह शौच अथवा भोजन सरीखा नित्य आवश्यकीय कार्य ही क्यों न हो। नेपोलियन के अभ्युदय का सबसे प्रधान कारण यही था कि उसमें अपने विचारों पर विजय प्राप्त करने की बड़ी शक्ति थी। वह कहता था कि मेरा मस्तिष्क उस टेबिल के समान है जिसमें प्रत्येक विषय के अलग-अलग ड्रावर होते हैं। मैं सब विषयों के ड्रावर बन्द कर केवल एक ही विषय पर लगातार विचार कर सकता हूँ और जब चाहूँ तब उसको भी एकदम बन्द करके किसी दूसरे ही विषय पर अप्रतिहत रूप से विचार कर सकता हूँ। उसने ऐसा ही कर भी दिखाया। घनघोर संग्राम के बीच खड़ा होकर वह जब चाहे तब सो सकता था। उसके समान युद्धप्रिय सेनापति भयङ्कर नरसंहार छेड़कर युद्धसम्बन्धी सब विचारों का दमन करके रक्त से भीग रही हुई उस युद्धभूमि में ही मीठी नींद की शान्ति प्राप्त कर सकता हो यह अवश्य बड़ी भारी बात है। तभी तो उसने 'असंभव' शब्द ही को फ्रेंच भाषा के कोष से बाहर का शब्द कह दिया।

ध्यान (attention) और रुचि (interest) का बड़ा मेल है। जहाँ हमारी रुचि होगी वहीं हमारा ध्यान जायगा और जहाँ हमारा ध्यान जमने का विशेष अभ्यास

किया जायगा वहाँ हमारी रुचि भी उत्पन्न हो सकती है। जिस प्रकार ध्यान का सम्बन्ध विशेष कर मन से है उसी प्रकार रुचि का सम्बन्ध विशेष कर चित्त से है। क्योंकि रुचि और सुख का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारी नैसर्गिक प्रवृत्ति सुख और आनन्द की ओर रहती है इसलिए जो पदार्थ हमें रुचिकर रहेगा उसके लिए हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी और इसी लिए उसकी ओर हमारा ध्यान भी आप ही आप खिंच जायगा; हमें प्रयत्न करने की आवश्यकता भी न पड़ेगी। यौवन के स्वर्गीय काल में सौंदर्य की ओर इसी प्रकार ध्यान खिंचता है। परन्तु जब किसी विषय पर हमारी रुचि स्थिर नहीं हुई है और हमें उस विषय को ग्रहण अवश्य करना है तब उस ओर हमें बरबस ध्यान (obstructed attention) जमाना पड़ेगा जो पहिले-पहिल बहुत परिश्रम चाहता और इसी लिए मन को थकित कर देता है। माता-पिता इत्यादि का कर्तव्य है कि वे बालकों में, जिन्हें जगन्नियन्ता ने उनके चार्ज में रख छोड़ा है, अच्छे-अच्छे विषयों की ओर रुचि उत्पन्न करें। रुचि ही से हम मनुष्य के चरित्र का पता पाते हैं। कथा है कि एक कोरी (कोष्टा) अकस्मात् राजा हो गया परन्तु वह अपनी जात छिपाया करता था। अन्त में मन्त्रियों ने निश्चय करके एक बाज़ार भराई जिसमें सब व्यवसायों की प्रदर्शिनी का प्रबन्ध किया गया। जब राजा घूमने निकला तब उसने कपड़े बुनने का व्यवसाय बड़ी रुचि के साथ देखा। वह न जानता था

कि यह जाल केवल उसकी जाति जानने के लिए रचा गया है। इसी लिए वह अपनी रुचि के कारण पकड़ गया और उसकी बड़ी भद्द उड़ी। यह एक उदाहरण मात्र है। यह कोई नियम नहीं है कि रुचि सदैव जाति के अनुकूल ही हुआ करती है।

इस विश्व में ज्ञान-विटप की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं। इसलिए यदि एक विषय में हमारी रुचि न हुई तो ऐसा न समझना चाहिए कि दूसरे विषयों में भी हमें अरुचि होगी। वे बड़ी भूल करते हैं कि जो किसी विषय-विशेष में लड़के को फ़ेल होते देखकर उसे एकदम गधा समझ लेते हैं। कोई मनुष्य गणित में महामूर्ख भी होकर चित्रकला में निष्णात हो सकता है अथवा साहित्य का अद्वितीय विद्वान् हो सकता है। शेक्सपियर और डिकेंस सरीखे धुरन्धर लेखक स्कूल से सदैव डरते और भागते रहे हैं। महामना मालवीय सरीखे महानुभावों का छात्र जीवन भी साधारण ही रहा है। शिक्षक तो वही सच्चा है जो विद्यार्थियों की रुचि की दिशा पहिचान-कर उसका सुचारु रूप से विकास करा दे। हम अभ्यास से किसी विषय पर अपनी रुचि बढ़ा भी सकते हैं, पैदा भी कर सकते हैं, घटा भी सकते हैं और मिटा भी सकते हैं। जिसने अपनी रुचि पर विजय प्राप्त की उसे ही आत्मजयी समझना चाहिए। रुचि और ध्यान दोनों का हम अभ्यास से बहुत विकास कर सकते हैं।

२ निरीक्षणशक्ति (observation)—प्रत्येक विषय की बारीकियों का लक्ष्य करना, उस पदार्थ के सब अङ्गों के भेद और संयोग की विशेषता को ग्रहण करना, आवश्यक और उपादेय अंशों का अनावश्यक और अनुपादेय अंशों से पार्थक्य करना इत्यादि यह सब इसी शक्ति का काम है। इसी शक्ति के सहारे हमें वस्तुओं का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है और हमारे बाह्य अनुभव की विशेष वृद्धि होती है क्योंकि हमें बाह्य विषयों का ज्ञान विशेष परिमाण में हो सकता है। जहाँ हमारा ध्यान जमेगा वहाँ हमारी निरीक्षण-शक्ति भी अधिक काम देगी। एक बार एक मुँह लगे चपरासी ने राजा से जाकर कहा कि महाराज! मैं मन्त्री से चौगुना बल रखता हूँ फिर मुझे ८) माहवार और उन्हें ८०००) माहवार क्यों मिलता है? राजा ने कहा, समय आने पर उत्तर देंगे। आख़िर एक दिन राजा की कुतिया ने पिल्ले जने। राजा ने उसी चपरासी को बुलाकर कहा, देखो कुतिया को क्या हुआ? वह गया और लौटकर बोला कि कुतिया ने पिल्ले जने हैं। राजा ने पूछा "कितने?" चपरासी ने कहा, मैंने गिनती न की थी। वह फिर दौड़ा हुआ गया और लौटकर बोला "तीन।" राजा ने पूछा, उसमें नर कितने और मादा कितने हैं? सिपाही को फिर दौड़ना पड़ा। राजा ने पूछा, उनका रङ्ग क्या है? सिपाही फिर दौड़ा। इसी प्रकार उनके नख, उनके केश, उनकी आकृति इत्यादि की सूचना देने

के लिए उसे प्रत्येक बार दौड़ना पड़ा और अन्त में वह बेचारा दौड़ते-दौड़ते हैरान हो गया। तब राजा ने उसके सामने मन्त्री को बुलाया और उनसे भी कहा "देखो कुतिया को क्या हुआ ?" मन्त्री ने थोड़ी देर बाद लौटकर सब हाल कह सुनाया। राजा ने उस सम्बन्ध में जितने प्रश्न पूछे, मन्त्री ने सबका सन्तोषजनक उत्तर उसी समय दे दिया। एक बार से अधिक उन्हें जाना ही न पड़ा। तब राजा ने सिपाही को सम्बोधन कर कहा कि जिस काम के लिए उसे हज़ार बार दौड़ना पड़ता है उसे मन्त्री एक ही बार में पूरा कर देता है इसी लिए मन्त्री की तनख़ाह हज़ारगुनी अधिक है। वह निरीक्षणशक्ति ही थी जिसका अस्तित्व सिपाही में बहुत थोड़ा और मन्त्री में बहुत अधिक पाया गया था। यह शक्ति भी अभ्यास से बढ़ सकती है परन्तु यह अधिकतर स्वाभाविक होती है।

३ विचारशक्ति (understanding)—ध्यान और निरीक्षण से जो विषय जाना जाता है उसका एक निश्चित रूप निर्धारित करना और उस रूप की पूर्वानुभूत विषयों से तुलना करना, उसी कोटि के दूसरे विषयों से उसका साधर्म्य, वैधर्म्य विचारना इत्यादि विचारशक्ति के काम हैं। जिस शक्ति से किसी विषय की निश्चित धारणा हो उसी का नाम विचारशक्ति है। यह शक्ति जितनी ही प्रबल होगी, हमारे विचार उतने ही दृढ़, निश्चित तथा स्पष्ट होंगे। इस शक्ति के द्वारा हमें जो ज्ञान

होता है वह हम भाषा (language) के सहारे दूसरों पर प्रकट करते हैं। भाषा हमारे विचारों के व्यक्तीकरण का साधन मात्र है। यद्यपि "अहिफन कमल चक्र टङ्कोर" इत्यादि सांकेतिक रूपों की वर्णमाला बनाकर हम हाथ की उँगलियों से भी बात कर सकते हैं परन्तु भाषा का साधन अधिकतर वाक् इन्द्रिय द्वारा ही सम्पन्न होता है। यह भाषा केवल मनुष्यों ही में नहीं बल्कि पशु-पक्षियों तक में देखी जाती है। इसलिए कहना चाहिए कि भाषा उन निश्चित वाक्-चिह्नों का नाम है जिनके द्वारा जीव अपने विचारों को परस्पर प्रकट किया करते हैं। शुद्ध स्पष्ट विचार तथा शुद्ध स्पष्ट व्यक्तीकरण (correct understanding and correct expression) ये दोनों गुण बड़े दुर्लभ हैं। हमारे अधिकांश विचार अस्पष्ट और अनिश्चित (vague) रहा करते हैं। किसी वस्तु के सार तत्व तक एकदम पहुँच जाना हर किसी जीव के हिस्से में नहीं है। वे विरले ही माई के लाल हैं जो किसी विषय के सामने आते ही उसकी यथार्थता समझ लेते और खट से उसकी तह तक पहुँच जाते हैं। जितना कठिन समझना है उतना ही अथवा उससे भी कठिन काम समझाना है। समझना तो हमारे ही जीव की बात है परन्तु समझाने में तो हमें भाषा का सहारा लेना पड़ता है। वह सहारा हमारे भावों अथवा विचारों को अभिलषित स्थान तक पहुँचा सकता है कि नहीं यह जाँचना बड़ा कठिन है। चित्रकार अनेक परिश्रमों और परीक्षाओं के

बाद रङ्गों का एक नियमपूर्ण मेल करके एक अभीष्ट चित्र तैयार करता है। बोलने में भी हम श्रोता के मन में एक अभीष्ट चित्र ही तैयार करना चाहते हैं। परन्तु इस चित्र के तैयार करने में जिन शब्द रूपी रङ्गों का हम प्रयोग करना चाहते हैं वे ऐसे विचित्र होते हैं कि एक बार प्रयुक्त होते ही श्रोता के हृदय पर अपनी छाप (impression) लगाकर सदा के लिए उड़ जाते हैं। हम देख भी नहीं सकते कि उस रंग ने कैसी छाप लगाई परन्तु वह अलक्षित भी होकर अमिट सी हो जाती है! कथा है कि एक बार एक राजा ने स्वप्न देखा कि उसके सब दाँत झड़ गये। उसने एक ज्योतिषी को बुलाकर उसका फल पूछा। ज्योतिषी ने विचारकर कहा "महाराज! आपके देखते ही देखते आपके सब कुटुम्बी मर जायँगे।" राजा को इतना क्रोध आया कि उसने उसी समय आज्ञा दे दी कि वह ज्योतिषी हाथी के पैरों के नीचे कुचल दिया जाय। दूसरा ज्योतिषी बुलाया गया। उसने विचारकर कहा "महाराजा! आप अपने सब कुटुम्बियों से अधिक दीर्घजीवी होंगे।" राजा ने दीर्घ जीवन की बात सुनकर प्रसन्नतापूर्वक उसे एक हाथी इनाम दे दिया। अब दोनों ही ज्योतिषियों की बातों का एक ही अर्थ था। दोनों ही समझ सकते थे कि राजा के सम्मुख सूनृता वाणी (सत्य और साथ ही साथ प्रियवाणी) ही बोलना चाहिए परन्तु पहिला इसमें फेल होकर मारा गया और दूसरे ने हाथी पाया। विषय में भेद नहीं परन्तु

"बातैं हाथी पाइयाँ बातै हाथी पाँव ।" संस्कृत के महाकवि भारवि ने इसी लिए कहा है कि "भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चिताम् मनोगतम् वाचि निवेशयन्ति ये ।" (अर्थात् विद्वानों में वे हीं सभ्यतम समझे जाते हैं जो मनोगत बात को वाणी में सन्निविष्ट कर सकते हैं ।) जब हम यह चाहते हैं कि हम एक निश्चित बात कहकर एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न करें तब फिर उसके लिए एक निश्चित ढंग की भाषा भी चाहिए। ऐसी भाषा का प्रयोग कर सकना भी एक निराली कला है जो सबके बाँटे में नहीं है। प्रभावशाली व्याख्यानदाताओं (orators) का यह दावा रहता है कि वे लोकमत को जब चाहें तब अपनी ओर खींच सकते हैं ।

इस संसार में जितने झगड़े-बखेड़े, बहस-मुबाहसे हुए हैं उनमें विचार करने पर ६६-६६ प्रतिशत बखेड़े अस्पष्ट विचार अथवा अस्पष्ट भाषा-शक्ति के कारण ही हुआ करते हैं । संसार के अनेक दुःखान्त अभिनयों का भी यही कारण हुआ है । यदि कोई शराबी भट्ठी की ओर जाता दिखाई देता है तो हम विचार कर लेते हैं कि वह शराब पीने जा रहा होगा। यदि कोई नाव पर किसी युवती के संग घूम रहा हो तो हम उसे कामी विषयी विलासी इत्यादि की उपाधि दे डालेंगे। हम यह पता भी न लगावेंगे कि वह युवती उसकी बहिन या बेटी तो नहीं है । एक हंडी का परख सकना कठिन हो जाता है फिर एक मनुष्य का परखना तो अत्यन्त दुर्लभ होना ही

चाहिए। फिर भी हम कितनी जल्दी किसी के चरित्र पर अपने विचार स्थिर कर बैठते हैं और उसके आचरण की आलोचना कितनी सरलता और शीघ्रता से करने लगते हैं ? साथ ही हम जानते हैं कि मनुष्य का चरित्र विकासशील है और बहुत कुछ परिस्थितियों के अधीन है फिर भी यदि बाल्यकाल में किसी ने परिस्थितिवश कोई चीज़ चुरा ली तो बुढ़ापे तक हम उसे कलंकी समझा करते हैं और यदि वह वास्तव ही में साधु होना चाहता है तो हम उसकी हँसी उड़ाने लगते हैं। कोई व्यभिचारी यदि तप की ओर प्रवृत्त हो, कोई नशेड़ी संयम की ओर अग्रसर हो, कोई चोर यदि साधुता की वृत्ति स्वीकार करे तो उसे सहारा देने के बदले हम कहने लगते हैं कि "सौ सौ चूहे खाय कै बिलाई बैठी तप कै।" यदि कोई मनुष्य एक बार विधर्मी हो गया, कोई स्त्री एक बार पतित हो गई, कोई बालक एक बार उन्मार्गगामी हो गया तो हम उसे सदा के लिए बहिष्कृत कर देते हैं और उसे अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करके अपना सुधार करने का अवसर तक नहीं देते। वाल्मीकि और तुलसीदास सरीखे अपूर्व हरिभक्तों के दृष्टान्त सामने रहते हुए भी हम पापी और पुण्यात्मा का ऐसा ही पृथक् भाग (clear cut division) देखा करते हैं। यह हमारे विचारों की सङ्कीर्णता नहीं है तो क्या है ? यह एक उदाहरण हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक विभाग में हमारे विचारों की अस्पष्टता और अस्थिरता के दृष्टान्त अनेकों मिल जायँगे। विचारों से गई

बीती बात भाषा की अस्पष्टता की है। एक मनुष्य न जाने किन परिस्थितियों में न जाने किन विचारों और भावनाओं में पड़कर कोई बात कह देता है। दूसरे मनुष्य यदि वही बात दुहराकर वे ही भाव उत्पन्न करना चाहें तो उन्हें बड़ा भारी नट (actor) होने का प्रयत्न करना पड़ेगा अन्यथा वे अवश्य अपने प्रयत्न में असफल होंगे। जब कोई मनुष्य किसी की बात दुहराता है तब उस बात में अवश्य ही दुहरानेवाले के मनोभावों के कारण कमी-बेशी हो जाती है। यही कमी-बेशी अन्त में बढ़ते-बढ़ते मूल बात के तात्पर्य को ही मटियामेट कर देती है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। यदि दुहरानेवालों की बात अलग कर दीजिए तो भी हम देखते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान् तक कोई बात कहकर जब वे देखते हैं कि उसका प्रभाव यथेष्ट होने के बदले विपरीत ही हुआ तो कहने लगते हैं कि मेरा मतलब यह नहीं था अथवा मुझे खेद है कि मैंने ऐसी बात कह दी (जब विद्वानों का यह हाल है तब साधारण सी बातों पर बिगड़कर बिना कारण जाने ही यदि हम यह कह बैठें कि "हैं! उसने हमें यह कह दिया" और फिर उससे बोलना बंद करके उसे अपने विचार और भाव स्पष्ट करके हमारा भ्रम दूर करने का अवसर ही न दें तो इससे ज्यादा और ग़लती क्या होगी? अनेकों घरेलू महाभारतों, अनेकों मित्रों के मनोमालिन्यों, यहाँ तक कि अनेकों राजाओं के पारस्परिक युद्धों का भी यही कारण रहा है।

शिक्षा में यह आवश्यक है कि विद्यार्थी की यह स्पष्ट विचार तथा स्पष्ट व्यक्तीकरण (correct understanding and correct expression) की शक्ति खूब बढ़ाई जाय। जिस विद्यार्थी में यह शक्ति जितनी ही अधिक होगी वह उतना ही अधिक शिक्षित समझा जायगा। इसके लिए भाषा के कोष और व्याकरण का सम्यक् ज्ञान रखना अवश्य अभीष्ट है परंतु उतना ही पर्याप्त नहीं। उसके साथ ही इस शक्ति का विकास स्वतंत्र रूप से भी होना चाहिए। मान लीजिए कि विद्यार्थी को ताजमहल का पाठ पढ़ाया गया। अब शिक्षक को चाहिए कि वह उसका सारांश एक वाक्य में फिर दो वाक्यों में फिर दस वाक्यों में या २५ शब्दों में या ऐसी ही किसी नियमित शैली में विद्यार्थियों से प्रकट करने को कहे। इससे विद्यार्थियों में किसी विषय का सार ग्रहण करने की शक्ति बढ़ेगी और उसे भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त करने की शक्ति भी बढ़ेगी। ऐसे ही उपायों से इस शक्ति की वृद्धि की जा सकती है।

यद्यपि भाषा का विषय वाक् से अतः कर्मेन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है और इसलिए उसका वर्णन मनः प्रकरण में होना चाहिए था परन्तु उसका विचार से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है बल्कि यों कहना चाहिए कि दोनों का अभिन्न सम्बन्ध ही सा है इसी लिए इस विषय का वर्णन यहीं कर दिया गया है।

४ मेधाशक्ति (memory)—अनुभूत संस्कारों को चेतना के क्षेत्र में ले आनेवाली शक्ति ही का नाम मेधाशक्ति

अथवा स्मरणशक्ति है। ज्ञान की वृद्धि के लिए यह शक्ति परम आवश्यक है। यदि आज के अनुभव हम आज ही भूल जायँ तो कल फिर हमें यही अनुभव प्राप्त करने के लिए रुकना पड़े और नित्य प्रति हम तेली के बैल के समान एक ही स्थान पर चक्कर लगाया करें। यदि हमें आज विदित हो कि हम मित्र को पोस्ट कार्ड में संदेशा भेज सकते हैं और पोस्ट कार्ड पोस्ट आफ़िस से मँगाया जा सकता है तो भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर हम झट पोस्ट कार्ड मँगाकर लिख देंगे और यदि हम भूल गये तो हमें उन साधनों को ढूँढ़ने के लिए फिर से अ, आ, इ, ई का अनुसंधान करना होगा। पतंग और मछली में स्मरणशक्ति बहुत ही कम रहती है। यदि पतंग अनेक बार जल चुका है तो भी दीपक सामने आते ही वह पहिले के समान कूद पड़ेगा। यदि उसे स्मरण रहता कि इन्हीं दीपक महाशय ने उसके पंख जलाये हैं तो वह कभी समीप न आता। जो जितनी अधिक स्मरण-शक्तिवाला है वह अपने उन संस्कारों से लाभ उठाकर उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

किसी आचार्य ने जीवन भर तक किसी विषय पर विचार करके जो अनुभव प्राप्त किया है उसका विद्यार्थी उसी अनुभव का पाठ प्रारम्भ से ही पढ़ सकता है। अब यदि वह उसे स्मरण रख सका और हृदयङ्गम कर सका तो अवश्य ही उसकी बुद्धि-शक्ति उस अनुभव को आगे को बढ़ावेगी। गुरु-शिष्य-परम्परा से इसी प्रकार ज्ञान-वृद्धि होती चली आई है।

जब से मानव जीवों में लिपि-विज्ञान का विकास हुआ तब से तो वे अनुभव एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक सरलता-पूर्वक पहुँचा दिये गये। और जब से मुद्रण-कला का आविष्कार हुआ है तबसे तो हमारे सम्मुख इतने अधिक विभिन्न विषयों के इतने अधिक विकसित विचार पुस्तकों के रूप में रख दिये गये हैं कि उनका स्मरण रखना तो दूर, उनका अध्ययन करना भी कठिन है। इसी लिए, पूर्वकाल के शास्त्रार्थ में जो मनुष्य अधिक प्रमाण (quotations) दे सकता था (जो कि मेधा-शक्ति का काम है) वह विजयी होता था और आजकल जो अधिक तर्क-पूर्ण उत्तर दे सकता है वह विजयी होता है।

स्मरणशक्ति में भी एक विचित्रता है। हमने परसों क्या खाया यह चाहे हमें स्मरण न हो परन्तु बाल्यकाल की ऐसी अनेकों घटनाएँ स्मरण होंगी जिनमें कोई न कोई विशेषता रही है। इससे विदित होता है कि जो कुछ घटनाएँ हमारे अनु-भव में आती हैं वे सब स्मरण नहीं रहतीं। उनमें केवल वे ही स्मरण रहती हैं जिनका हमारे हृदय में या तो कोई स्थायी प्रभाव पड़ता है अथवा जिनका स्मरण हमें बार बार होता रहता है। शेष सब स्मृतियाँ क्रमशः धुँधली होती हुई विस्मृति की गोद में चली जाती हैं। यह विस्मृति (forgetfulness) भी बड़ी आवश्यक है। यदि विस्मृति न हो और सब बातें हमें एक समान स्मरण रहें तो फिर दिमाग़ में ऐसी खिचड़ी पक जाय कि आवश्यक और अनावश्यक स्मृतियों को छाँटना कठिन

हो जाय। वह भूल ही है जिसके कारण हम अपना दुःख, शोक, वियोग, प्रमाद, अधःपतन इत्यादि भुला सकते हैं और प्रसन्नतापूर्वक जीवन में नई कान्ति ला सकते हैं। वह भूल ही है जिसके कारण हम अनावश्यक विवरणों (details) के बोझ से अपने मस्तिष्क को हलका करके केवल सार वस्तु ही को ग्रहण किये रह सकते हैं। इसलिए भूल को जो बुरा समझते हैं वे भूल करते हैं।

यद्यपि यह एक स्वाभाविक शक्ति है परन्तु यह शक्ति बढ़ाई भी जा सकती है। ब्रह्मचारियों की स्मरणशक्ति विशेष देखी गई है। कामियों तथा बूढ़ों की स्मरणशक्ति में क्षीणता का अनुभव हर कोई कर सकता है। फिर अनेक औषधियाँ भो ऐसी कही जाती हैं जिनमें स्मरणशक्ति ही क्यों सम्पूर्ण बुद्धि ही का विकास होता है। [लेखक को ऐसी अनेक बुद्धिवर्द्धक कही जानेवाली औषधियों पर पूरा विश्वास नहीं है।]

मस्तिष्क को शान्त रखने से अथवा मन को एकाग्र करने से हम विस्मृत बातों का भी स्मरण कर सकते हैं। कभी किसी सदृश वस्तु का अथवा शब्द-विशेष का सहारा ग्रहण करने से भी हम विस्मृत वस्तु को जल्दी स्मरण कर लेते हैं। संस्कृत छन्दों के गण याद करने के लिए "यमाताराजभान-सलगम्" को रट लेना अथवा पृथ्वी के आकार का स्मरण करने के लिए नारंगी के आकार का स्मरण रखना प्रशस्त समझा जाता है। कभी कभी तो इच्छित वस्तु का लक्ष्य

त्यागकर मन को एकदम शून्य बना देने से भी उस इच्छित वस्तु का स्मरण हो जाता है।

५ **कल्पनाशक्ति** (imag inatio)—अनुभूत संस्कारों में सम्बन्ध स्थापन कर सकने की शक्ति का नाम कल्पना है। घोड़ा जाति के अनेक व्यक्तियों का हमें स्मरण रह सकता है परन्तु यह स्मरण होना एक बात है तथा उन्हें एक ही जाति का समझना दूसरी बात है। उनके सादृश्य पर लक्ष्य करते हुए जो हमने उन सबमें एक जातीयता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, यह मेधाशक्ति का काम नहीं बल्कि कल्पनाशक्ति का काम है। इस प्रकार हमारे ज्ञान के संज्ञा-स्कन्ध (conception) के निर्माण में इस शक्ति की बड़ी आवश्यकता होती है। साथ ही हम स्मृति द्वारा गृहीत विषयों के रूप और गुण का इसी शक्ति के द्वारा अनेक प्रकार से अनुमान करके अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं। जिस मनुष्य की निरीक्षणशक्ति जितनी प्रबल होगी उसकी कल्पनाशक्ति भी उतनी प्रबल हो सकती है क्योंकि उसे सम्बन्ध-स्थापन के लिए अनेक संस्कार मिलेंगे।

कभी-कभी तो हम ऐसे-ऐसे संस्कारों का ऐसा-ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर डालते हैं जो प्रकृति में अपना प्रतिस्पर्धी ही नहीं रखता। जैसे हम उड़ान और शेर का सम्बन्ध स्थापित करके अपनी कल्पना द्वारा ऐसा उड़ता हुआ शेर खड़ा कर देते हैं जिसका जोड़ बाहरी जगत् में मिलना असम्भव है।

कवि लोग इसी लिए नई सृष्टि बना देनेवाले कहे गये हैं और उनके विषय में मशहूर है कि वे विधाता से कम नहीं। कवि अपनी इसी कल्पना के सहारे सत्य घटनाओं अथवा कोरी कल्पित कहानियों का ऐसा बढ़िया चित्र अङ्कित कर देता है जिसको देख-सुनकर हम उसके अभीष्ट प्रभाव से अभिभूत हो जाते हैं और भाव-साम्राज्य के गम्भीरतम तत्वों का प्रत्यक्ष दर्शन सा कर लेते हैं। जिसमें यह शक्ति विशेष है वही सच्चा कवि है। जो विषय लाखों बार तर्क करके भी हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता वही विषय कवि की क़लम का एक साधारण झोंका खाकर हृदय पर तीर के समान जा बैठता है। इसी लिए कवि का इतना महत्व है और स्वयं ईश्वर भी "कवि-र्मनीषी" इत्यादि कहा गया है। कवि ही क्यों, बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार भी तर्क के सहारे कम परन्तु कल्पना ही के सहारे अधिक हुए हैं।

छोटे बालकों में तर्कशक्ति की अपेक्षा कल्पनाशक्ति ही विशेष विकसित रहती है। तर्कशक्ति का विकास पीछे होता है। इसी लिए उन्हें "जब ऐसा है तब वैसा है क्योंकि ऐसा है इसलिए वैसा होना चाहिए" इत्यादि जटिल शब्दावलियों की अपेक्षा कहानियों के रूप में किसी विषय का ज्ञान करा देना बहुत सरल है। वे क़िस्से-कहानियाँ सुनने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं; उन कहानियों ही में उनकी कल्पना दौड़ती है क्योंकि कहानियों में प्रायः उन्हीं बातों का सम्बन्ध रहता

है जिनका उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान सदैव हुआ करता है। इन्हीं कहानियों के द्वारा हम उनके मन में सदाचार इत्यादि के संस्कार भली भाँति अङ्कित कर सकते हैं। मेरे एक मित्र के कुल में पहिले मांसभोजन प्रचलित था; परन्तु उसकी एक बहिन थी जो न खाया करती थी। जब वह तीन या चार वर्ष का था तब एक बार उसकी बहन ने उसे यमदूतों की कथा सुनाई। उसने कहा कि भैंसे के तुल्य भयङ्कर आकृतिवाले और ताड़ के समान ऊँचे यमदूत एक लोहे का लाल-लाल गर्म खम्भा ख़ूब तपाकर रखते हैं और जब मांस खानेवाला आदमी मरता है तब उसे उसी खम्भे से बाँधकर उसके मुँह में वही लोहा रखते हैं और जब वह चिल्लाता है तब उसे चिढ़ाते हुए कहते हैं कि "पहिले खायो बिराना मासू, अब कस रोवत बड़े बड़े आँसू।" मेरे मित्र के हृदय में इस कहानी की भयङ्करता इतनी अधिक जम गई कि वह मांस देखते ही चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगता और जब तक मांस हटा न दिया जाता तब तक वह चुप न होता। अन्त में उसके घर के सभी लोगों ने मांस खाना छोड़ दिया। अपने यहाँ कथा-पुराणों और नानी की कहानियों का इसी लिए इतना महत्त्व था। खेद है कि अब सारगर्भित कहानियाँ कहनेवाली वे नानियाँ कम होती चली जा रही हैं और कहानियों में भी दूषित कहानियाँ बढ़ती जा रही हैं। बाल-सुधार के प्रेमियों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

हमारे बालक ही हमारे भावी राष्ट्र के निर्माणकर्ता होंगे इसलिए उनमें किस प्रकार से कैसा ज्ञान प्रविष्ट कराया जा रहा है, यह जानने के लिए हमें सदा जागरूक रहना चाहिए।

६ **तर्कशक्ति** (reason)—जगत् के अनेकानेक विषयों के ज्ञान को, उनकी स्मृतियों और कल्पनाओं को, जो शक्ति सुश्रृंखलित करती है तथा उनमें जो शक्ति ग्राह्य-अग्राह्य की छाप लगा देती है उसे तर्क कहते हैं। जिस शक्ति के द्वारा हम वाक्यों अथवा निर्णयों का सम्बन्ध जानते हैं उसे तर्क कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा हम समझ सकते हैं कि अमुक पदार्थ की स्थिति ऐसी ही हो सकती है, दूसरे प्रकार की नहीं हो सकती। उस विषय का वह रूप अमुक अमुक कारणों से हुआ और उसमें यदि अमुक कारण और मिला दिया जाय तो अमुक प्रकार का रूप हो जायगा; इत्यादि। संसार के जितने शास्त्र हैं सब इसी शक्ति के सहारे टिके हुए हैं और इसी शक्ति की प्रेरणा से बने हुए हैं। शास्त्र का अर्थ है सुश्रृंखलित ज्ञान। अब किसी विषय के हमारे ज्ञान को सुश्रृंखलित करनेवाली केवल यही एक शक्ति है। स्मृति तो हमारे अनुभवों को दुहराती है और कल्पना उन अनुभवों को अनेक नाच नचाया करती है। परन्तु उन अनुभवों को अनेक नाचों में नचाकर एक निश्चित नियम ढूँढ़ निकालना (induction आगमन) अथवा पूर्वस्थापित किसी निश्चित नियम के अनुसार उन्हें नचाना (deduction निगमन) यह केवल तर्कशक्ति

ही का काम है। ज्ञान को शृंखलित करके ही हम उससे मनमाना लाभ उठा सकते हैं। यदि हम में इस शक्ति की कमी होगी तो हम मेधावी या कल्पनावान् होकर भी किसी पागल से बढ़कर नहीं कहे जा सकते।

यह शक्ति कई दार्शनिकों की दृष्टि में इतनी आवश्यक जँची है कि उन्होंने इसे मनुष्य का विशिष्ट गुण (differentia) मानकर मनुष्य की परिभाषा ही 'तर्कपूर्ण प्राणी' (rational animal) कर दी है। आजकल की परीक्षाओं से सिद्ध हो रहा है कि पशुओं में इस शक्ति का सर्वथा अभाव नहीं है, इसलिए यह समझना ठीक नहीं है कि तर्कशक्ति केवल मनुष्यों ही के भाग में पड़ी है। हाँ, इतना अवश्य है कि मनुष्यों में इसका अंश बहुत विशेष रूप से है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में तो तर्क की शक्ति सदैव अक्षुण्ण है। परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान में इसकी प्रतिष्ठा कहाँ तक है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इस शक्ति की वृद्धि के लिए तो एक अलग शास्त्र ही बन गया है जिसे **तर्कशास्त्र** (logic) कहते हैं। उसमें निगमन (deductive) और आगमन (inductive) दोनों ही मार्गों से तत्व तक पहुँच जाने के नियमों का वर्णन है। ऐसे ही शास्त्रों से हम इस शक्ति की सम्यक् वृद्धि करके विवेकशक्ति (power of discrimination) दूरदर्शिता (fore sight) इत्यादि अनेकानेक शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं और अपनी ज्ञानराशि को इस आग में तपाकर खरा सोना बना सकते हैं। हमें

प्रत्येक विषय पर तर्कपूर्ण विचार करने का अधिकार है और जो विषय हमारी तर्क की कसौटी पर कच्चा निकले उसे त्याग देने का भी हमें अधिकार है। परन्तु हाँ, इतना हमें अवश्य देख लेना चाहिए कि हमारी तर्क की प्रणाली ठीक और शुद्ध है कि नहीं। हमको प्रत्येक शास्त्र पर अविश्वास करने का अधिकार है परन्तु साथ ही हमारा यह कर्तव्य भी है कि हम शुद्ध तर्क के द्वारा उस विषय के सिद्धान्त स्थिर कर लें। इसी लिए गहन से गहन दार्शनिक विषयों की भी कल्पना तर्कपूर्ण ढंग पर की गई है और केवल "मैं कहता हूँ इसलिए विश्वास करो" ऐसा नहीं कहा गया है।

विश्वास दो तरह का होता है। एक अन्ध विश्वास और एक तर्कपूर्ण (विवेकपूर्ण) विश्वास। अब प्रत्येक मानवी जीव की तर्कशक्ति एकदम इतनी प्रबुद्ध नहीं रहती कि उसके द्वारा चाहे जिस विषय का पूर्ण तत्व वह एकदम हृदयङ्गम कर सके। तब फिर जब तक वह पूर्णतः नहीं उदय हुई है तब तक क्या हमें किसी भी विषय के परम तत्व को मानना ही न चाहिए? यदि ऐसा हो तो हमारे जीवन का पहिया आगे चल ही न सके। इस संसार में ऐसी अनेक बातें हैं जिन्हें हम बड़े-बूढ़ों से सुनकर मान लेते हैं और उनके अनुभव पर विश्वास करते हुए उस बात पर भी विश्वास करने लग जाते हैं। ऐसे विश्वासों को जब तक कि वे तर्क के द्वारा हानि-कारी, असत्य अथवा अग्राह्य नहीं ठहरा दिये गये हैं, न

मानना और भुला देना बड़ी भूल है। संभव है कि उनमें कोई ऐसे सिद्धान्त निहित हों जिनकी खोज हम उस समय तर्क से न कर सकते हों। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि 'लकीर की फ़कीरी' (conservatism) एकदम बुरी नहीं है। जो किसी सामाजिक कुरीति का सुधार करना चाहते हैं उन्हें सबसे पहिले यह अवश्य देखना चाहिए कि वह कुरीति समाज में कब और किन कारणों से किस तरह प्रविष्ट हुई तब फिर वे अच्छी तरह समझ और समझा सकेंगे कि अब समाज में उस रीति की आवश्यकता है अथवा नहीं।

ईश्वर का विषय बड़ा ही गहन और जटिल है और प्रत्येक का तर्क वहाँ तक नहीं पहुँच सकता इसलिए अनेक महात्माओं ने यही राय दी है कि ईश्वर पर अटल विश्वास रखा जाय, चाहे वह अन्ध विश्वास (blind faith) ही क्यों न हो। उनका कहना बहुत कुछ यथार्थ भी है। इस दृष्टि से हम अन्ध विश्वास को हेय नहीं कर सकते। अनेक लोगों में यह विश्वास अनेक प्रकार का है और उसके सम्बन्ध की अर्चाविधि भी अनेक प्रकार की है। इसी से धर्म में और पूजा-विधियों में इतना अन्तर दिखाई देता है। जो मनुष्य शुद्ध तर्क से प्रकृत तत्व तक पहुँच जाता है वह तो इस विभेद में एकता के दर्शन करके कृतकृत्य हो जाता है। परन्तु जो अभी उस कोटि में नहीं पहुँच सका है उसे अपने उसी विश्वास

को पकड़ रखना ही उचित है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विश्वास में पड़कर पारस्परिक कलह मोल ले लेना अथवा तर्क का द्वार ही बन्द कर देना उचित नहीं। जो मनुष्य पूर्णता को पहुँच चुका है उसे चाहिए कि वह नीचे पड़े हुए मनुष्यों के विश्वास या श्रद्धा को मिटाने का प्रयत्न न करे बल्कि उसके श्रद्धा-विश्वास का रहस्य उसे समझाकर अपने आराध्य विषय के तत्व तक हो उसे पहुँचा दे। विरोध ही में सङ्कीर्णता है। यदि हम विरोध न रखते हुए किसी विशेष प्रकार की मूर्ति अथवा विशेष प्रकार की पूजा ही पर विश्वास करते हैं तो ज्ञानियों को चाहिए कि वे हमें उस मार्ग से विचलित करने की चेष्टा न करें बल्कि उसका ही रहस्य समझाकर उसके वास्तविक रूप को और भी स्थिर कर दें। ईश्वर-सम्बन्धी अन्ध विश्वास से एक दूसरा लाभ और होता है जो विवेक-पूर्ण विश्वास से बहुत कम हो सकता है। हम जिस विषय पर अन्ध विश्वास रखते हैं उसका ध्यान विशेष रूप से कर सकते हैं और ध्यान की महिमा से उस विचार का साक्षात्कार भी सरलता से कर सकते हैं। इसी लिए भक्ति की महिमा ज्ञान से अधिक बताई गई है और इसी लिए क्षुद्र गोपी को भी उद्धव सरीखे महान् ज्ञानियों से श्रेष्ठ माना गया है।

परन्तु सामान्य विषयों में अन्ध विश्वास रखना या बिना जाने किसी बात के विषय में कोई धारणा बना लेना उचित नहीं। हम अपने संस्कारों के कारण धुँधले प्रकाश में रस्सी

को साँप या लकड़ी के ठूँठ को आदमी या प्रेत समझकर डर जाते हैं। यदि हम विचार करके देखें तो हमारा भय हमसे उसी प्रकार दूर भागेगा जिस प्रकार हम उस रस्सी अथवा लकड़ी के ठूँठ से दूर भागने की चेष्टा करते थे। एक कथा है कि एक धोबी को अपना गधा बड़ा प्यारा था। जब वह ख़ुशी के मारे रेंकने लगता तब धोबी का हृदय भी प्रसन्नता से उछल पड़ता था। उसी श्रवण-सुखद रेंकने के कारण उस धोबी ने उसका नाम गन्धर्वसेन रखा था। एक दिन वह अकस्मात् मर गया। धोबी, शोक से इतना कातर हुआ जैसे कोई आत्मीय के मरने पर भी न होगा। उसने मूँछ-डाढ़ी मुड़वा ली और खाना-पीना बंद कर दिया। जब दो-चार दिन के बाद भूख की ज्वाला असह्य हुई तब भड़भूजे के यहाँ चने मोल लेने गया। भड़भूजे ने उसका दयनीय रूप देखकर सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए मूड़ मुड़ाने का कारण पूछा। धोबी एकदम रो पड़ा और बोला "हाय गन्धर्वसेन न रहे"। गन्धर्वसेन का नाम सुनते ही भड़भूजे ने नाम की महत्ता के संस्कार के कारण समझा कि वे अवश्य कोई महापुरुष थे इसलिए उनकी मृत्यु पर मुझे भी बाल बनवा डालना चाहिए। बस, धोबी के बिदा होते ही उसने भी नाई की शरण ली। नाई को भी जब विदित हुआ कि गन्धर्वसेन महाशय कैलाशवासी हुए तब उसने भी हजामत साफ़ करा डाली। उसकी नक़ल शहर के सभी आदमियों ने करनी प्रारम्भ की। आख़िर

युग में तो इस कला की ख़ूब तरक़्क़ी हो रही है। जिसमें तड़क-भड़क अच्छी होगी उसे संसार भी अच्छा कहेगा। परन्तु अधिकांश लोग किसी बात को मान रहे हैं इसलिए हम भी अन्ध विश्वासी होकर वह बात मानते जायँ यह कोई नियम नहीं है।

एक बात और कहकर यह विषय समाप्त किया जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारी बुद्धि की शक्तियाँ इतनी ही नहीं हैं। कई विषय ऐसे हैं जिनका हमें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता तथा जिनका ज्ञान इन शक्तियों से प्राप्त हुआ हो यह भी नहीं जान पड़ता। उदाहरणार्थ देश और काल का ज्ञान। हम पदार्थों को देख सकते हैं परन्तु देश और काल को नहीं देख सकते। फिर भी हम इन्हें मानते हैं। ऐसी ऐसी बातें देखकर आर्य महर्षियों ने पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक अन्तरिन्द्रिय भी मानी है जिसका नाम उन लोगों ने मन दिया है और जिसके विषय को मानस प्रत्यक्ष कहा है। देश-काल इत्यादि ऐसे ही मानस प्रत्यक्ष के विषय हैं। इसी प्रकार ज्ञान का गम्भीरतम विषय या कोई सिद्धान्त हमारे हृदय में आप ही आप प्रकट सा होते हुए जान पड़ता है और वह हमें किसी बाह्य साधन से प्राप्त होता हुआ नहीं जान पड़ता। प्राचीनतम श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ ईश्वर द्वारा भेजे हुए समझे जाते हैं और मानव-हृदयों में उनकी स्फूर्ति (revelation) ही मानी जाती है। इसी मानस प्रत्यक्ष में प्रकट होनेवाली बातों को कभी हम भान (intuition), कभी व्यावहारिकता (common

sense) और कभी प्रतिभा (genius or originality) कहने लगते हैं। यद्यपि ये शक्तियाँ बहुत सूक्ष्म हैं और सबकी सब ईश्वरप्रदत्त (नैसर्गिक) ही जान पड़ती हैं परन्तु भली भाँति विचार करने पर और इस जन्म का सम्बन्ध पूर्व जन्म के साथ लगाने पर हमें विदित होगा कि इन शक्तियों का भी सम्बन्ध हमारी पूर्व कथित शक्तियों के साथ अवश्य है। उदाहरणार्थ देश-काल का ज्ञान हमारी भिन्न-भिन्न स्थितियों और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देखकर हो सकता है। और नवजात बालक को वास्तव ही में देश और काल का ज्ञान नहीं रहता। वह पदार्थों की भिन्न भिन्न स्थितियों और भिन्न भिन्न अवस्थाओं को देखकर ही देश और काल का ज्ञान प्राप्त करता है। दिव्य स्फूर्ति (revelation) तथा भान (intuition) भी तभी होता है जब उस विषय के परमतत्व पर हमारा ध्यान रहता हो। इसलिए इसे हम ध्यान की ख़ूबी और विचार की महिमा कह सकते हैं। व्यावहारिकता (common sense) हमारे संस्कारों पर निर्भर है। यदि हमारे संस्कार और मानसिक शक्तियाँ सुदृढ़ हैं तो हम अच्छे व्यावहारिक (man of strong common sense) कहावेंगे। वे संस्कार चाहे हममें वंश-परम्परागत हों, चाहे पूर्व जन्म के हों, चाहे इसी जन्म के। प्रतिभा (originality and genius) भी हमारी तर्क और कल्पनाशक्ति का मधुर मिश्रण है। वह मिश्रण चाहे इस जन्म के परिश्रम से हुआ हो चाहे पूर्व जन्म

के प्रयत्न से। इसी प्रकार और भी शक्तियों के विषय में कहा जा सकता है। पूर्व जन्म में अपनी बुद्धि की शक्तियों का हमने जो कुछ विकास कर लिया था वह सब हमें इस जन्म में प्राप्त हो जाता है। ज्योंही इस जन्म में बाह्य रूपों की वेदनाएँ हमारी चेतना के भीतर पहुँचने लगीं और हमारे शरीर ने बुद्धि के विकास के लिए क्षेत्र दिया त्योंही हमारी वे विकास-प्राप्त शक्तियाँ अपने उसी विकसित रूप में चमक उठती हैं और हम उसी परिस्थिति में पड़े हुए दूसरे मनुष्यों से बाज़ी मार ले जाते हैं। अधिक परिश्रम करना ही नहीं पड़ता। गौतम बुद्ध ने केवल एक दिन दुःखपूर्ण दृश्य देखा कि उनके पूर्व संस्कार और पूर्व शक्तियाँ जागृत हो गईं और उन्होंने दुःख-निवृत्ति के लिए क्या क्या नहीं कर दिखाया। हम लोग नित्य ही हज़ारों दुःखपूर्ण दृश्य देखा करते हैं परन्तु वैसा त्याग किसी अंश में नहीं दिखा सकते। जिसकी शक्तियों का पूर्वकालीन विकास इतना नहीं हुआ है वह भी प्रयत्न करके इसी जन्म में अपनी शक्तियों को बहुत कुछ विकसित कर सकता है।

हमारा पूर्ण विकास एक ही दिन में तो हो नहीं जाता; यह तो जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्न से होता है। इसलिए इस विषय में धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते जाना चाहिए, सिद्धि अवश्यम्भावी है। जगन्नियन्ता के नियमों को देखते हुए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता।

---

१३ विचारों की शुद्धि ही में विकास की सिद्धि है और इसी के लिए काव्यशास्त्र का विस्तार फैला है—

यह शरीर प्रकरण में कह ही दिया गया है कि हममें कोई विचार उठते ही हमारे तन्तुजाल उसकी पूर्ति के लिए तैयार हो जाते हैं और यदि कोई बाधक विचार न रहा तो वे तन्तुजाल उस विचार की पूर्ति कर ही देते हैं। इस प्रकार हमारे विचारों का प्रभाव तो हमारे शरीर में पड़ता ही है परन्तु इस विषय पर यदि विशेष ध्यान दिया जाय तो हमें विदित होगा कि हमारे विचारों का प्रभाव संसार के समग्र पदार्थों पर और यहाँ तक कि समग्र संसार पर भी पड़ सकता है। इतना ही क्यों, हम अपने विचारों के प्रभाव से नई सृष्टि तक निर्माण कर सकते हैं।

क्रोध के समय जो लम्बी साँसे निकलती हैं उनमें मिश्रित पदार्थों को ग्रहण करके वैज्ञानिकों ने किसी दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश (inject) कराया और देखा कि उस दूसरे मनुष्य के शरीर में उसका प्रवेश (injection) होते ही वह एकदम क्रोध-मूर्ति बन बैठा ! ऐसी-ऐसी अनेक परीक्षाएँ हुई हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि हमारे विचारों और उनसे उत्पन्न

भावों का प्रभाव केवल मानसिक जगत् ही तक नहीं रहता वरन् वह स्थूल महाभूतों (वायुमण्डल इत्यादि) में भी होता है। और उनके कारण स्थूल महाभूतों में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। इससे विदित होता है कि हमारे प्रत्येक विचार में कुछ न कुछ विद्युत् शक्ति रहती है जो बाह्य जगत् में भी अपना प्रभाव उत्पन्न कर सकती है।

वैज्ञानिकों के अन्वेषण से यह सिद्ध ही हो चुका है कि यह समस्त संसार एक आदि-विद्युत् शक्ति के घनीभूत विकार के कारण है। ऊपर बताया ही गया है कि संसार के सब पदार्थ परमाणुओं से और परमाणु भी विद्युत्-अणुओं (electrons) से बने हुए हैं। अथवा यों कहिए कि ये उनके ही घनीभूत विकार हैं। ये विद्युत्-अणु भी आदि-विद्युत् शक्ति से उत्पन्न हैं। अखण्ड चैतन्य अथवा ब्रह्म में एक ओर विश्व का विचार उठता है और दूसरी ओर उसी की यह आदि-शक्ति अथवा माया उस विचार को व्यक्त रूप प्रदान कर देती है। अब हमारे जीवों में भी चैतन्य अवश्य वर्तमान है इसलिए यदि हम किसी निश्चित विचार की ओर अपनी मनः-शक्ति अथवा विद्युत् शक्ति को पर्याप्त मात्रा में एकाग्र कर सकें तो यह अवश्य है कि वह विचार बाह्य जगत् में क्रमशः लहर विद्युदणु और परमाणुओं का आकार धारण करता हुआ प्रत्यक्ष मूर्तिमान् रूप भी धारण करके स्थित हो सकता है। सन्त पुरुषों के हृदय में सदैव शुद्ध विचार उठा करते हैं इस-

लिए उस स्थान के वायुमण्डल में शुद्ध विचारों की लहरें भी सदैव वर्तमान रहती हैं। इसी लिए तपोवन सदैव पवित्र माना गया है और इसी लिए वहाँ जाते ही उन लहरों के कारण दूसरे जीव अपनी कुटिलता और क्षुद्रता को भूल सा जाते हैं। सत्सङ्गति में यह आवश्यक नहीं है कि हम नित्य उपदेश ही सुनते जायँ। उन महात्माओं का सान्निध्य ही हमारे हृदय में सद्विचार की लहरें पहुँचा देने के लिए पर्याप्त है। यह तो हुआ सामान्य लहरों का हाल। इसके अतिरिक्त यदि हम विचारों को एकाग्र करने का प्रयत्न करें तो हम दूसरों को मन-चाहा स्वप्न दे सकते हैं (जैसा विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को राज्यदान के विषय में दिया था)। यह शक्ति तो बहुत ही जल्दी आ जाती है (जिन महाशयों को इसका नियमपूर्ण अभ्यास करना हो वे 'योगाश्रम हसन अबदाल पंजाब', या ऐसे ही और किसी स्थान से लिखा-पढ़ी कर सकते हैं)। कुछ और अभ्यास बढ़ा तो हम दूसरों को मन चाहे रूप दिखा सकते हैं चाहे वे चिरस्थायी भले ही न हों; जैसा गीता का विश्वरूपदर्शन, हाइप्नाटिक ट्रान्स, भक्ति उन्माद, प्रेमोन्माद या सामान्य उन्माद इत्यादि में हुआ और होता है। यदि इससे भी अधिक शक्ति हुई तो हम अपने विचारों के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ ही बाहर खड़ा कर सकते हैं जो बराबर चिरस्थायी रह सकता है (जैसा भागवत में कृष्ण द्वारा गोवत्सनिर्माण, कर्दम द्वारा विमान-निर्माण, विश्वामित्र द्वारा नूतन सृष्टि-निर्माण आदि

कहा गया है)। तपोवन या सत्सङ्ग में विचारों की प्रथम श्रेणी (लहर) का रूप दिखाया गया है, स्वप्न दिखाने या मेस्मेरिज़्म में उसकी दूसरी सीढ़ी (विद्युदणुओं) का प्रभाव है, हाइप्नाटिज़्म उन्माद इत्यादि तीसरी सीढ़ी (परमाणु) है जिसमें स्थूल परमाणुओं के बजाय सूक्ष्म परमाणुओं (पञ्च-तन्मात्रा) ही का रूप विशेष रहता है और इसी लिए वह चिरस्थायी नहीं रहता। और बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष प्रभाव (भौतिक वस्तु) खड़ा कर देना चौथी और आख़िरी सीढ़ी है।

यह सब केवल कपोल कल्पना, किंवदन्ती अथवा कोरी पौराणिक गाथा नहीं है। यह एकदम वैज्ञानिक सत्य है और हर कोई इसकी परीक्षा करके देख सकता है। दूर की बातें जाने दीजिए। हाल के सिख-युद्ध में राजा रणजीतसिंह के एक घुड़सवार का भी यही हाल लिखा है। वह मानस पूजा का अभ्यासी था। अपने गुरुदेव की मूर्ति का ध्यान करके वह उनपर हृत्कल्पित पत्र-पुष्प इत्यादि चढ़ाता तथा हृत्कल्पित सोने चाँदी के कटोरों में भोजन कराया करता था। एक दिन युद्ध के धावे में उसे पूजा करने की फ़ुरसत न मिली। तब वह घोड़े ही पर सवार रहकर मानस पूजा में संलग्न हो गया। फल यह हुआ कि उसका घोड़ा पिछड़ गया। जब सेनानायक ने उस सवार को न देखा तब वह पीछे उसकी तलाश में लौटा। उसने उसे आँखें बन्द किये धीरे-धीरे आते देखा। यह देखते ही उसके क्रोध का ठिकाना

न रहा और उसने एक कोड़ा तानकर जड़ दिया। कोड़ा खाते ही सवार की आँखें खुल पड़ीं और साथ ही झन-झन करते हुए सोने-चाँदी के बरतन नीचे गिर पड़े। वे बरतन देख सवार और सेनानायक दोनों ही चकित हो गये। सेनानायक तो यह इन्द्रजाल (योग में कहीं-कहीं इन्द्र नाम विद्युत् का है इसलिए जीव की इस विद्युत् शक्ति के चमत्कार को इन्द्र-जाल कह सकते हैं) कुछ समझ ही न सका परन्तु सवार अपने विचारों का ऐसा प्रभाव देखकर नौकरी और युद्ध से एकदम विरक्त हो गया और साधु बन अपने विचारों को अपने आदर्श की ओर लगाकर कृतकृत्य हो गया। कदाचित् इस कथा को भी कई लोग कपोल-कल्पना मानें क्योंकि यह भी बीती हुई बात है। परन्तु ईश्वर की कृपा से आज दिन भी ऐसे महात्मा विद्यमान हैं जो अपने विचारों को स्थूल पदार्थ के रूप में प्रकट करके अब भी दिखा सकते हैं। ऐसे ही महात्माओं में से एक के विषय में यहाँ कुछ कह देना अनुचित न होगा।

बङ्गाल में श्रीविशुद्धानन्द नामक एक महात्मा हैं। वे कभी कलकत्ते के भवानीपूर में, कभी पुरी में और कभी बनारस में निवास करते हैं। उन्होंने तप के बल से अपने विचारों के विषय में ऐसी ही सिद्धि बहुत कुछ प्राप्त कर ली है। उनके एक शिष्य चक्रवर्ती महाशय इस समय बङ्गाल नागपूर रेलवे के डिस्ट्रिक्ट इञ्जिनियर हैं और नैनपूर में रहते हैं। उन्हें एक सच्चे मूँगे की ज़रूरत हुई। गुरुजी ने तुरन्त ही ज़रा सी

रुई को अपने ध्यान-बल से शुद्ध मूँगे के रूप में परिवर्तित कर दिया और उसी ध्यान-बल से उसमें छेद भी कर दिया। (वह मूँगा आज तक वर्तमान है और मुझे उसके देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।) एक बार वे इन्टर क्लास के एक डब्बे में बैठे जा रहे थे। किसी ने उसके शौचालय को अपवित्र कर दिया था और उसमें बड़ी दुर्गन्धि आ रही थी। स्वामीजी को शौचालय में जाने का काम पड़ा। जब वे लौटकर आये तब वहाँ की दुर्गन्धि बन्द होकर फ़ेनाइल की बास आ रही थी। शिष्य-मंडली भी साथ थी। उसे आश्चर्य हुआ। डब्बा खोलकर देखा तो वहाँ मानों किसी ने फ़ेनाइल छिड़क दिया था और विष्ठा का नाम भी न था। इन्होंने तब गुरुदेव से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि वहाँ जाने पर मेरी इच्छा हुई कि इसमें फ़ेनाइल हो जाय तो उत्तम हो और उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ यथार्थ हो फ़ेनाइल हो गया। इसी प्रकार उनके सम्बन्ध में और भी आश्चर्यजनक बातें हैं जो स्थानाभाव से यहाँ नहीं लिखी जा सकतीं। हाथ कङ्गन को आरसी क्या है। जो इच्छुक हैं वे स्वयम् प्रयत्न करके देख सकते हैं। इन्हीं स्वामीजी का हाल 'सरस्वती' की जनवरी १९२६ वाली संख्या में भी निकल चुका है। स्वामी रामतीर्थ ने हाल ही में केदारनाथजी की ओर अपनी आज्ञा से बर्फ़ गिरना बन्द कर दिया था। जिन मित्रों की इच्छा के लिए उन्होंने वायुमण्डल और आकाशमण्डल पर ऐसा हुक्मनामा

निकालकर विजय प्राप्त की थी वे कदाचित् अब तक जीवित होंगे और इस बात की साक्षी दे सकेंगे।

हम मोल खरीदी हुई चीज़ की अपेक्षा पुरस्कार में पाई हुई वस्तु का महत्व अधिक समझते हैं। हम ग़रीब से ग़रीब मनुष्य के आशीर्वाद और शाप की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते। यह सब केवल इसी लिए है क्योंकि हम सद्विचारों और दुर्विचारों को सदैव प्रभावयुक्त मानते हैं। हम माता, पिता, गुरु, अतिथि या अपने से बड़ों का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए सदैव लालायित रहते हैं। यह अवश्य बड़ी ही अच्छी इच्छा है और इसमें अवश्य बड़ा लाभ होता है। इस प्रकार यद्यपि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के विचार कुछ न कुछ प्रभाव लिये हुए रहते हैं परन्तु जो विचार किसी उमंग, जोश या ऐसे ही किसी कारण से घनीभूत हो जाते हैं उनका प्रभाव तो अमोघ ही सा होता है। जो मनुष्य हमारी सेवाओं से प्रसन्न होकर हृदय से आशीर्वाद देता है (अर्थात् पूर्ण उमंग से अथवा पूर्ण सदिच्छा से आशीर्वाद देता है) वह अवश्य पूर्ण होता है। (उदाहरणार्थ अशोकवाटिका में सीताजी का हनुमान् को वरदान आदि।) जो ध्यान-योग की क्रिया से मन को एकाग्र करके वरदान या शाप देते हैं वह तो फलदायक होवेहीगा। (उदाहरण अपने इतिहास और पुराणों में भरे पड़े हैं।) साथ ही जो व्यक्ति नितान्त क्षुब्ध या शोकार्त होकर जो बात कह देगा (शाप देगा) वह भी

अवश्य फलेगी। (उदाहरणार्थ श्रवण के माता-पिता का दशरथ को शाप।) इसी लिए हम किसी ग़रीब को उस हद तक सताने में बहुत हिचकते हैं और जिस किसी ने किसी व्यक्ति को इस हद तक सताया है उसने उसका फ़ल भी अवश्य पाया है। कहा भी है—

तुलसी हाय ग़रीब की, कबहुँ न ख़ाली जाय।
मुए चाम की साँस सों, लोह भस्म ह्वै जाय॥

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरों को ख़ुश करने में अथवा उनसे वाहवाही लूटने में अपने कर्तव्य और सिद्धान्तों तक को तिलाञ्जलि दे दें। ऐसा कर देने से हमको विपरीत ही फल मिलेगा। एक तो प्रत्येक मनुष्य के सभी विचारों में इतनी अधिक शक्ति रहती नहीं है। और यदि कभी किसी मनुष्य ने हमारी कर्तव्य-निष्ठा से नाख़ुश होकर हमें शाप देने का विचार भी किया तो हमारी कर्तव्य-निष्ठा के कारण हममें वर्तमान रहनेवाली विचार शक्ति उस शाप का प्रभाव हम तक पहुँचने ही नहीं देती। कहावत है कि दुर्वासा ने अम्बरीष राजा पर अकारण ही क्रुद्ध होकर कृत्या नाम की राक्षसी प्रकट करके उनकी ओर दौड़ाई परन्तु वह राजा अपने कर्तव्य पर दृढ़ था इसलिए भगवान् को उसकी रक्षा के लिए अपना चक्र चलाना पड़ा जिससे कृत्या के साथ ही दुर्वासा को भी भागना पड़ा। इस कथा के रूपक में यही ऊपर कहा हुआ सत्य सिद्धान्त प्रकट किया गया है। एक और कथा है।

एक बार एक तपस्वी ने क्रुद्ध दृष्टि से देखकर एक पक्षी को भस्म कर दिया। जब वह भिक्षा माँगने एक गृहस्थ के यहाँ गया तब उस गृहस्थ की स्त्री को, जो उस समय पति-सेवा में रत थी, भिक्षा लाने में देर हुई।, इस पर वे महाशय क्रुद्ध हो गये और उसकी ओर भी उसी दृष्टि से देखने लगे परन्तु उसे ज़रा भी आँच न आई। अन्त में इन महाशय ही को उस अबला के आगे झेंपना पड़ा। उसकी पातिव्रत्य धर्म की शक्ति के आगे इनकी क्रोध-दृष्टि एकदम निरर्थक हो गई। इसके विपरीत, इसी सिद्धान्त के अनुसार, एक प्रचण्ड अत्याचारी वीर के आगे सत्पुरुषों की अपेक्षाकृत न्यून विचार शक्ति भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी लिए रावण के अत्याचारों से त्राहि त्राहि करनेवाले देव और ऋषि उसका कुछ न बिगाड़ सके। महमूद ग़ज़नवी के सोमनाथ-विध्वंस पर भी ब्राह्मणों के शाप इत्यादि का कोई अन्तराय न पड़ने पाया। जिसकी शक्ति जितनी ही प्रबल होगी वह उतनी सफलता अवश्य प्राप्त करेगा; चाहे उसका विचार सत् हो चाहे असत्।

यह शक्ति-प्राबल्य ध्यान-योग अथवा मनोनिग्रह (will power) बड़ी ही महत्वपूर्ण वस्तु है बल्कि यों कहना चाहिए कि यही हमारी सफलता की कुञ्जी है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों ही एक ही आदि-शक्ति के घनीभूत विकार हैं। जब ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ हमारे भीतर विचारों की सृष्टि कर सकती हैं तब यह अवश्य है कि हम भी मनोनिग्रह द्वारा उसी विचार में बुद्धि

एकाग्र करके बाहर भी वैसी वस्तुएँ प्रकट कर सकते हैं। इसी मानसिक एकाग्रता को परम तप कहा गया है। सत् तत्व के विचार पर मन को पूर्ण एकाग्र करने ही का नाम राज-योग है। यही सब योगों का राजा है और यही सब धर्मों का सार है। इसी एक मूल को ग्रहण करने से सब शाखा-प्रशाखाएँ आप ही हाथ आ जाती हैं। यह विषय मन से संबंध रखता है इसलिए इसका विशेष वर्णन उस प्रकरण में होगा। यही वह कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणि है जिसको पाकर हम अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं, चाहे वे इच्छाएँ सत् हों चाहे असत् ही क्यों न हों। इसी लिए यह विषय अत्यन्त ही गुप्त रक्खा गया था जिससे इसको जानकर कहीं मनुष्य असत् मार्ग में प्रवृत्त होकर आसुरी उत्कर्ष में न पड़ जायँ। आधुनिक वैज्ञानिक युग में यह विषय गुप्त नहीं रक्खा जा सकता। इसी लिए यह सर्व साधारण के लिए खुल गया है। अब मनुष्य इसके सहारे चाहे रावण के समान अखण्ड शक्तिशाली परन्तु साथ ही स्वार्थमयी वासना के दास बने रहें, चाहे राम के समान अखण्ड शक्तिशाली परन्तु साथ ही पर-मार्थमयी कर्तव्यपरायणता (त्याग-भावना) के अधीश्वर बने रहें। वे कोई भी मार्ग ग्रहण करें। यह कल्पवृक्ष उनकी आशाओं को अवश्य फलवान् करेगा।

ऊपर के कथन से मानसिक एकाग्रता का महत्व विदित हो गया होगा परन्तु उससे यह भी विदित हो गया होगा कि

केवल मानसिक एकाग्रता ही को परम सिद्धि न समझना चाहिए। जिस प्रकार नोटों का वास्तविक मूल्य कुछ भी नहीं है—वे मूल्यवान् इसी लिए कही जाती हैं क्योंकि हम उनसे अनेक सुखकर पदार्थ (अन्न, वस्त्र, इत्र, चित्र आदि) ख़रीद सकते हैं। इसी प्रकार मनोयोग का भी मूल्य इसी लिए है क्योंकि उसके द्वारा हम किसी भी विचार की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि असल महत्व तो हमारी बुद्धि और विचारों का है। यदि हमारे विचार शुद्ध और अच्छे हैं तो हम अवश्य ही विकास के मार्ग पर हैं। यदि हमारे विचार गन्दे और बुरे हैं तो हम अवश्य ही ह्रास के मार्ग पर हैं, चाहे मनोयोग के कारण भले ही हमने उन विचारों को रावण इत्यादि के समान चरितार्थ कर लिया हो। इसी लिए विकास की सिद्धि विचारों की शुद्धि पर ही निर्भर मानी गई है।

ऊपर ही कहा गया है कि मन, बुद्धि और चित्त कोई अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं। इसी लिए यह निश्चित है कि प्रत्येक विचार अथवा भाव के साथ मन की भी कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। अब यदि हमने अपने विचारों की शुद्धि पर ध्यान न दिया तो निश्चय ही हमारा मन क्षुद्र सुख और ऐसे ही स्वार्थी और क्षुद्र विचारों की ओर प्रवृत्त हो जायगा क्योंकि वे संस्पर्शज भोगों से सम्बन्ध रखने के कारण सद्यः-सुखकर रहा करते हैं। यही बात यों कही जा सकती है कि

मन तो सदा कोई न कोई काम चाहता है, किसी न किसी ओर भटकता ही रहता है। चित्त भी अपने सुख-सन्तोष की चिन्ता में चूर रहता है। अब यदि इन दोनों पर बुद्धि की लगाम न हुई तो विषय-सुख अथवा इन्द्रियजन्य निकृष्ट सुख की ओर ही चित्त चलायमान होगा और मन उसी की पूर्ति में व्यस्त हो जायगा क्योंकि वे ही कार्य ऐसे हैं जिनमें हमें तुरन्त सुख मिलता है। बुद्धि ही के कारण हम सोच सकते हैं कि अमुक पदार्थ यद्यपि सद्यः-सुखकर है परन्तु ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह परिणाम में दुःख देनेवाला अथवा विश्रृंखलता लानेवाला है। बुद्धि ही के कारण हम सोच सकते हैं कि यद्यपि अमुक पदार्थ दुःखदायी जान पड़ता है परन्तु परिणाम में उससे बड़ा सुख मिलेगा इसलिए वह अवश्य ग्राह्य है। जितने इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ हैं वे प्रायः सब क्षणिक सुखदायी हैं परन्तु सद्यः-सुखकर होने से चित्त उन्हें ही चाहेगा और मन उन्हीं के लिए प्रयत्न करेगा। बुद्धि का अंकुश होने ही से हमारा दृष्टिकोण विशद रह सकता है और हम स्थायी सुखकर पदार्थों की ओर अपनी प्रवृत्ति कर सकते हैं। इसी लिए बुद्धि की महत्ता सबसे अधिक है और इसी लिए बुद्धि का प्रकरण सबसे पहिले लिखा गया है। यों तो जीव के लिए बुद्धि की आवश्यकता पद-पद पर है। यदि हमें किसी वस्तु का कुछ ज्ञान ही न होगा तो फिर रागद्वेष और सुख-दुःख ही कैसे हो सकते हैं? यदि हमें मिठाई का सामान्य ज्ञान भी न होगा तो वह हमें

सुखप्रद ही कैसे होगी और उसकी ओर हमारी प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? परन्तु हमारे विकास में बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं बल्कि उसकी प्रधानता भी है जैसा कि ऊपर कहा गया है।

संसार की समग्र भाषाओं में काव्यों और शास्त्रों का विस्तार केवल हमारे विचारों को विशद करने ही के लिए तो हो रहा है। जिस साहित्य से हमारे विचार विशद न हो सकें वह सत् साहित्य नहीं है। हम सत्य की खोज में व्यग्र होकर दृश्यमान जगत् के अन्तस्तल में प्रविष्ट होना चाहते हैं। उसी सत्य को शाखा-प्रशाखाओं के साथ उपलब्ध करने की चेष्टा हम सदैव किया करते हैं। अनेक शास्त्रों और ग्रन्थों का उद्भव इसी चेष्टा का परिणाम है। इस विशाल संसार में उस एक सत्य की अनेक झाँकियों की अनेकताओं का अन्त नहीं। फिर भी वे अनेकताएँ एक ही की अनेकताएँ होने के कारण एकदम विशृंखलित नहीं हैं। परन्तु वे अनेकताएँ और उनके नियम इतने विस्तृत हैं कि एक मनुष्य को उन सबका पता पा जाना एकदम असंभव ही सा है। इसी लिए न्यूटन सरीखे धुरंधर विद्यादिग्गज को यह कहना ही पड़ा था कि अनन्त गम्भीर ज्ञानसागर अब तक हमारे सामने लहरें मार रहा है और हम अब तक बालकों के समान उसके किनारे की घोंघियाँ ही बीन रहे हैं। वास्तव में इस रहस्य-मयी प्रकृति में न जाने कितने चमत्कार भरे पड़े हैं। इसके एक-एक पत्ते में और एक-एक परमाणु में कितना विस्तृत ज्ञान

भरा पड़ा है। उस विस्तृत ज्ञान के क्षुद्रतम अंश की भी थाह अभी मानव जाति को नहीं मिल सकी है और फिर भी अब तक इतने अनेकानेक शास्त्रों का निर्माण हो चुका है जिन्हें एक मनुष्य एक जन्म में पूरी तरह कभी नहीं ग्रहण कर सकता। महात्माओं ने अनेकत्व की इस जिज्ञासा को भी **शास्त्र-वासना** मानकर हेय ही समझा है और इस वासना का परित्याग करके केवल मूल सत्य को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने का उपदेश दिया है। फिर भी हम अपनी बुद्धि शक्ति के अनुसार जितनी अधिक अनेकताओं को एकता से सम्बद्ध करके समझ सकें उतनी ही अच्छी बात है। आधुनिक विज्ञान यही कर रहा है और पुराने दार्शनिकों के समान अनेकताओं की उपेक्षा नहीं कर रहा है। इसी लिए उसकी महिमा इतनी हो रही है। इस संसार में रहने के कारण हमें अनेकताओं का ज्ञान अवश्य ही होता है। इसलिए उन अनेकताओं को केवल माया और मिथ्या समझकर उड़ा देना या भुला देना सबके लिए सम्भव नहीं है। हाँ, उन अनेकताओं के भीतर गहरे पैठकर उनके तत्व, सिद्धान्त या नियम इत्यादि ढूँढ़ निकालना और इस प्रकार उन्हें एक ही तत्व के अनेक रूप समझना अलबत्ता प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य के लिए सम्भव है। इसी की सिद्धि के लिए अनेक शास्त्रों की रचना हुई है और इसी की प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेकानेक विषयों और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया करते हैं। इन्हीं शास्त्रों के अध्ययन से हमारे

विचारों में विशदता आती है। और इस प्रकार उस शास्त्रीय विषय के विचारों की शुद्धि हुआ करती है। हम जीवों का शरीर देखा करते हैं परन्तु शरीरशास्त्र के अध्ययन ही से हमारे शरीर सम्बन्धी विचार विशद और शुद्ध होंगे। ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन ही से हमारे ग्रह-उपग्रह सम्बन्धी विचार शुद्ध होंगे। इसी प्रकार सब शास्त्रों का हाल है। हमारा ज्ञान जितना ही विशद हो उतना ही उत्तम है।

ज्ञान का इतना विस्तार हो गया है कि ज्ञान की उपलब्धि में हम जैसा चाहिए वैसा मनोयोग नहीं देते। उस ज्ञान को अपने मस्तिष्क में ठूस देने और कण्ठस्थ कर लेने ही को हम इति-कर्तव्यता समझते हैं और उसके रस को चखने का (अर्थात् उसके द्वारा अपने भाव वैसे बना लेने का) प्रयत्न नहीं करते। फल यह होता है कि हमारा मनोयोग न रहने के कारण हमारे विशद ज्ञान के वे विचार हमारे लिए फलदायी नहीं होते। कथा है कि गोकर्ण ने जब भागवत की कथा समाप्त की तब धुंधकारी के लिए विमान आया परन्तु दूसरे श्रोताओं के लिए कुछ भी न आया। तब उन लोगों ने शङ्का की और इसका कारण पूछा। इस पर उन्हें जवाब मिला कि यद्यपि कथा को सबने एक समान श्रवण किया परन्तु सबने एक समान ही उसका मनन नहीं किया। यदि किसी ने मनोयोगपूर्वक उसका भली भाँति मनन किया तो धुंधकारी ने। इसी लिए उसने उसका फल भी पाया। किसी आधुनिक कवि

ने बालकों को इस विषय का उत्तम उपदेश दिया है। उसका कहना है—

जो कुछ भी तुम पढ़ो कण्ठ ही तक मत रक्खो;
करो उसे हृदयस्थ और उसका रस चक्खो॥
हुआ चरितसङ्गठन पठन से यदि न तुम्हारा—
तो तोते की तरह व्यर्थ समझो श्रम सारा॥

हम कई बड़े बड़े विद्वानों को नितान्त चरित्रभ्रष्ट पाते हैं। कई धार्मिक कहानेवालों को परम नास्तिक देखते हैं। कई उपदेशकों को अपने ही उपदेशों के विपरीत आचरण करते हुए पाते हैं। उनके विचारों का क्या मूल्य और क्या प्रभाव हो सकता है? एक व्यासजी ने एक बार कथा कहते-कहते कहा कि जो मनुष्य बद्रीनारायण की ओर श्रद्धा-भक्ति के साथ यात्रा करता है उसकी सहायता स्वयं गरुड़ भगवान् करते हैं और वह सुखपूर्वक आश्रम तक पहुँचकर भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन पाता है। अनेकों श्रोताओं ने यह बात सुनी परन्तु एक श्रोता ने यह बात विशेष मनोयोगपूर्वक सुनकर इसे अपने हृदय में अङ्कित कर लिया। इस बात पर उसकी पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास हो गया। एक बार प्रसङ्गवशतः उन व्यासजी और उन श्रोता महोदय दोनों को बद्रीनारायण जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। व्यासजी तो पहिली ही मञ्जिल में पैर चपवाने और तेल की मालिश कराने लगे और आखिर आखिर तक उनके सब कर्म हो गये तथा वहाँ जाकर जैसे के तैसे ही लौटने

लगे परन्तु उस श्रोता को सब यात्रा-मार्ग कुसुम-शय्या के समान कोमल जान पड़ा और आश्रम में उसे, उसके विचारों और भावों के कारण, प्रत्यक्ष दर्शन भी हो गये। गुरु गुड़ ही रहे चेला चीनी बन गया। इसका यही कारण है कि व्यासजी का मनोयोग अपने विषय में श्रोता के बराबर नहीं था।

हम संशयात्मक भावना ही में पड़कर तो सब खो बैठते हैं। एक बार एक हिंदू और एक मुसलमान में अपने-अपने ईश्वर की शक्ति के विषय में विवाद हुआ। दोनों ने यही स्थिर किया कि अपने-अपने ईश्वर का नाम लेकर पहाड़ से कूदो। जिसका ईश्वर सच्चा होगा वह बच जायगा। हिन्दू अपने सिद्धान्त का पक्का था इसलिए वह राम का नाम लेकर कूद पड़ा और अपने दृढ़ विचार के कारण अक्षत बच गया। मुस-लमान ने राम नाम की महिमा का जो यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखा तो अपने ईश्वरत्व की भावना में संशयात्मक हो गया और कूदते समय उसने केवल ख़ुदा न कहकर राम ख़ुदैया कहना उचित समझा, इसी लिए उसकी हड्डी-पसली चूर हो गई। जो राम है सो खुदा है। चाहे उसकी भावना राम नाम से की जाय चाहे खुदा के नाम से। बात एक ही है। कहा भी है—

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थम् यस्य संज्ञा महात्मनः॥ (महोपनिषद)*

* व्यवहार के लिए ही उस महात्मा के ऋत, आत्मा, परब्रह्म, सत्य इत्यादि अनेक नाम गढ़ लिये गये हैं।

नाम-भेद करि चहै राम रहिमान कहै तेहि ।
चाहै कहि अरहन्त बुद्ध भगवान गहै तेहि ॥
तत्व अहै सो एक, भाव निज तहँ दृढ़ावहु ।
इमि थिर करि वर ध्यान सिद्धि सुन्दर अपनावहु ॥

परन्तु जो राम ख़ुदैया की संशयात्मक भावना में पड़ा रहेगा वह अनेकों शास्त्रों का ज्ञान सम्पादन करके भी अपना विकास कभी न कर सकेगा और मनुष्य होकर भी पशु का पशु ही बना रहेगा। हम अपने बाल्यकाल में न जाने कितने उपदेशपूर्ण वाक्य पढ़ चुके होंगे परन्तु क्या हमारा जीवन उन्हीं वाक्यों के साँचे में ढल चुका है ? इसका कारण केवल हमारे मनोयोग का अभाव ही है।

हमारे विशेष विकास की बात जाने दीजिए। यदि हम केवल अपने ज्ञान-सम्पादन का ही विषय लें तो भी वह विशेष मनोयोग के बिना भली भाँति सम्पन्न नहीं हो सकता। कथा है कि एक छोटी चिड़िया एक राजा का बाग़ उजाड़ जाया करती थी। एक बार वह फन्दे में फँस गई और राजा के आगे पहुँचाई गई। राजा ने उसे मारने का हुक्म दिया। चिड़िया ने कहा—"राजा! आख़िर तो मैं मरूँगी ही परन्तु मरने के पहिले मैं चार अमूल्य बातें तुम्हें बता जाना चाहती हूँ।" राजा ने जानने की इच्छा प्रकट की। चिड़िया ने कहा—पहिली बात यह है कि चंगुल में आये हुए दुश्मन को कभी न छोड़ना चाहिए। राजा ने स्वीकार किया कि यह अमूल्य

बात है। चिड़िया ने कहा कि दूसरी बात यह है कि असंभव बात का कभी विश्वास न करना चाहिए। राजा ने इसे भी अमूल्य बात माना। चिड़िया ने फिर कहा कि तीसरी बात यह है कि गई बात का अफ़सोस न करना चाहिए। राजा ने इसे भी स्वीकार किया। चिड़िया ने तब कहा कि राजा! मैं चौथी बात तब बताऊँगी जब तुम मुझे छोड़ दोगे। राजा ने चिड़िया को छोड़ दिया। वह उड़कर झाड़ पर बैठ गई और बोली—राजा! चौथी बात यह है कि मेरे पेट में बदक के अण्डे के बराबर मोती है। यदि तुम मुझे मार डालते तो पा जाते। राजा हाथ मल-मलकर पछताने लगा। इस पर चिड़िया ने कहा—मूर्ख! तूने मेरी पहिली तीनों अमूल्य बातें कितनी जल्दी भुला दीं! यदि तुझे पहिली बात का ख़याल होता तो तू मुझे अपने चंगुल से छोड़ता ही नहीं। यदि दूसरी बात याद होती तो मेरा अत्यन्त छोटा रूप देखकर बदक के अण्डे के समान मोती की बात का विश्वास ही न करता और यदि तीसरी बात का ख़याल होता तो मेरे निकल जाने पर हाथ न मलता। इतना कहकर चिड़िया उड़ गई और राजा झेंपकर चुप हो गया। राजा ने पहिले तीन उपदेश सुने अवश्य परन्तु मनोयोगपूर्वक न सुने इसलिए भविष्य में उनका उपयोग न कर सका।

हम कह चुके हैं कि हमारी चेतना कभी विचार-शून्य नहीं रहती। उसमें कोई न कोई विचार उठते ही रहते हैं। हमें उन विचारों का निरीक्षण और उनका संयम सदैव करते

रहना चाहिए। उड़ान-छू विचारों को चेतना में अधिक आने देना उचित नहीं। इससे हमारे विचारों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और मन की स्थिरता चली जाती है। आजकल की शिक्षा-प्रणाली में पड़कर हमें अनेक विषयों के विचार ग्रहण करने पड़ते हैं और वह भी अधिकांश विदेशी भाषा में। इसी लिए आजकल के सभ्य नवयुवक परीक्षा पास की सर्टिफ़िकटों के पुलिन्दे लेकर भी जीवन-संग्राम में फ़ेल हो जाते हैं; और कुछ कर दिखाने की क्षमता नहीं रखते। नहाने, खाने, उठने, बैठने, सोने, जागने, काम करने, खेलने इत्यादि के प्रत्येक कार्य हमको मनोयोगपूर्वक ही करने चाहिएँ। निठल्ले मस्तिष्क को लोग शैतान का कारख़ाना कहते हैं। इसलिए विचारों का संयम करके उचित मार्ग ही में चेतना शक्ति को प्रवाहित करना अभीष्ट है।

नूतन सभ्यता के युग में दुर्विचारों का रखना, यहाँ तक कि दुष्कृत्यों का करना भी, दण्डनीय नहीं माना गया है। क़ानून के अनुसार अथवा समाज की दृष्टि में भी वही मनुष्य दण्डनीय समझा जाता है जिसका दुष्कृत्य प्रकट हो चुका हो और जिस दुष्कृत्य के कोई न कोई साक्षी वर्तमान हों। इसका तो अर्थ यही है कि हम सभ्य समाज रूपी शरीर में अशुद्ध रक्त-विकार को दूषित नहीं मानते बल्कि उस रक्त के विकार के कारण उठनेवाले फोड़ों ही को दबाना चाहते हैं जो कि तब तक एकदम असम्भव है जब तक वह रक्त-विकार ही न शुद्ध किया जाय। समाज की इस दृष्टि का यह परिणाम होता

है कि हम अधर्म और अनर्थ को जड़ से मिटाने के बदले उन्हें दबाने की चेष्टा किया करते हैं। हम बाल-विधवाओं की भ्रूण-हत्याएँ छिपाने की कोशिश करेंगे परन्तु वे भ्रूण-हत्याएँ होने की आवश्यकता ही न पड़े, इसका प्रयत्न न करेंगे। यह कितने परिताप का विषय है। असल में तो हमारे कृत्यों और वचनों से बढ़कर हमारे विचार ही हमारे चरित्र को उन्नत अथवा अवनत बनाते हैं। हम किसी स्त्री का कन्या भाव से भी आलिङ्गन कर सकते हैं और पत्नी भाव से भी। इन दोनों प्रकार के आलिङ्गनों में कोई भेद नहीं। यदि भेद है तो हमारी भावना का। इसी में हमारी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता है। प्रत्यक्ष में श्रीकृष्ण व्यभिचारी से थे और दुर्वासा महाक्रोधी। परन्तु अपने सद्भावनापूर्ण विचारों ही के कारण एक परम योगेश्वर और दूसरे क्रोधहीन परम दयालु तपस्वी माने गये हैं। ऐसे ही वैषम्य और कारण देखते हुए मानव-चरित्र अत्यन्त जटिल और रहस्यपूर्ण माना गया है। जिस मनुष्य के विचार शुद्ध हैं उसके आचार यदि बुरे भी हों तो भी वह मनुष्य साधु ही समझा जाना चाहिए क्योंकि कालान्तर में उसके आचार अवश्य शुद्ध हो जावेंगे। कहा भी है—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग् व्यवसितो हि स:।"*—गीता

* यदि कोई दुराचारी भी हो और मेरी अनन्य भक्ति कर रहा है तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि वह अच्छे ढङ्ग से तो लग पड़ा है।

जो मनुष्य श्रौत-स्मार्त धर्म की लकीर का फ़क़ीर है परन्तु फिर भी विचारों का गंदा है वह किसी भी क्षण में एकदम राक्षस बन सकता है। मेरा एक सहपाठी था। आचरण का इतना पक्का कि पूर्व काल के ब्रह्मचारियों का प्रत्यक्ष नमूना था। दुनिया के मामलों से बिलकुल भोला भाला। सब लोग उसे साक्षात् ऋषि समझते थे। पुरानी रोशनी का पिता अपने पुत्र के इस आचरण को देख अपने को धन्य समझता था। परन्तु अकस्मात् सुनने में आया कि वही ऋषि-कल्प पुत्र एक दिन अपनी विधवा मौसी के साथ कहीं भाग गया। जो लोग क्षण भर पहिले उसे ऋषि-कल्प समझते थे वे ही उसे पाखंडी-शिरोमणि मानने लगे। यह एक उदाहरण मात्र है परन्तु यह उदाहरण समाज की उस अवस्था को सूचित करता है जिसका उदाहरण हमें जगह-जगह मिल सकता है। विचारों का ऐसा महत्व देखते हुए भी यदि नवयुवकों के मन में सद्विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न समाज अथवा शिक्षा-सुधारकों की ओर से नहीं होता तो इससे बढ़कर और भूल क्या हो सकती है। हम अपने मन में कोई दुर्विचार उठाकर अथवा अकेले में कोई दुष्कृत्य करके आनन्दित होते हैं और समझते हैं कि हम अपने कार्य में सफल भी हो गये और संसार में हमारी प्रतिष्ठा भी बनी रही। ऐसा करके हम समाज अथवा संसार की आँखों में भले ही धूल झोंकें परन्तु स्वयं अपनी ही आँखों में तो धूल नहीं झोंक सकते। हमारा वह विचार अथवा कार्य संस्कारों के

रूप में भूत बनकर हमारी बुद्धि के पीछे पड़ जाता है और प्रवृत्ति का रूप धारण करके बेचारी बुद्धि को अपनी वशवर्तिनी बना लेता है। फिर तो संसार के सामने वह प्रवृत्ति निर्लज्ज बनकर पैशाचिक नाच नाचने लगती है और हमारे हाथ पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। जो शराब पीना आरंभ करता है वह केवल एक ही बार पीने का सङ्कल्प करता है—वह भी केवल कौतूहलवश, नितान्त एकान्त में, बहुत लुक-छिपकर, बड़े ही अनुरोध और साहस के बाद। परन्तु उस एक बार के पीछे दूसरी बार, तीसरी बार और यहाँ तक कि इतनी बार नम्बर आता है कि अन्त में वह चौबीसों घण्टे सड़क की मोरियों में लोटा रह सकता है और मनुष्यों के थूकने और कुत्ते के पेशाब की भी उसे परवा नहीं रहती। हमें चाहिए कि हम अपने मन में दुर्विचारों को फटकने तक न दें और सदा सद्विचार, उच्च विचार और महत्वाकांक्षाओं ही को हृदय में स्थान दें। यह ध्रुव सिद्धान्त है—निश्चित सत्य है—अटल नियम है—कि हमारे जैसे विचार होंगे वैसे ही हमारे आचरण भी हो जायँगे और कालान्तर में हम भी वैसे ही होकर उन सब विचारों को अवश्य चरितार्थ कर लेंगे।

अपने विचारों को शुद्ध रखने के लिए हम अनेक उपायों का अवलम्बन कर सकते हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ किया जाता है—

१ प्राणायाम—यह शारीरिकी क्रिया है। परन्तु इसके द्वारा हम मनोयोग प्राप्त करके सद्विचारों पर मनोयोग द्वारा अपनी बुद्धि को स्थिर कर सकते हैं और दुर्विचारों को दूर कर सकते हैं।

२ सत्सङ्ग—इसकी महिमा पहिले बतला ही दी गई है। सत्सङ्ग के प्रभाव से ही हमारे हृदय से दुर्विचारों का मैल धुल जाता है और उसमें सद्विचारों का रङ्ग बिना प्रयास चढ़ जाता है। इसी लिए कहा गया है—

"सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक सङ्ग।
सो सुख नहिं कबहूँ मिलै, जो सुख लव सत्सङ्ग ॥"

३ वासना-त्याग—हमारी दुष्प्रवृत्तियों के मूल हमारे संस्कार ही हैं जो वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। इन वासनाओं की छानबीन करते रहने से हम इन्हें दूर कर सकते हैं।

४ भगवद्भक्ति—अपने ही पूर्ण तत्व में या किसी आदर्श महात्मा में यदि हम श्रद्धापूर्वक ध्यान लगावेंगे तो यह निश्चय ही है कि उसकी प्रेरणा से सदा हमारे मन में ऐसे ही सद्विचार उठा करेंगे जो हमारे विकास के सहायक होंगे और इस प्रकार दुर्विचारों का दमन आप ही हो जायगा।

मन के निरोध के लिए भगवान् शङ्कराचार्य ने ये चार उपाय बताये हैं—"प्राणस्पन्दनिरोधात्, सत्संगात, वासनात्यागात्, हरिचरणभक्तियोगात् मनः स्ववेगम् जहाति शनैः ॥

इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य उपाय और भी हैं, जिनकी सहायता हम इस विषय में ले सकते हैं यथा—

५ आत्मचिन्तन—हम नित्य सोते समय यह विचारें कि हमने आज दिन भर में कौन,से सद्विचारों को ग्रहण किया और कौन से दुर्विचारों का प्रतीकार किया या बेंजमिन फ्रेंकलिन के समान अपने हफ़्ते भर के कार्यों की एक सूची (chart) बनाकर देखें कि हमने किस विषय में या किस सद्विचार में कितनी प्रगति प्राप्त की; इत्यादि। ये उपाय अत्यन्त सुलभ हैं और कई पुरुषों को परम उपयोगी जान पड़े हैं।

६ आदेशवाक्य—कई महत्वपूर्ण और उपदेशप्रद वाक्यों का—यथा "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु", "नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति", "नहिं असत्य सम पातकपुञ्जा", "गिरते हैं शह सवार ही मैदानेजङ्ग में", "O physician! heal thyself," "Act act in the living present, Heart within and God overhead."—स्मरण करते रहना तथा इन वाक्यों की तख़्तियाँ बनाकर अपने घर, स्कूल या ऐसे ही स्थानों पर लगाना जहाँ हमारी दृष्टि सदैव पड़ती रहे। यह भी एक महत्वपूर्ण विषय है और इससे भी आशातीत लाभ होते देखा गया है। यहाँ पर एक कथा कहना अनुचित न होगा। भारवि कवि ने एक महाजन के यहाँ किरातार्जुनीय काव्य का एक श्लोकार्ध गिरवी रक्खा। महाजन ने भी कौतूहल-वश स्वीकार कर लिया और वह

पत्ता, जिस पर वह श्लोकार्ध लिखा था, लेकर अपने शयन-स्थान में टाँग दिया। कुछ ही समय बाद वह महाजन परदेश करने चला गया। उस समय उसकी स्त्री गर्भवती थी परन्तु यह हाल उसे विदित न था। जब महाजन १६ वर्ष के बाद लौटा तब प्रिया-मिलन की उमङ्ग में वह अर्ध-रात्रि के समय ही अपने शयनागार में प्रवेश कर गया। वहाँ उसने देखा कि उसकी स्त्री एक नौजवान पुरुष के सङ्ग सो रही है। यह पुरुष उसका ही लड़का था, जो सुख में पलने के कारण युवा पुरुष सा जान पड़ता था और जिसको उसकी माता, ममता के कारण, अपने पास ही सुलाती थी। यह हाल तो महाजन को कुछ ज्ञात ही न था। इसलिए उसने क्रोध के आवेश में आकर एकदम तलवार निकाल ली और चाहता था कि उन दोनों की गर्दन उड़ा दे; इतने ही में वह श्लोकार्धवाला पत्ता, जो अब तक टँगा था, खड़क उठा। महाजन का ध्यान उस पत्ते की ओर गया। उसमें लिखा था—

"सहसा विदधीत न क्रियां अविवेक: परमापदां पदम्।"

(अर्थात् "सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा")

महाजन ने उस पर दो-तीन बार विचार किया। अन्त में उसका हाथ रुक गया। उसने तलवार म्यान में की और पत्नी को जगाया। जागते ही पत्नी ने परम प्रसन्नतापूर्वक अपने बालक को उठाकर अपने पति के पैरों में डाल दिया। पति उस समय उस श्लोकार्ध पर इतना प्रसन्न हुआ कि जिसका

कोई हिसाब न था। जिन महाशयों ने ऐसी तख्तियाँ लगाने का अभ्यास किया होगा उनको भी ऐसा ही अनुभव कभी न कभी अवश्य हुआ होगा।

अब एक बात और कहकर यह अध्याय समाप्त किया जायगा। दुर्विचारों का दमन करने में हमें जितना प्रयत्न करना पड़ता है उतना सद्विचारों का संग्रह करने में नहीं पड़ता। इसी लिए दुर्विचारों के त्याग का प्रयत्न न करके हम सद्विचारों के संग्रह का ही प्रयत्न करते रहें तो दुर्विचारों का त्याग आप ही आप हो जायगा और हमें कोई कठिनता न पड़ेगी। जैसे यदि शराब का त्याग करना है तो हमें तन्दुरुस्ती के महत्व को समझकर उसके संग्रह का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ दिन बाद शराब से आप ही हमें अरुचि हो जायगी। यदि हमें सांसारिक वैभव का त्याग करना है तो अकिञ्चन निःस्पृहों की शान्ति का महत्व समझकर उसके संग्रह का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ दिन में वैभव की वासना आप हो फीकी जँचेगी और साँप की केंचली की भाँति एकदम दूर हो जायगी। इस प्रकार क्रमशः हम उन्नत पदार्थों और उन्नत विषयों में मन लगाकर क्षुद्रतर विषयों का सहज ही त्याग कर सकते हैं। क्षुद्र प्रवृत्तियों पर विजय पाने का यह सबसे सरल उपाय है। महत् विचारों और महत् प्रवृत्तियों पर मन लगाते रहने से हम अपने जीव को ऐसा बना लेते हैं जिसे क्षुद्र प्रवृत्तियों के कार्य फिर कभी रुचि-

कर ही नहीं हो सकते। अपने दुर्व्यसनों इत्यादि को दूर करने का यही सबसे सीधा, सच्चा और सरल मार्ग है। यदि हम अधर्मी हैं—यदि हम व्यसनी हैं—यदि हम महापापी हैं—यदि हमारे लिए धर्माचार्य्यों ने यह निश्चित फ़ैसला कर दिया है कि हमारा उद्धार कभी न होगा, तो भी हमें निराश होने का कोई कारण नहीं है। यदि हम किसी सद्विचार में अपना मन स्थिर करके उसका संग्रह कर सकेंगे तो हमारे व्यसन, हमारे पाप, हमारे अधर्म हमसे आप ही आप उस प्रकार भाग जायँगे जैसे कहा जाता है कि महावीरजी का नाम सुनते ही भूत-प्रेत भाग जाया करते हैं। अन्धकार का त्याग करने का सबसे सरल उपाय यही है कि हम प्रकाश का संग्रह कर लें, अन्धकार आप ही आप भाग जायगा; अन्यथा उसका हटाना क़रीब-क़रीब असम्भव ही सा हो जायगा। इसी लिए कहा गया है कि भगवद्विचार या भगवद्भाव का भक्तिमार्ग से सदैव संग्रह करते रहना चाहिए। उस पूर्णत्व की भावना का संग्रह करते रहने से हमारी क्षुद्रताएँ आप ही आप ग़ायब हो जायँगी। यह मार्ग जिस प्रकार सन्त महन्तों के लिए है उसी प्रकार 'गीध गज गणिका अजामिल' सरीखे जीवों के लिए है। यह आवश्यक नहीं कि कोई अपने दुर्विचारों को दूर करके ही भक्तिमार्ग में प्रवेश कर सके। वह मार्ग तो पापियों और क्षुद्र जीवों को और भी प्रेम से अपने हृदय में स्थान दे रहा है। उस मार्ग में चलते

रहने से वे कमज़ोरियाँ आप ही दूर हो जायँगी। इसी लिए कहा गया है—

"अपि चेत् सु-दुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥"

और इसी लिए भक्ति का मार्ग ज्ञान-मार्ग के समान (जहाँ प्रवेश पाने के पहले मनुष्य के पास श्रीशङ्कराचार्य के कथनानुसार साधन-चतुष्टय का सर्टिफ़िकेट होना चाहिए) बिलकुल कठिन न होकर सबके लिए सर्वत्र एक समान सुलभ है। जब हमारे ही पूर्णत्व का विचार हमारे हृदय में भली भाँति संगृहीत रहेगा तब वहाँ क्षुद्र-विचारों को प्रवेश पाने की गुञ्जाइश ही कैसे होगी। जब स्थान ख़ाली होगा तभी तो उनका प्रवेश हो सकेगा।

"प्रिय छबि निज नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय?
रहिमन भरी सराय लखि, आप पथिक फिरि जाय॥"

मन प्रकरण

सूत्र १४

१४ मन क्रियाशील है—

यद्यपि जीव एक है, परन्तु उसके ज्ञान, कर्म और भाव ऐसे धर्म देखते हुए हमने क्रमशः उसके तीन रूप—बुद्धि, मन और चित्त—मान लिये हैं और इसी के अनुसार विचार करने पर हमें यह भी विदित हो चुका है कि चेतना ही बुद्धि का धर्म है। बुद्धि का प्रकरण समाप्त हो गया। अब इस प्रकरण में मन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें कही जायँगी। जिस प्रकार बुद्धि का स्वतन्त्र वर्णन करते हुए भी हमने यह देख लिया है कि मन और चित्त से वह एकदम भिन्न नहीं है, केवल सहूलियत के लिए उसे भिन्न मानकर हम उसका वर्णन करते हैं उसी प्रकार हमें समझना चाहिए कि मन का भी एकदम स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और हमारे मन के प्रत्येक कार्य में बुद्धि और चित्त के कार्य सम्मिलित रहते हैं। किसी विषय की ओर हमारी प्रवृत्ति (मन) तभी होगी जब वह हमें रोचक होगा (चित्त) और उसका हमें कुछ न कुछ ज्ञान होगा (बुद्धि)। इसी प्रकार मन के प्रत्येक कार्य का हाल है। परन्तु जिस प्रकार सहूलियत के लिए हमने बुद्धि को पृथक् मानकर उसका वर्णन किया है उसी प्रकार सहूलियत के लिए हम मन

को भी पृथक् मानकर उसका वर्णन करते हैं और आगे चित्त को भी पृथक् मानकर उसका वर्णन करेंगे।

मन क्रियाशील कहा गया है क्योंकि कार्यकारिणी वृत्ति केवल इसी रूप के बाँटे पड़ी है। यदि किसी प्रकार की क्रिया न हो तो मन के अस्तित्व का पता लगना भी दुर्लभ हो जाय। क्योंकि यदि हम मन के अस्तित्व पर विश्वास कर सकते हैं तो केवल इसी क्रिया अथवा प्रयत्न के कारण। इसी लिए यह क्रिया ही मन का धर्म है और इसी लिए मन को क्रियाशील कहा गया है। इसी क्रियाशीलता के कारण मन सदैव किसी न किसी उधेड़-बुन में, किसी न किसी सङ्कल्प-विकल्प में, किसी न किसी गोरखधन्धे में लगा रहता है और इसी की प्रेरणा से हमारे द्वारा इस जीवन में कुछ न कुछ कर्म होते रहते हैं। यदि यह सद्वि-चारों की ओर प्रेरित हुआ तो हमसे सत्कर्म हुआ करेंगे और यदि असद्विचारों की ओर बढ़ा तो असत् कर्म होंगे। इसी के सहारे हम बन्धन में भी प्राप्त हो सकते हैं और मोक्ष भी पा सकते हैं।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

हमारे प्रत्येक कार्य में मनोयोग रहता है चाहे वह लक्षित हो चाहे न हो। जब तक मनोयोग न होगा तब तक किसी कार्य की ओर प्रवृत्ति न हो सकेगी और न कोई कार्य ही होगा। यदि हम मनोयोग को अपने वश में करके किसी निश्चित दिशा में प्रवृत्त न करते रहेंगे तो फिर हमारा मन बहककर ऐसी मनमानी छलाँगें भरने लगेगा कि जिसका कोई

हिसाब न होगा। कथा है कि एक बनिये ने भोलानाथ को प्रसन्न कर वरदान में एक ऐसा शैतान माँगा जो सदैव उसका काम बात की बात में कर दिया करे। अब बनिया उस शैतान से जो काम कहता वही वह क्षण भर में करके धर देता और ज्योंही निठल्ला होता त्योंही कहता—"सेठजी काम बताओ नहीं तो तुम्हें ही खा जाऊँगा।" सेठजी के पास इतना अधिक काम ही न था इसलिए वे घबराकर भाग निकले। किसी महात्मा को उनका हाल सुनकर दया आ गई। उन्होंने कहा, जाओ घर में एक ऊँचा बाँस गाड़ दो और जब कोई दूसरा काम न रहे तब शैतान से कहो कि वह उसी बाँस पर चढ़ा-उतरा करे। सेठजी ने वैसा ही किया। उस बाँस में १०८ गाँठें थीं। बस ज्योंही शैतान निठल्ला होता त्योंही उसे १०८ गाँठों पर चढ़ने-उतरने की दलेल बोल दी जाती। (जान पड़ता है इसी कथा के आधार पर मन-रूपी शैतान के लिए १०८ मनकाओं की माला का निर्माण हुआ है और जप द्वारा वह उन मनकाओं पर चढ़ाया-उतारा जाता है।) इस प्रकार उस बेचारे बनिये की जान बची और उसने शैतान से मनमाना लाभ उठाया। हमारे मन का भी यही हाल है। जब तक उसके लिए कुछ न कुछ काम (engagement) है तब तक ठीक और नहीं तो फिर वह ऐसी दौड़ मचाता है कि सब का सिरमौर ही बन जाता है।

हमारे मन और बुद्धि की जोड़ी अन्धे-लँगड़े की जोड़ी के समान है। जब तक मन का सहारा न होगा तब तक बुद्धि

आगे बढ़ ही न सकेगी। बुद्धि को मन के पैर चाहिएँ, इसी प्रकार मन को भी बुद्धि की आँखें चाहिएँ। अगर बुद्धि उसे अपनी आँखों का सहारा न देना चाहेगी तो अवश्यमेव चित्त के चक्कर में आकर वह उसी (चित्त) का पल्ला पकड़ेगा और विषय-सुख-सम्पादन में मस्त हो जायगा। फिर इस मत्त मातङ्ग पर अपङ्ग होकर बैठे हुए बुद्धि-रूपी महावत को भी बरबस उसी चित्त के चक्करदार गम्भीर गढ़े में गिरना पड़ेगा। जब बुद्धिरूपी महावत के द्वारा इस मन मातङ्ग का भली भाँति निग्रह होता है तभी यह मनमाने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखा सकता है और हमको वास्तविक लाभ पहुँचा सकता है। मन ही वह रसायन है जो कच्ची खाने पर फूट निकलती है और शोध कर खाने पर अपूर्व गुण दिखाती है। यह मनो-निग्रह ही परमयोग है और यही परम उपादेय वस्तु है। प्रत्येक धर्म में, प्रत्येक देश में और प्रत्येक भाषा में इसी के गुण गाये गये हैं।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतानि तीर्थानि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः ॥

—भागवत

मनका फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका छोड़ के, मन का मनका फेर ॥ (कबीर)
मारना दिल का समझता हूँ जिहादे अकबर।
बड़ा ग़ाज़ी है वही जिसने ये काफ़िर मारा ॥

इत्यादि इत्यादि न जाने कितने छन्द इस विषय में उद्धृत किये जा सकते हैं। इसी मन का जीतना सबसे कठिन है और इसी मन के जीतने से भुक्ति-मुक्ति, अभ्युदय-निःश्रेयस्, ऋद्धि-सिद्धि सब हमारे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। मन वह शैतान है जो छुट्टा या स्वतन्त्र होने से हमारी गरदन पर सवार रहता है तथा संयत या निगृहीत रहने से वीर विक्रम के बैताल के अथवा चिरागे चीनवाले अलाउद्दीन के जिन्न के समान हमारा परम उपयोगी सेवक बन जाता है।

मन की क्रियाशीलता जब बुद्धि अथवा ध्यान के द्वारा हमारे वश में हो जाती है तब उसे ही हम **मनोबल** (will power) कहते हैं। इस मनोबल का हमें पद-पद पर काम पड़ता है। जिस मनुष्य में मनोबल नहीं है वह किसी काम का नहीं है। जिसमें जितना अधिक मनोबल है वह उतना ही महान् है। किसी भी प्रकार का अभ्युदय इसके बिना नहीं हो सकता। दैवी अथवा आसुरी किसी प्रकार की सभ्यता के उत्कर्ष का यही एक मूल मन्त्र है। हमारे नित्य के साधारण कार्यों से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक के सब कार्यों में इसकी आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सबसे पहिले यह मनोबल (will power) ही बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए और अपने मन की शक्ति को अनियन्त्रित रखने के बदले उसे मनोबल बनाकर रख छोड़ना चाहिए।

मनोबल बढ़ाने के अनेक उपाय हैं। विचार-शुद्धि के सम्बन्ध में जो उपाय बताये गये हैं वे इस विषय में भी लागू होते हैं। उन उपायों के अतिरिक्त और भी उपाय हैं। हम किसी वस्तु अथवा बिन्दु या ऐसे ही विचार पर मन एकाग्र करके यह शक्ति बढ़ा सकते हैं। हम आहार-विहार या दैनिक चर्या में किसी विशेष प्रकार का सङ्कल्प करके (अर्थात् हम यह वस्तु अमुक अमुक दिन न खावेंगे अथवा यह कार्य हम इस प्रकार न करके उस प्रकार करेंगे इत्यादि) और उस सङ्कल्प पर दृढ़ रहकर यह शक्ति बढ़ा सकते हैं। हम **श्रद्धा** और **विश्वास** के सहारे किसी विषय पर मनोयोग देकर यह शक्ति बढ़ा सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रद्धा और विश्वास का तो बड़ा ही महत्व है। "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" (जो जिस पर श्रद्धा करता है वह वही हो जाता है), "विश्वासः फलदायकः" (विश्वास ही फलदायक होता है) इत्यादि वाक्य श्रद्धा और विश्वास के महत्व को भली भाँति सूचित करते हैं। इनके संयोग से हम अपना मनोबल बहुत विशेष रूप से बढ़ा सकते हैं। अपने प्रत्येक कार्य **तन्मय** होकर करते रहने से मनोयोग बड़ी सरलता के साथ सुलभ हो सकता है।

जो मनुष्य मनोबल तो बढ़ाते हैं परन्तु विचारों पर विजय प्राप्त नहीं करते वे बड़ा धोखा खाते हैं। कथा है कि एक बार वन में एक मनुष्य एक वृक्ष को अत्यन्त शीतल छायावान् देखकर उसके नीचे विश्राम करने बैठ गया। संयोग-

वश वह वृक्ष कल्पवृक्ष था। पथिक ने विचार किया कि इस समय एक उत्तम पलँग साज-सामान सहित बिछ जाय तो कितना उत्तम हो। उसकी इच्छा करते ही कल्पवृक्ष के प्रभाव से पलँग और सब साज-सामान तुरन्त तैयार हो गये। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर विचार करने लगा कि यदि किन्नर-कण्ठी अप्सराओं का सङ्गीत भी यहाँ होने लगे तो कितना उत्तम हो। इच्छा करते ही वहाँ अप्सराओं का जमघट हो गया। उसने कुछ देर उस आनन्द में मत्त होकर फिर सोचा कि यदि कहीं ऐसे ही अवसर पर जंगल से बाघ निकल जाय तो कितना बुरा हो। इसका फल यह हुआ कि बाघ तुरन्त ही जङ्गल से निकला और उसे मारकर खा गया। उसके समान मनुष्य का ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था और अपने विचारों के असंयम ही के कारण उसे मरना पड़ा। यही हाल उन लोगों का भी है जो पहिले विचारों का संयम न करके मनोबल का कल्पवृक्ष एकदम प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इसी लिए योग-क्रिया में प्राणायाम इत्यादि के द्वारा मनोबल प्राप्त करने के पहिले यम और नियम की सीढ़ियाँ आवश्यक बताई गई हैं और इसी लिए यह योगविद्या अत्यन्त गुप्त रखकर केवल गुरु-शिष्य-परम्परा ही से सिखाई जाती थी जिससे अभ्यस्त गुरु को यह भली भाँति विदित हो जाया करे कि जिज्ञासु शिष्य के हाथ पड़कर इस मनोबल का दुरुपयोग तो न होगा। इतना प्रबन्ध करने पर भी बड़े-बड़े महर्षि तक

चूक जाते थे और शाप इत्यादि के द्वारा इस मनोबल को बुरे मार्ग में प्रवृत्त करके पीछे पछताया करते थे। आजकल के ज़माने में हम उरू-गुरू किसी की परवा नहीं करते और झट दीवाल में बिन्दु बनाकर या ऐसी ही कोई क्रिया करके मनोबल बढ़ाने की फ़िक्र में लग जाते हैं। ख़ैर, इसमें भी कोई हर्ज नहीं है; परन्तु हाँ इतना अवश्य है कि अपना मनोबल बढ़ाने के साथ ही हमें अपने विचारों का नियंत्रण भी करते रहना चाहिए; तभी हमारा मनोबल उचित रूप में उन्नत होगा।

किसी भी स्थान के लिए सबसे सीधा मार्ग (सबसे सीधी लकीर) केवल एक ही होगा और टेढ़े-मेढ़े मार्ग अनेकों और यहाँ तक कि असंख्यात होंगे। इसी प्रकार किसी उपादेय अथवा ध्येय विषय के लिए सीधा मार्ग भी एक ही रहेगा। यदि हम अपने मनोयोग से ऐसा ही सीधा मार्ग और सीधा विचार ग्रहण करेंगे तो हम शीघ्र ही मनोबल प्राप्त कर सकेंगे और यदि उसे टेढ़े मार्गों में भटकावेंगे तो वह चक्कर खाता रहेगा और स्थिरता कभी न प्राप्त होगी। हमारी सद्वासनाएँ अधिक और विभिन्नतामयी नहीं हो सकतीं क्योंकि वे सीधे मार्ग से संबंध रखती हैं। हमारी दुर्वासनाएँ अवश्य अनेक और विभिन्नतामयी रहेंगी क्योंकि उनके टेढ़ेपन का कोई ठिकाना ही नहीं। इसी लिए उनमें मनोयोग देते रहने से हमें मनोबल भी ठीक-ठीक प्राप्त नहीं हो सकेगा।

हम सदैव शुद्ध विचार रक्खें और सदैव अपने विचारों में स्थिरता लाने का प्रयत्न करें तथा इसके लिए श्रद्धा और विश्वास की तथा तप और ध्यान की भी सहायता लें तभी हमारे मनोबल की सच्ची वृद्धि होगी, और इस मनोबल की कामधेनु से हम मनमाने फल दुह सकेंगे। हम सामान्य बातों से ही अपना प्रयत्न प्रारम्भ करके इस शक्ति की वृद्धि कर सकते हैं तथा इसी शक्ति के कारण अपनी प्रवृत्तियों में युगान्तर उपस्थित कर सकते हैं, अपने विचारों को प्रत्यक्ष चरितार्थ कर सकते हैं और क्या-क्या नहीं कर सकते। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। भक्ति, पूजा, आराधना इत्यादि से भी हम इस शक्ति की वृद्धि कर सकते हैं।

इसी मनोबल को (जब उसमें रुचि की मात्रा का योग हो जाता है) हम उत्साह (enthusiasm) कह सकते हैं। जो उत्साही है वही पुरुषार्थी हो सकता है और वही इस जगत् में कुछ कर दिखा सकता है। जो उत्साहहीन है वह निरा मिट्टी का पुतला है। इतिहास के पन्ने देखने से जान पड़ेगा कि उत्साह ही के कारण नेपोलियन सरीखा एक साधारण स्थिति का बालक फ्रान्स सरीखे विशाल राष्ट्र का कर्णधार और सम्राट् बन गया। उत्साह ही के कारण देवी जोन सरीखी किसान-बालिका फ्रांस की प्रबल सेना की अधिनेत्री बन गई। उत्साह ही के कारण गुरु गोविंदसिंह के नन्हें-नन्हें बालक हँसते-हँसते अपने धर्म पर बलिदान हो गये

और जगत् में अक्षय कीर्ति छोड़ गये। उत्साह ही के कारण अकेले होकर भी राणा प्रताप ने महामहिम मुग़ल सम्राट् अकबर से मुक़ाबिला करते रहने में कसर नहीं की और अन्त में उसी के कारण बहुत कुछ विजयी भी हुए। वह उत्साह ही है जो हममें सदा नवीन शक्ति का सञ्चार करता रहता है। जब हम कठिनाइयों की बेड़ियों से जकड़ जाते हैं तब उत्साह ही हमारे हृदय में हिम्मत पैदा करके उन बेड़ियों को छिन्न-भिन्न कर डालता है। जब हम विपरीत अवस्थाओं के अन्धकार में घिरकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं तब उत्साह ही आकर हमें आशा की वह जीवनदायिनी ज्योति दिखाता है जिसके सहारे हम निर्भय होकर आगे बढ़ते और उपनिषद् के "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत" का उच्चैः स्वर से घोष करते हुए अपने ध्रुवध्येय तक पहुँच जाते हैं। मानव जीवन का यही एक पारस मणि है। इसे ही प्राप्त करना चाहिए, इसे ही बढ़ाना चाहिए और इसी की रक्षा करनी चाहिए। इसे खो देने से जीवन दो कौड़ी का हो जाता है।

इस मनोयोग और मनोबल का विषय शरीर और बुद्धि प्रकरण में ध्यान इत्यादि के रूप में बहुत कुछ लिख दिया गया है और इसलिए अब विस्तार-भय से यहाँ विशेष नहीं लिखा जाता। इस विषय की पुनरुक्ति भी बहुत हो चुकी है परन्तु विषय की महत्ता देखते हुए वह अनिवार्य थी।

---

१५ प्रवृत्ति और निवृत्ति मन के फल हैं—

हमारे जीवन के सभी व्यापार और सभी क्रियाएँ या तो प्रवृत्तिमूलक रहेंगी या निवृत्तिमूलक। जिन विषयों से मन एकदम उदासीन है उन विषयों के लिए समझना चाहिए कि मन की सत्ता है ही नहीं क्योंकि उदासीनता किसी प्रयत्न अथवा क्रिया का द्योतक नहीं है। प्रयत्न तो केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति ही से जाना जा सकता है। इसी लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति (inclination and repulsion) हो मन के फल माने गये हैं। स्मरण रहे कि यहाँ पर प्रवृत्ति और निवृत्ति वेदान्त की भाषा के शब्द नहीं हैं और इसलिए इनका अर्थ भी वेदान्त के अर्थ से भिन्न समझना चाहिए।

चित्त के संयोग से मन के इन्हीं व्यापारों को हम राग और द्वेष (desire and aversion) के नाम से पुकारते हैं। यह पहिले ही कहा गया है कि मन को हम बुद्धि और चित्त से एकदम पृथक् कभी नहीं पा सकते इसी लिए हम प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी सदा राग और द्वेष के रूप में ही देखते हैं और इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि **राग और द्वेष मन के फल हैं।**

मन के जिस प्रयत्न में प्रवृत्ति का अभाव रहेगा उसमें निवृत्ति का सर्वतोभाव अवश्य रहेगा। जिस कार्य में राग की

मात्रा बिलकुल न रहेगी उसमें द्वेष का पूरा साम्राज्य अवश्य रहेगा इसलिए हम निवृत्ति या द्वेष को प्रवृत्ति या राग का विपरीत व्यापार मान सकते हैं। और एक के विषय में जो वर्णन होगा वही विपरीत अवस्था में दूसरे के विषय में भी समझा जायगा। प्रवृत्तियों का सम्भव, उद्भव, विकास और विनाश जिस प्रकार होता है निवृत्तियों का भी सम्भव, उद्भव, विकास, विनाश उसी प्रकार होता है। परन्तु जिन अवस्थाओं में हमारी प्रवृत्तियों का सम्भव, उद्भव इत्यादि होता रहता है उनसे विपरीत अवस्थाएँ प्राप्त होने से उसी प्रकार हमारी निवृत्तियों का सम्भव, उद्भव होता रहता है। आगे प्रवृत्तियों के विषय में कुछ कहा जायगा वही अवस्थान्तर से निवृत्तियों के विषय में भी माना जा सकता है।

हमारी **प्रवृत्तियाँ** तीन प्रकार की होती हैं—(१) नैसर्गिकी प्रवृत्तियाँ (Natural instincts), (२) परम्परागत प्रवृत्तियाँ (Hereditary instincts), (३) अभ्यासजन्य प्रवृत्तियाँ (custom or habit)। **नैसर्गिकी प्रवृत्तियाँ** दो प्रकार की होती हैं। एक तो जीवसम्बन्धी और दूसरी शरीरसम्बन्धी। जीवसम्बन्धी प्रवृत्ति के कारण तो हम अनन्त सत् की उपलब्धि के लिए अनेक प्रकार के कर्म करते रहते हैं और अनेक प्रकार के कर्म करने की इच्छा भी रखते हैं। शरीरसम्बन्धो प्रवृत्ति के कारण हममें (अ) **शरीररक्षा** और (आ) **वंशविस्तार** की दो प्रबल प्रवृ-

त्तियों का प्रादुर्भाव होता है जिसके कारण हममें स्तन्यपान की प्रवृत्ति, भयानक वस्तु से डर जाने की प्रवृत्ति इत्यादि का उद्भव निसर्ग ही से हुआ करता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ पशु-पक्षी और कीट-पतङ्गों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। प्रकृति देवी इन प्रवृत्तियों को प्रारम्भ ही से हमारे हृदय में रख देती हैं और इन्हीं के सहारे बच्चा पैदा होते ही माँ का दूध ढूँढ़ने लगता है; पक्षी घोंसले के बाहर आते ही एक-एक दाना ढूँढ़ने लगता है; पशु घास या पानी में किसी वृक्ष का सहारा लेने लगता है। हमारे जीवन में शरीर-सम्बन्धिनी प्रवृत्ति ही का महत्व विशेष रहता है और प्रत्येक जीव उसी की पूर्ति में व्यस्त रहता है। इसी लिए कई विद्वान् हमारे सम्पूर्ण कार्यों को केवल इसी प्रवृत्ति का परिणाम समझते हैं। यह उचित नहीं। हम सत् सिद्धान्त की वेदी पर बलिदान हो जाने की इच्छा रखते हैं और जब कभी प्रसङ्ग पड़ने पर कोई इस प्रकार बलिदान हो जाता है तो हम उस वीर पुरुष की देवोपम पूजा करते हैं और उसकी स्मृति बनाये रखने के लिए क्या-क्या नहीं करते। यदि हमारे सम्पूर्ण कार्य केवल शरीर-रक्षा के लिए हैं तो फिर यह शहीदी (martyrdom) मानव जाति के लिए आराध्य और श्रद्धेय कैसे हो सकती है? इससे जान पड़ता है कि हमारी मूल प्रवृत्तियों का लक्ष्य केवल शरीर-रक्षा ही नहीं है।

परम्परागत प्रवृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। एक तो वे जो हमारे ही पूर्व जन्म से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरी

वे जो हमारी कुल-परम्परा में हमारे माता-पिता, मातामह, पितामह इत्यादि के द्वारा होती हुई हममें आती हैं। इनको भी हम क्रमशः **जीव-सम्बन्धिनी** और **शरीर-सम्बन्धिनी** प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ भी एक प्रकार से नैसर्गिकी कही जा सकती हैं परन्तु ये मूल-प्रवृत्तियों से कुछ भिन्न और उनकी सहायक सरीखी होकर किसी निश्चित अवस्था के कारण उत्पन्न होनेवाली जान पड़ती हैं, इसलिए इनका पृथक् वर्णन किया गया है। मांस-भक्षी के पुत्र को मांस की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी, शाक-भोजी के बच्चे को शाक ही की ओर स्वाभाविक रुचि होगी। सोनार का लड़का सोने का काम आसानी से सीख लेगा क्योंकि उस ओर उसकी परम्परागत प्रवृत्ति रहती है। जाति-भेद का महत्व इसी लिए है। परन्तु ऐसा भी होता है कि कभी-कभी क्षत्रिय-कुमार को त्याग और वैराग्य की ओर विशेष प्रवृत्ति होती है (जैसे गौतम बुद्ध को), ब्राह्मण-कुमार को अस्त्र-विद्या की ओर विशेष रुचि रहती है (जैसे परशुराम और अश्वत्थामा को), अपढ़ माता-पिता के लड़के को शिक्षा की ओर विशेष रुचि हो जाती है। कोई बालक बचपन ही में अद्वितीय गणितज्ञ या अद्वितीय सङ्गीताचार्य हो जाता है। यह सब उस जीव के पूर्व जन्म से प्राप्त हुई प्रवृत्तियों का परिणाम है।

अभ्यासजन्य प्रवृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं (१) **रुचिपोषक** और (२) **रुचिसृजक**। हम ऊपर ही

कह आये हैं कि रुचि और प्रवृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए जिस ओर हमारी प्रवृत्ति होगी वही पदार्थ हमें रुचिकर होगा। अब साधारणतः प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति शरीर-रक्षा और वंश-विस्तार की ओर हुआ करती है इसलिए उसी ओर उसकी रुचि भी रहा करती है। जब हम अभ्यास के कारण ऐसी ही रुचि का पोषण करते हैं तब हम उसे रुचिपोषक-अभ्यासजन्य प्रवृत्ति कहते हैं और जब हम किसी अभ्यास के कारण किसी पूर्वसञ्चित रुचि का पोषण नहीं करते बल्कि कोई नई ही रुचि अपने में उत्पन्न करना चाहते हैं तब हम उसे रुचिसृजक-अभ्यासजन्य प्रवृत्ति कहते हैं। यह पहिले ही कहा गया है कि कोई कार्य एक बार करने से फिर दुबारा वैसा ही कार्य करने में कुछ सुगमता जान पड़ेगी और यदि वह कार्य कई बार दुहराया गया तो फिर तो हमारे मन और शरीर दोनों ही को वह कार्य करने में अत्यन्त सुगमता हो जायगी और वे वैसी परिस्थिति में वैसा ही कार्य सरलतापूर्वक कर उठावेंगे। इसे ही अभ्यास (Habit) कहते हैं। जो हमारा अभ्यस्त मार्ग होगा हम उसी से चलने की कोशिश करेंगे और नये रास्ते से जाना न चाहेंगे जब तक कि बुद्धि की प्रबल प्रेरणा न हो। इस प्रकार जो विषय हमें अभ्यस्त होता है उस ओर हमारी प्रवृत्ति होती है और जिस ओर प्रवृत्ति होती है उसी ओर रुचि भी हो जाती है। यह एक पक्का नियम है।

हमारी रुचिपोषक अभ्यासजन्य प्रवृत्ति बहुत ही जल्दी बन जाती है और बड़ी प्रबल रहा करती है। क्योंकि उसमें रुचि और प्रवृत्ति की मात्रा तो पहिले ही से रहती है। हम अभ्यास के द्वारा उसे और भी दृढ़ कर देते हैं। इसी लिए ऐश आराम और दुर्व्यसनों आदि की लत बड़ी ही जल्दी पड़ जाती और बड़ी कठिनता से छूटती है। रुचिसृजक अभ्यास-जन्य प्रवृत्ति बड़ी कठिनता और बड़े परिश्रम के बाद बनती है और बहुत ही निर्बल रहा करती है क्योंकि उसमें हमें अपनी किसी स्थायी रुचि के विपरीत कोई नयी रुचि अथवा प्रवृत्ति बनानी पड़ती है; उदाहरणार्थ भजन-पूजन का अभ्यास, संयम का अभ्यास आदि। हम आत्मजयी बनने के लिए रुचि-सृजक प्रवृत्तियों का अभ्यास कर-करके रुचिपोषक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिए न जाने कितने-कितने प्रयत्न करते हैं। परन्तु जब कभी परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर हमारी रुचि-पोषक प्रवृत्ति जाग उठती है तब उसका दमन करना असम्भव ही सा हो जाता है। बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने तप इत्यादि की रुचिसृजक प्रवृत्तियों का निरन्तर अभ्यास करके शक्ति बढ़ाई परन्तु कुसुमायुध का एक ही बाण खाकर अपनी दुर्दमनीय रुचिपोषक प्रवृत्ति की ओर फिसल पड़े और सब अभ्यास मिट्टी हो गया।

प्रवृत्ति और परिस्थिति का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक हमारी किसी भी प्रवृत्ति को अनुकूल परिस्थिति न मिलेगी

तब तक वह विकसित या प्रकट भी न होगी, चाहे वह परिस्थिति बाह्य पदार्थों के रूप में हो चाहे हमारे ही विचारों के रूप में हो। इसी लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी परिस्थिति को सदैव अपनी सत् प्रवृत्तियों के अनुकूल रक्खें और दुष्प्रवृत्तियों के अनुकूल न रक्खें। यदि हम बालक को व्यसनियों के बीच में रक्खेंगे, युवती विधवा को विलासिता की परिस्थिति में रक्खेंगे, धनी पुरुषों के चारों ओर चापलूसों की चौकड़ी इकट्ठी होने देंगे तो उनसे किस प्रकार सदाचार की आशा रख सकते हैं? जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह अपनी परिस्थिति ही को सुधारकर अपनी सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने का प्रयत्न करे।

रुचिसृजक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होने की इच्छा करने पर भी रुचिपोषक प्रवृत्ति के वशीभूत हो जाना ही मानवीय दुर्बलता (human weakness) कहाता है। मानसशास्त्रवेत्ताओं, सुकवियों और समाजसेवकों को ऐसी अनेक मानवीय दुर्बलताओं के दर्शन हो सकते हैं। आजकल के काव्यों में तो इन दुर्बलताओं का चित्र खींचना ही एक प्रधान विषय हो गया है। आजकल की कविता का आदर्श न तो हेमहीरकमण्डित भव्य राजप्रासाद है, न अमर कीर्ति-सम्पादनकारी दिव्य और सर्वतोभद्र आदर्श है, न सकलशरीरशोभासम्पन्न सुन्दरी ही है। अब तो बस मानवीय दुर्बलताओं से युक्त मनुष्य ही कविता का आदर्श है। इससे सूचित होता है

कि हम अपनी दुर्बलताओं का दर्शन करके सत्प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर होने की हिकमतें और परिस्थितियाँ पहिचानने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह उचित ही है। परन्तु यह कार्य उतना सरल नहीं जितना हम, समझते हैं। इसके लिए निरन्तर अभ्यास और प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। कथा है कि एक चोर साधु हो गया था परन्तु चोरी की प्रवृत्ति उसके मन में इतनी गहरी अङ्कित हो गई थी कि वह रात भर अन्य साधुओं के कमण्डल इधर से उधर खिसकाया करता और सबेरे फिर उन्हें यथास्थान रख दिया करता था। अब ऐसे में उसे क्या मिलता था? वह चोरी को दुर्गुण अवश्य समझता था परन्तु उस ओर से उसकी निवृत्ति न हो सकती थी इसी लिए लाचार होकर अपनी मानवीय दुर्बलता के कारण उसे ऐसा करना पड़ता था। एक और कथा है कि एक बार एक मांसभक्षी ने तीर्थाटन किया और दृढ़ सङ्कल्प करके मांस खाना छोड़ दिया था। वह कई महीने के बाद घर लौटा। उसकी स्त्री को उस मनुष्य का सङ्कल्प तो विदित ही न था इसी लिए उसने, पहिले के अनुसार, बड़े प्रेम से बढ़िया मांस अपने पति के लिए बनाया। पति ने जब यह हाल सुना तब अपनी स्त्री को बड़ी फटकार बताई और बड़े घमण्ड के साथ कहा कि अब उसने मांस खाना सदा के लिए एकदम छोड़ दिया है परन्तु जब भोजन का समय आया तब वह मांस की सुगन्धि की परिस्थिति के वशीभूत होकर अपना

लोभ संवरण न कर सका। उसने अपनी पत्नी से कहा—"मैंने मांस खाना छोड़ा है परन्तु उसका शोरवा भी छोड़ देने की थोड़े क़सम खाई है। तुम मुझे उसका शोरवा दे सकती हो।" जब स्त्री शोरवा देने लगी तब उसने बटलोही में कलछुल लगा ली जिसमें कि थाली में मांस की बोटियाँ न गिरने पावें। तीर्थयात्री कुछ देर तक तो चुप रहा परन्तु अन्त में उसकी संयम-पूर्ण प्रवृत्ति का पूर्ण पराजय हुआ और उसने अपनी स्त्री से कहा—"जो बोटियाँ स्वयं ही मेरी ओर आ रही हैं उन्हें क्यों रोकती हो? आने दो। अपनी ओर से उन्हें मेरी थाली में परोसने की ज़रूरत नहीं है परन्तु जब वे स्वयं आ जायँ तब उन्हें रोकना भी न चाहिए।" यह कैसा पाखण्ड-पूर्ण संयम और सङ्कल्प है! परन्तु वह लाचार था। अपनी पूर्व की रुचिपोषक प्रवृत्ति उसके लिए उस परिस्थिति में दुर्दमनीय हो गई और वह अपनी कमज़ोरी का शिकार बन गया। हम परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर जोश में आकर अपनी इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण न जाने कैसे-कैसे अनर्थ कर बैठते हैं जिनके प्रकट होने पर स्वयं हमीं शर्म के मारे आत्महत्या तक कर बैठते हैं। यदि हम पहिले ही से अपने विचार शुद्ध रक्खें और इस प्रकार अपनी प्रवृत्तियाँ ठीक रक्खें तो हमसे ऐसे अनर्थ क्योंकर हो सकते हैं।

हमारी प्रवृत्तियाँ (instincts) इतनी अधिक और अनेक हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। कई विद्वानों

ने हमारी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को गिनने का प्रयत्न किया है परन्तु वे भी अपने प्रयत्न में पूर्ण रूप से कृतकार्य नहीं हो सके हैं। हम किसी एक विषय की उपलब्धि के लिए कुछ साधन एकत्र करने का प्रयत्न करते हैं (उदाहरणार्थ शरीर-रक्षा के लिए अन्न एकत्र करते हैं) परन्तु उसी साधन की ओर निरन्तर अभ्यास होते रहने से हमारी प्रवृत्ति और रुचि उस मूल विषय के साथ ही साथ उस साधन की ओर भी हो जाती है और वह साधन (means) ही कुछ काल बाद साध्य (end) हो जाता है। (उदाहरणार्थ शरीर-रक्षा के साथ ही साथ अन्न-संग्रहेच्छा) और फिर इस साध्य की पूर्ति के लिए दूसरे साधनों का अभ्यास करना पड़ता है (उदाहरणार्थ अन्न-संग्रहेच्छा की पूर्ति के लिए कृषि का प्रयत्न अथवा पैसा प्राप्ति का प्रयत्न); फिर कालान्तर में वे साधन भी साध्य हो जाते हैं और उनके लिए नई-नई हिकमतें और नये-नये साधनों का अभ्यास करना पड़ता है (उदाहरणार्थ पैसा कमाने की हिकमतें जिनमें व्यापार, व्यवसाय, जुवा, चोरी, छल-कपट, स्वार्थ, दम्भ इत्यादि सभी आ जाते हैं); फिर क्रमशः वे हो साधन हमारे लिए साध्य हो जाते हैं और हमारी रुचि और प्रवृत्तियाँ उन्हीं के सम्पादन करने में व्यग्र हो जाती हैं। इसी लिए हमारी रुचियों में इतनी भिन्नता और हमारी प्रवृत्तियों में इतनी अनेकता रहती है। ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता का विकास होगा त्यों-त्यों

हमारी प्रवृत्तियों की शाखा-प्रशाखाएँ भी विस्तीर्ण होती जायँगी और इस विस्तार के आगे हमारी मूल प्रवृत्ति एकदम भूल सी जायगी।

शरीररक्षा ही हमारी मूल प्रवृत्ति है और पाक-कला केवल इसकी पोषक प्रवृत्ति है। परन्तु क्या हम पीछे सुस्वादु भोजन ही को अपने जीवन का ध्येय नहीं मान बैठते और इसकी वेदी पर क्या हम अपने स्वास्थ्य और शरीर तक का ही बलिदान नहीं कर देते? वंश-विस्तार ही हमारी मूल प्रवृत्ति है और कामकला को केवल उसकी पोषक प्रवृत्ति होनी चाहिए परन्तु क्या इस कला के चक्कर में पड़कर हम पुरुषत्व खोकर निर्वीर्य नहीं बन बैठते? इसी प्रकार हम शरीर में स्फूर्ति लाने के लिए और कुछ शान्ति लाने के लिए मादक द्रव्यों का ग्रहण करना प्रारम्भ करते हैं परन्तु क्या कालान्तर में हम उसी के पैरों पर अपनी सम्पूर्ण स्फूर्ति और सम्पूर्ण शान्ति अर्पित नहीं कर देते?

इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति, राग और द्वेष की अनेक सीढ़ियां और श्रेणियाँ होती हैं और वे सदैव बदला करती हैं। जिनमें ये श्रेणियाँ निम्न कोटि की हैं उनके विचार और कार्य भी निम्न कोटि ही के अधिक रहा करेंगे। जिनमें उच्चकोटि की प्रवृत्तियाँ होंगी उनके कार्य भी उच्च और विशद रहेंगे। क्षुद्र मनुष्य अपने रोटी-कपड़ों का ही एकान्त संग्रह करना चाहेगा। इसी के लिए दूसरों का गला काटेगा, संसार से

द्वेष करेगा और येनकेन प्रकारेण अपना स्वार्थ सिद्ध करेगा। महात्मा पुरुष जगत् के कल्याण के लिए अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर देगा और व्यक्तिगत रागद्वेष कभी होने ही न देगा। संकीर्ण पुरुष मूल प्रवृत्ति का विचार भूलकर रुचि-वैषम्य की भूलभुलैया में भटकता रहेगा और विचारशील व्यक्ति उस वैषम्य की भूलभुलैया को हटाकर सादगी ही पसन्द करेगा और मूल प्रवृत्ति ही को देखकर सत्कार्य करेगा। समाज की विशृङ्खलताएँ बहुत कुछ इस वैषम्य की भूलभुलैयों के कारण हैं। इन सबका अध्ययन करके इन्हें उचित सीमा के भीतर ही रखना समाज के कर्णधारों का कर्त्तव्य है।

जिन्हें भारतीय विद्वानों ने षड्रिपु कहा है वे काम, क्रोध, लोभ आदि इसी राग-द्वेष के परिणाम हैं। आकर्षण ही का नाम राग है और विकर्षण का द्वेष। वंश-वृद्धि के लिए विपरीत लिङ्गवाले जीवों का (स्त्री को पुरुष का और पुरुष को स्त्री का) जो आकर्षण होता है उसे **काम** कहते हैं। शरीर-रक्षा अथवा हृदय के सन्तोष के लिए जीवों का जो आकर्षण होता है उसे **मोह** कहते हैं। जब यही आकर्षण द्रव्य अथवा उसी कोटि के निर्जीव पदार्थ की ओर होता है तब उसे **लोभ** कहते हैं। इसी प्रकार जिस क्रिया में अपनी ही महत्ता विशेष रहे, शेष सब वस्तुओं की ओर साधारण विकर्षण रहे उसे **मद** कहते हैं। जिस क्रिया में दूसरों की महत्ता का भी कुछ अनुभव होता रहे तथा इसी कारण उनकी महत्ता की ओर

कुछ विरोधभाव सा रहे और इस प्रकार उनकी ओर विकर्षण का भाव कुछ अधिक रहे उसे **मत्सर** कहते हैं; तथा जिस क्रिया में किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समुदाय-विशेष की प्रधानता रहे और उनके प्रति तीव्र विकर्षण का भाव रहे उसे **क्रोध** कहते हैं। इस प्रकार राग के विकार काम, मोह और लोभ हैं तथा द्वेष के क्रोध, मद, मत्सर। (इन विकारों में काम और क्रोध बड़े प्रबल हैं इसलिए कभी-कभी ये दोनों राग और द्वेष के पर्यायवाची शब्द ही मान लिये जाते हैं। यथा, "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्"—गीता।) राग और द्वेष के सब विकार इन्हीं छः रूपों में सीमाबद्ध हों ऐसा नहीं है। राग के उदाहरण में व्यसन (नशेबाज़ी) या कीर्ति-लिप्सा भी आ सकती है परन्तु इनमें से कोई भी न तो काम है न मोह है न लोभ है; इसी प्रकार द्वेष के उदाहरणों में द्रोह, ईर्ष्या, असूया, घृणा इत्यादि का नाम लिया जा सकता है जिनमें से कोई भी न तो क्रोध है, न मद और न मत्सर। परन्तु प्रधानता ऊपर लिखे हुए छः विकारों ही की है इसी लिए छः ही रिपुओं का उल्लेख हुआ है।

हम इन छहों विकारों को अपना शत्रु मानकर इनका एकदम समूल उन्मूलन कर देना चाहते हैं। परन्तु क्या यह सबके लिए सम्भव है? यदि ये छः विकार न रहें तो संसार का अस्तित्व ही उठ जाय। यदि काम न हो तो वंशवृद्धि

बन्द हो जाय। यदि क्रोध न हो तो शृङ्खला, नीति, व्यवस्था, शासन इत्यादि का नाम ही उठ जाय। यदि लोभ न हो तो ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ही बन्द हो जाय। यदि मोह न हो तो कौटुम्बिक जीवन और समाज-सम्बद्धता में बाधा पड़ जाय। यदि मद न हो तो अपनापन भूलकर विकास का मार्ग ही बन्द हो जाय और यदि मत्सर न हो तो स्पर्धा के अभाव में हमारी महत्वाकांक्षाओं का नाश होकर हमारी उत्साहशीलता ही नष्ट हो जाय। संसार का प्रवाह नित्य चल रहा है और चलता रहेगा और इसी लिए इन सब विकारों का नाश सबके सब एक साथ कदापि नहीं कर सकते। इन्हें रिपु न समझना चाहिए बल्कि इन्हें अपना परम सहायक मानना चाहिए। यदि आवश्यकता है तो केवल यही कि इन पर बुद्धि का अंकुश सदैव बना रहे। क्योंकि यह पहले ही कहा गया है कि मन अन्धा है और इसलिए यदि उसे बुद्धि का सहारा न मिला तो वह चित्त का अनुचर बन जाता है। ज्योंही बुद्धि का अंकुश ढीला हुआ त्योंही यथार्थ ही ये छहों विकार उन्मार्गगामी होकर हमारे परम शत्रु बन बैठते हैं। हमारे मन की ये क्रियाएँ (प्रवृत्तियाँ, निवृत्तियाँ) पानी के बहाव के समान जिधर मार्ग पाती हैं उधर ही चल निकलती हैं। बुद्धि ही चतुर माली के समान उन्हें ऐसे मार्ग से बहाती है जिनके संयोग से सद्विचारों के वृक्ष हरे भरे हो उठते हैं और हृदय का भावोद्यान अपूर्व सौन्दर्य से चमक उठता है।

जो जीव परम शान्ति के प्रेमी रहते हैं वे एकदम मनोनाश ही कर देना चाहते हैं क्योंकि मन ही के कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति ही के कारण चञ्चलता और चञ्चलता ही के कारण अशान्ति होती है। वे न तो कोई कर्म करना चाहते हैं और न कर्मफल ही चाहते हैं। ऐसे शान्ति के प्रेमी लोग संसार से बहुत दूर भागना चाहते हैं और एकदम वैराग्य और संन्यास लेकर अकर्मण्य बने रहना चाहते हैं। परन्तु इस संसार में रहकर पूर्णतः अकर्मण्य बनना एकदम असम्भव है। "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"। कम से कम साँस लेने या और कुछ न हो तो शरीर के भीतर जीवित रहने का कर्म तो अवश्य होता रहेगा। हमारा जीव जब तक संसार में है तब तक उसके मन, बुद्धि और चित्त अवश्य ही विद्यमान रहेंगे इसलिए मनोनाश का प्रयत्न भी करीब-करीब असम्भव ही सा है। परन्तु यद्यपि हम 'सर्वकर्मपरित्याग' नहीं कर सकते तथापि यदि हम चाहें तो 'सर्वकर्मफलत्याग' अवश्य कर सकते हैं। संस्कारों में हमारे मन की जो आसक्ति (ममत्व-बुद्धि अथवा 'ये संस्कार मेरे हैं' यह भावना) हो जाती है उसी के कारण उससे प्रवृत्ति-निवृत्ति के फल फलते हैं। यदि हम आसक्ति ही को नाश कर दें तो हमारा मन प्रवृत्ति और निवृत्ति के झञ्झटों से मुक्त होकर अवश्यमेव शान्त हो जायगा और साथ ही हमारे कर्म भी न रुकेंगे क्योंकि वे प्रकृति अथवा पूर्ण तत्व की प्रेरणा से आप ही आप हमारे शरीर द्वारा सम्पादित

होते जायँगे। हम देख चुके हैं कि हमारे जीव की केवल प्रवृत्ति-मयी और निवृत्तिमयी अवस्था ही नहीं रहती। उसकी एक और भी अवस्था होती है जिसे हम उदासीन अवस्था कहते हैं। जीव की स्थिति उस अवस्था में, होने से हमें मन की किसी क्रिया का पता नहीं चलता। हम मन की आसक्ति हटाकर जीव को इसी उदासीन अवस्था में बनाये रख सकते हैं और इसे परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव करा सकते हैं। यह आसक्ति अथवा वासना कैसे दूर हो सकती है? केवल ईश्वरा-र्पण बुद्धि से। हम यदि व्यक्तित्व की स्वतन्त्र भावना ही न रक्खेंगे और इस प्रकार अपने अहङ्कार को गलाकर अपने सम्पूर्ण कार्यों, सम्पूर्ण भावों, संपूर्ण विचारों को भगवान् (पूर्णतत्व) के चरणों में अर्पण करके वे सब उन्हीं के कार्य, उन्हीं के भाव और उन्हीं के विचार समझेंगे तो अवश्यमेव हमारी सङ्कीर्णता का नाश होकर हमारी वासनाओं का क्षय हो ही जायगा। भगवद्गीता में यही विषय प्रतिपादित किया गया है और आगे चलकर यही विषय कुछ विस्तार से कहा जायगा। प्रसङ्गवश ही यहाँ पर इतना लिख दिया गया है। जो मनुष्य परमशान्ति का इच्छुक है उसके लिए यह उपाय है। और जो मनुष्य राग-द्वेष के द्वन्द्व से अतीत नहीं होना चाहता है तथा संसार में खेलते, खाते, उठते और गिरते रहने की इच्छा रखता है उसे इस पचड़े में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है।

---

१६ संस्कारों ही के कारण प्रवृत्तियों और निवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है और यही कर्म-रहस्य है—

हमारी क्रियाएँ केवल हमारे संस्कारों का परिणाम हैं। हमारे जैसे संस्कार रहेंगे उसी के अनुसार हमारी क्रियाएँ होती रहेंगी। अगले परिच्छेद में जो तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ बताई गई हैं वे असल में तीन प्रकार के संस्कारों (dispositions) ही के परिणाम हैं। एक तो हमारे नैसर्गिक संस्कार रहते हैं जिनके कारण हममें नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। दूसरे हमारे परम्परागत संस्कार होते हैं जिनके कारण हममें परम्परागत प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। तीसरे हमारे अभ्यासजन्य संस्कार होते हैं जिनके कारण हममें अभ्यासजन्य प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं संस्कारों के समूह को हम स्थूल दृष्टि से एक प्रकार से अपना **स्वभाव** (character) कह सकते हैं और इसी स्वभाव की प्रेरणा से जो कार्य होते हैं उन्हें **आचार** या **आचरण** (conduct) कहते हैं; तथा जिस शास्त्र से हम अपने स्वभाव और आचार को समझकर ठीक कर सकते हैं उसे **सदाचारशास्त्र** या नीतिशास्त्र (Ethics or moral science) कहते हैं।

हमारे आचार हमारे स्वभाव के परिणाम अवश्य हैं परन्तु वे आचरित होकर हमारे संस्कारों की भी वृद्धि करते और इस प्रकार हमारे स्वभाव पर भी असर पहुँचाते हैं। और कभी-कभी तो हमारे आचार हमारे स्वभाव को एकदम बदल भी देते हैं। इस प्रकार स्वभाव का असर आचार पर और आचार का स्वभाव पर पड़ा करता है और इसी लिए सदाचारशास्त्र में इन दोनों पर विचार करने की आवश्यकता रहती है।

संस्कारों के ही कारण हममें अपने व्यक्तित्व का बोध होता है। संस्कारों ही के कारण हममें वासना अथवा आसक्ति का उदय होता है (क्योंकि हम उन्हें अपने संस्कार समझते हैं।), संस्कारों ही के कारण हम इस संसार में इस प्रकार दिखाई पड़ते हैं। संस्कारों ही के कारण होनेवाले गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार भारतवर्ष में चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई है। और हिन्दू धर्म का प्रबलतम अङ्ग केवल संस्कारों की शुद्धि ही के लिए है।

हमारा क्षुद्र से क्षुद्र कार्य भी चेतना के क्षेत्र में पहुँचकर संस्कार का रूप धारण करके हममें वर्तमान रहता है। हमें यह न समझना चाहिए कि हमने वह कार्य कर दिया और बस वह वहीं समाप्त हो गया और उसका फल अब हमें और कुछ न होगा। ऐसा समझना बड़ी भूल है। वह अवश्य ही संस्कार का रूप धारण करके अपने उपयुक्त वासना की उत्पत्ति कर देता है जिसके कारण उस ओर हमारी प्रवृत्ति होने

लगती है। अब यदि यह संस्कार प्रबल होगा तो वासना भी प्रबल होगी। यदि संस्कार निर्बल हैं तो वासना और प्रवृत्ति भी निर्बल रहेंगी। परन्तु वही निर्बल वासना फिर वैसा ही कार्य हो जाने पर प्रबल भी बन सकती है और इस प्रकार वही निर्बल वासना, समय पाकर, एकदम दुर्दमनीय बन सकती है। जहाज़ में पहिले बहुत छोटी दरार ही तो पड़ती है परन्तु वही अप्रतिहत होने के कारण क्रमशः कितनी अमिट हो जाती है। घर में जब आग लगती है तब पहिले एक ही चिनगारी तो रहती है लेकिन वही बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण घर को ही स्वाहा कर डालती है और किसी के रोके नहीं रुकती। यह सब लिखने का तात्पर्य यही है कि हमें अपने छोटे-छोटे कार्यों को भी उपेक्षा की दृष्टि से न देखना चाहिए और उनमें भी असत् प्रवृत्तियों का अंकुर न जमने देना चाहिए। जो आज केवल हँसी-हँसी में झूठ बोल लेते हैं अथवा मित्रों के विशेष आग्रह पर ही बीड़ी या सिगरेट पी लेते हैं वे यदि इस ओर उपेक्षा करते हुए इन बातों की विशेष पुनरावृत्ति होने देंगे तो अवश्यमेव एक दिन भयङ्कर झूठे तथा नम्बर एक के बीड़ी या सिगरेटबाज़ बन जावेंगे।

यह संसार वह बाज़ार है जहाँ हमारी प्रत्येक क्रिया 'इस हाथ दे उस हाथ ले' वाले नक़द सौदे के ढङ्ग की हुआ करती है। हम जो कुछ कर्म करेंगे उसका फल हमें मिलना अवश्यम्भावी है। चाहे वह फल हमें अभी मिले चाहे कुछ

दिन के बाद, चाहे पर-जन्म में; क्योंकि वे क्रियाएँ हमारे हृदय में संस्कार रूप से अवश्य वर्तमान रहेंगी। और यदि इस जन्म में चरितार्थ न हो सकीं तो अपनी वासना के कारण वे अगले जन्म में अपनी ऐसी ही परिस्थिति प्राप्त कर लेंगी जिसमें पड़कर वे चरितार्थ हो सकें। इसे ही **कर्म सिद्धान्त** कहते हैं। विश्व की सञ्चालिका शक्ति का यह प्रबलतम नियम है। उसी सञ्चालिका शक्ति को हम **विधि** (जिसका अर्थ ब्रह्मा और नियम दोनों होते हैं) कहते हैं और उस विधि का विधान अथवा विधाता का लेख एकदम अमिट समझते हैं। इस कर्मसिद्धान्त में रियायत की ज़रा भी गुञ्जाइश नहीं। हम दीवार से सिर टकरावेंगे तो उसमें अवश्य ही चोट आवेगी और इसी तरह यदि हम कोई सत्कर्म अथवा दुष्कर्म करेंगे तो उसका अच्छा अथवा बुरा फल हमें भोगना ही होगा। और नहीं तो सत्कर्म से उत्पन्न होनेवाले सन्तोष और दुष्कर्म से होने-वाले पश्चात्ताप, ग्लानि या निराशा का अनुभव तो हमें अवश्य ही होगा। हमें चाहे अपने सत् और असत् कार्यों का फल बाह्य जगत् में कुछ भी न मिले परन्तु उस सत् अथवा असत् कार्य के संस्कारों से उत्पन्न होनेवाले मानसिक सन्तोष और मानसिक ग्लानि का अनुभव तो हमें अवश्यमेव होगा; चाहे वह आज हो, चाहे कुछ सालों के बाद, चाहे कुछ जन्मों के बाद। हम लोग तो पूर्णत्व के लिए विकासशील हैं। इस-लिए यह निश्चय ही है कि यदि आज हम किसी असत्कार्य

को (उदाहरणार्थ चोरी या शराबख़ोरी को) ठीक समझकर ग्रहण कर रहे हैं तो किसी न किसी दिन उसकी बुराई का भी अनुभव हमें अवश्य होगा और फिर उस समय उस विषय की अपनी वासना पर आँसू बहाने और उसका दमन करने की जो प्रयत्न करने पड़ेंगे वही हमारे उस असत् कर्म की काफ़ी सज़ा है। हमारे जो कुछ **क्रियमाण** कर्म होते हैं वे हममें इन्हीं संस्कारों के रूप में **सञ्चित** रहते हैं और जिस समय उसकी फलप्राप्ति हमें **प्रारब्ध** होती है उस समय उस प्रारब्ध कर्म का भोग हमें करना ही पड़ता है, चाहे वह मीठा हो चाहे कड़ुआ।

"प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः"। यही ईश्वरीय न्याय है और यही उसका दण्ड-विधान कहा जाता है।

ईश्वर डंडा लेकर प्रत्येक जीव के पीछे नहीं पड़ा रहता। जीव के कार्य स्वयं ही उसके लिए दण्ड निर्माण कर देते हैं।

"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।"

उस दण्ड से दण्डित होकर हम ईश्वर को निष्करुण, निर्मम इत्यादि होने का व्यर्थ ही दोष लगाते हैं। जिस प्रकार क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों के चक्र को हम **ईश्वरीय न्याय** कहते हैं उसी प्रकार पश्चात्ताप और ईश्वर-प्रणिधान को हम **ईश्वरीय दया** कह सकते हैं। हम ईश्वर-प्रणिधान द्वारा अपनी कमज़ोरियों के संस्कार क्षीण

करके पूर्णत्व के संस्कार प्रबल करते हैं और इस प्रकार अपने असत् कार्यों से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों का बहुत कुछ मार्जन कर लेते हैं। इसी तरह पश्चात्ताप से हम उन वासनाओं को भस्म कर डालते हैं जो असत् संस्कारों के कारण उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार हम अपने पश्चात्ताप और ईश्वर-प्रणिधान से असत् संस्कारों और वासनाओं को नष्टप्राय करते हुए ईश्वरीय दया के भागी बन जाते हैं और असत् फलों के भोग से बच जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह पश्चात्ताप ही हमारी काफ़ी सज़ा हो जाता है। इस तरह जैसे ईश्वरीय न्याय हमारे कर्मसिद्धान्त ही के अन्तर्गत है वैसे ही ईश्वरीय दया भी उसी के अन्तर्गत है। ईश्वर अपने न्याय की गदा और दया का पद्म लिये हुए प्रत्येक व्यक्ति के पीछे नहीं खड़ा रहता। उसका न्याय और दया केवल हमारे ही कर्मों का परिणाम है। केवल भाव-वृद्धि और भाव-शुद्धि के लिए हम मान लेते हैं कि वह हमारे ही समान कोई स्वतंत्र और भिन्न व्यक्तित्ववाला होकर न्याय और दया का वितरण किया करता है। ऐसा मान लेना बुरा नहीं है क्योंकि इससे हमें ईश्वर-प्रणिधान और पश्चात्ताप में बड़ी सहायता मिलती है। जब हमें सङ्कट पड़ता है तब हम दीन-हीन गजेन्द्र की स्थिति का ध्यान करके गरुड़गामी का आह्वान करते हैं, द्रौपदी का चीर बढ़ानेवाले द्वारकावासी का ध्यान करते हैं; अपनी हीनता प्रदर्शित करते हुए अपना हृदय उस कल्पित ईश्वर के सामने

खोल दिया करते हैं और इस प्रकार पश्चात्ताप के विशुद्ध आँसू बहाते हुए अपने मलिन संस्कारों को उन आँसुओं से धो डालते हैं। परन्तु जब हम ऐसे ईश्वर की कल्पना करके उससे अपने कल्याण के विषय में सौदा-सट्टा करने लगते हैं तब हँसी आये बिना नहीं रहती। हम कहते हैं "हे भगवान्, यदि इम्तहान में पास कर दोगे तो नारियल चढ़ावेंगे, यदि यह कार्य सिद्ध कर दोगे तो सवा सेर की मिठाई चढ़ावेंगे" इत्यादि। क्या ईश्वर कोई मनचला बालक है जो नारियल अथवा मिठाई के लालच में आकर हमारी ग़ुलामी करे? वह मिठाई का भूखा नहीं बल्कि भाव का भूखा है। उसकी कल्पना भी केवल भाव-शुद्धि और भाव-वृद्धि के लिए है, इसलिए बाह्य आडम्बरों की उसे बिल्कुल ही आकांक्षा नहीं है।

"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवः तस्माद्भावं समाश्रयेत्॥"

फिर नारियल और मिठाई के ये सौदे उसे क्योंकर रुचिकर होंगे! आश्चर्य तो और भी होता है, जब जुवा खेलने, चोरी करने, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का गला काटने आदि में भी मनुष्य ईश्वर की सहायता माँगा करते हैं। ऐसी बातों से हममें दाम्भिकता बढ़ती है और यदि हमारा ईश्वर-सम्बन्धी अन्धविश्वास ऐसे ही भावों पर जमा हुआ है तो वह अवश्य फलहीन होकर निरर्थक हो जायगा। क्योंकि ऐसे विचारवाले मनुष्यों का आराध्य देव ईश्वर नहीं है बल्कि स्वतः उनकी ही

प्रवृत्तियाँ हैं। वे ईश्वर की उपासना केवल इसी लिए करते हैं क्योंकि उसके द्वारा वे अपनी इन प्रवृत्तियों को चरितार्थ कराना चाहते हैं। इसी लिए ईश्वर की निष्काम उपासना ही सच्ची उपासना है। (जो उसकी सकाम उपासना करते हैं वे भी अपने कार्य में सफलमनोरथ हो सकते हैं लेकिन शर्त यह है कि ईश्वर की ओर उनकी लगन सच्ची रहनी चाहिए।)

स्वर्ग और नरक वास्तव में हमारे मन की अवस्थाओं ही के नाम हैं। निरालम्बोपनिषद् में लिखा है कि "असत्-संसार-विषयजनसंसर्ग एव नरकः। सत्संसर्गः स्वर्गः।" हमारे मन के असत् संस्कारों का होना ही नरक है और सत् संस्कारों का होना ही स्वर्ग है। हम असत् संस्कारों अथवा असत् कार्यों के कारण क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, लोभ, मोह, इत्यादि के फंदे में फँसकर सदैव अशान्त और दुःखी बने रहते हैं। हमारे ही सत् संस्कार हमारी भर्त्सना करते रहते हैं जिसके कारण हमें पश्चात्ताप, निराशा इत्यादि प्राप्त होते हैं। अथवा नित्य प्रति बढ़ती हुई दुर्वासना की पूर्ति के पर्याप्त साधन न पाकर हम उसी वासना की कड़ाही में जला करते हैं और मरने के बाद पिशाच होते हैं। यही तो नरक है। तथा सत् कार्य करते रहने से अथवा सत् संस्कारों के होने से जो हमें शान्ति, सन्तोष और सुख का अनुभव होता है वही तो स्वर्ग है। एक ग़रीब आदमी अपनी छोटी झोपड़ी और टूटी

खाट ही में सन्तोष के खर्राटे भरकर स्वर्गीय सुख-भोग कर सकता है परन्तु एक चक्रवर्ती सम्राट् अपनी कामवासनाजन्य, लोभवासनाजन्य अथवा द्रोहवासनाजन्य दुष्प्रवृत्तियों के कारण असन्तुष्ट और अशान्त रहकर नारकीय चिन्ताओं का आगार बना रह सकता है। बड़े-बड़े हिम्मती आदमियों ने निरीह निर्बलों का अकेले में हँसते-हँसते ख़ून कर डाला है परन्तु पीछे उन्हीं के हृदय ने उन्हें वे लातें लगाई हैं कि अन्त में वे बिलबिला उठे हैं और ख़ून उनके सिर पर चढ़कर चिल्ला उठा है। साहित्य ग्रन्थों में इसके अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। हम कोई अपराध करके अपने प्रभाव-विशेष के कारण बाहरी दण्ड से भले ही बच जायँ परन्तु हमारे ही हृदय के भीतर जो हमारे ही संस्कारों का महाभारत मच जायगा उसके दण्ड से हम अपने को कैसे बचा सकते हैं।

इसलिए यह हमारा आवश्यकीय कार्य होना चाहिए कि हम अपने हृदय में सदैव अच्छे संस्कार ही भरने का प्रयत्न करें। हमारे संस्कारों की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। जो सबसे उत्तम, विशद और श्रेयसाधक संस्कार हैं उन्हें हम सात्विक संस्कार कहते हैं। अपने भीतर ऐसे सात्विक संस्कारों ही की वृद्धि करना हमारे लिए अभीष्ट है। उन्हीं की वृद्धि होने पर हमारे कुसंस्कारों का दमन होगा और हम कृतकृत्य हो सकेंगे; अन्यथा सभी प्रकार के संस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाली भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों के फ़ुटबाल बनकर लातें खाते

हुए हम कभी सुख के और कभी दुख के गोल में गिरते पड़ते रहेंगे और हमारा उद्धार कभी न हो सकेगा।

सूत्र १७

१७ मन की विकाशोन्मुखी क्रिया को पुण्य और ह्रासोन्मुखी क्रिया को पाप कहते हैं—

पुण्य और पाप हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म ही के अटल परिणाम हैं। बल्कि यदि हम अपने सत्कर्मों ही को पुण्य और दुष्कर्मों ही को पाप कह दें तो कोई अनुचित न होगा। अब हमारे ये सत्कर्म क्या हैं और दुष्कर्म अथवा विकर्म क्या हैं इसका निर्णय कर देना सरल नहीं। गीता में कहा है "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:" (कर्म क्या है और अकर्म क्या है इसका निर्णय करने में बड़े-बड़े विद्वान् चक्कर खा गये हैं) सो यथार्थ ही है।

हम प्राय: प्रत्येक धर्मग्रन्थ अथवा नीतिग्रन्थ में अपने सत्कर्मों और दुष्कर्मों की लिस्ट लिखी हुई पाते हैं। ग्रीस के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्लेटो ने ज्ञान, शक्ति, संयम और न्याय ही को चार प्रधान सत्कर्म (virtue) माना है। अरिस्टाटल ने अपने मध्यमार्ग का सिद्धान्त निकालकर इन सद्‌गुणों की सूची बहुत बढ़ा डाली है। मध्यमार्ग (Golden mean) अर्थात् "अति सर्वत्र वर्जयेत्" वाला सिद्धान्त अपने यहाँ जैन बौद्ध

लोगों को अभिमत हुआ है और उनके ग्रन्थों में मध्यमा प्रतिपदा के नाम से अभिहित हुआ है। इस मध्यमा प्रतिपदा ही को बौद्ध दर्शन में अष्टाङ्गिकमार्ग कहते हैं और इस प्रकार सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ही को आठ प्रधान धर्म माना है। जैन लोगों ने तीन ही विषयों अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को प्रधानता देते हुए उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम अकिञ्चन और उत्तम ब्रह्मचर्य ऐसे दस नियमों का विधान किया है। हिन्दुओं के प्रधान धर्मशास्त्र मनुस्मृति में भी क्षमा, दम, तप, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध इस प्रकार धर्म के दस लक्षण माने गये हैं।*

अन्य एक स्मृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम और क्षान्ति ही को सर्व साधारण के लिए कर्तव्य कर्म बताया गया है।†

महाभारत में यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दम और अलोभ इस प्रकार के अष्टाङ्ग सत्कर्म की चर्चा की गई है

---

* क्षमा दमः तपोऽस्तेयम् शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्॥

† अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

और उसमें भी कहा गया है कि पहले चार सत्कर्म तो दम्भी लोग भी कर सकते हैं परन्तु पिछले चार केवल महात्माओं ही में रहते हैं।*

योग में **यम** के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ऐसे दस भेद बताये गये हैं और इसी प्रकार तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ऐसे दस **नियम** बताये गये हैं। और इन यम-नियमों का अभ्यास करने का आदेश दिया है।† ईसाइयों ने भी दस **आज्ञाओं** (10 Commandments) का प्रचार किया है। मुसलमानी धर्मग्रन्थों में भी ऐसी ही कर्माज्ञाओं का उल्लेख है। कहाँ तक कहा जाय, प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक और नीतिशास्त्र ने ऐसी ऐसी धर्माज्ञाओं की फ़ेहरिस्त सी बनाई है और उनका अभ्यास करने का उपदेश दिया है। और इसके विपरीत विकर्मों की भी सूची तैयार की गई है और उनसे बचते रहने का उपदेश दिया गया है। भारतीय धर्म-

---

* इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति॥

† अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवं।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचन्त्वेते यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणम् चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥

शास्त्रियों ने ऐसे विकर्म प्रधानतः दस माने हैं यथा—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, ईर्ष्या तथा असूया और शेष सब असत् कार्यों को इन्हीं की शाखा-प्रशाखा बताया है।

ऊपर के कथन से दो बातें विदित होती हैं। पहिली यह कि महात्माओं ने सत्कर्मों का यह भेद बताकर उनके आचरण करने का जो आदेश दिया है वह अवश्य ही किसी अभीष्ट फलप्राप्ति के लिए दिया है। इन सदाचरणों के अभ्यास से हम अवश्यमेव कोई ऐसा पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं जो हमें प्राप्त करना ही चाहिए। इसी लिए इन आचरणों का उपदेश दिया गया है। वह अभीष्ट पदार्थ है हमारा विकास और हमारा पूर्णत्व। उसी की प्राप्ति के लिए ये सदाचार रूपी साधन हमारे सामने महात्माओं ने रख दिये हैं। इसी अभीष्ट कसौटी पर हमारे सम्पूर्ण आचरणों को कस-कसकर महात्माओं ने यह स्थिर किया है कि कौन आचार सदाचार है और कौन कदाचार। जो क्रिया हमारी विकास की साधिका हो वह सदाचार (virtue) है और जो बाधिका हो वह कदाचार (vice) है। दूसरी बात यह विदित होती है कि हमारे सदाचार अथवा कदाचार की कोई निश्चित संख्या नहीं है। वे दो ही हैं, चार ही हैं, दस ही हैं या बीस ही हैं, यह कहना ठीक नहीं। उनकी संख्या अनेक है। परन्तु महात्माओं ने अपने-अपने समय के देश-काल-पात्र के अनुसार जो आवश्यक नियम देखे उन्हें ही धर्म-आज्ञाओं के रूप में रख

दिया। परिवर्तनशील परिस्थिति के बदलने पर जब उनमें का कोई नियम उपयोगी न रहा तो वह या तो पीछे के किसी महात्मा धर्म-प्रवर्तक या सुधारक द्वारा संशोधित ही कर दिया गया था बदल ही डाला गया।

हमारे सम्पूर्ण कर्मों का आदर्श है अखण्ड सत्, अनन्त कल्याण अथवा परम शिवत्व। जिस क्रिया से यह लक्ष्य समीप होता जावे उसे पुण्य और जिस क्रिया से यह दूर होता जावे उसे पाप कहेंगे। पाप पुण्य परखने की यही सच्ची कसौटी है। अब इस अनन्त कल्याण का अर्थ केवल हमारा व्यक्तिगत कल्याण कभी नहीं है। हमारा आदर्श तो सम्पूर्ण विश्व का कल्याण (जिसमें अहम् और अनहम् दोनों का कल्याण निहित है) है। इसी लिए जिस कार्य से इतर जीवों का अकल्याण होते हुए केवल हमारा ही कल्याण हो सके वह कार्य अवश्य ही हमारा अधःपतन करनेवाला होगा। क्योंकि उससे हमारा जीव संकुचित होता जायगा और अनन्त कल्याण कभी न हो सकेगा। इसलिए यद्यपि वह क्रिया हमें कल्याणप्रद जान पड़ती है और इसी लिए रोचक भी रहती है फिर भी वह ह्रासोन्मुखी रहती है और इसलिए पाप कहाती है। पाप इसी लिए आकर्षणकारी (tempting) है क्योंकि उससे हम अपना व्यक्तिगत कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु उसके साथ जो इतर जीवों का अकल्याण मिला हुआ है इसी लिए वह पाप है। चोरी से चाहे हमें

धन मिल जाय परंतु हमारे पड़ोसी का अकल्याण ही होकर हमें उस धन की प्राप्ति होगी। व्यभिचार से हमें चाहे क्षणिक सुख संभव हो परंतु उसके साथ समाज की विश्रब्धता, व्यवस्था और शान्ति का संहार भी अवश्यम्भावी है। इसी लिए इन कार्यों से हमारा जीव दिन दिन संकुचित और पतित होता जाता है। सदाचार—उदाहरणार्थ सत्य, दया, अहिंसा इत्यादि—के गुणों से हमारा कल्याण भी हो सकता है और साथ ही किसी का अकल्याण होने की भी आशङ्का नहीं है। चाहे एक बार हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ पर इन बातों से कुछ धक्का भी पहुँचे परन्तु इनसे हमारे जीव की विशदता तथा इतर जीवों का कल्याण तो सम्पन्न होता ही है। इन कार्यों की स्थिति हममें जितनी अधिक होती जायगी उतना ही हम अपने आदर्श की ओर अधिक बढ़ते चले जायँगे। इसी लिए इन गुणों को पुण्य कहा गया है।

कदाचित् यही विचारकर किसी ने परोपकार ही को पुण्य और परपीड़न ही को पाप कहकर पाप-पुण्य की सरल, स्पष्ट और पूर्ण परिभाषा देने की चेष्टा की है (नानाशास्त्र-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥) यह उक्ति निःसन्देह बहुत अच्छी है परन्तु इसमें एक बात की त्रुटि है। इसमें **पर**-पीड़ा और **पर**-उपकार ही की बात कही गई है, **स्व** का कहीं उल्लेख नहीं। अब यह बात तो निश्चित है कि हम जो कुछ करते हैं स्व-कल्याण

की प्रेरणा से करते हैं। अगर उस स्व-कल्याण के काम में पर-पीड़न भी निहित हो तभी हम उसे पाप कहेंगे अन्यथा नहीं। यदि यह बात न हो और हम 'पर' के आगे 'स्व' का भाष बिलकुल ही उड़ा दें तो फिर हम अधिक लोगों के अधिक सुख के चक्कर में पड़कर आत्मघाती बन सकते हैं। यदि हम किसी राजा के विश्वस्त मंत्री हैं और उसकी आँख बचाकर उसका ख़ज़ाना दोनों हाथों लुटाकर परोपकार का पुण्य लूटना चाहेंगे तो क्या हम वह पुण्य पा सकेंगे? क्या उससे हम अपने कर्तव्य कर्म का तिरस्कार करके पाप न कमावेंगे? असल में तो अनन्त कल्याण में स्व या पर का भेद है ही नहीं। तो फिर हम अपने कार्यों को भी केवल स्वार्थ अथवा केवल परार्थ की इच्छा से करके उस अनन्त कल्याण की उपलब्धि नहीं कर सकते। हमें तो स्वार्थ और परार्थ दोनों का सामञ्जस्य करके परमार्थ ही के लिए सम्पूर्ण कार्य करने चाहिएँ तभी आदर्श की सम्यक् उपलब्धि हो सकती है। इसी लिए पाप और पुण्य की ऐसी परिभाषा न रखकर कहा गया है कि **मन की विकासोन्मुखी क्रिया को पुण्य और ह्रासोन्मुखी क्रिया को पाप कहते हैं।**

कई लोग इस मूल सिद्धान्त को न समझकर धर्माचार्यों द्वारा गिनाये गये इन नियमों को ही ईश्वरीय आज्ञा-पत्र समझ बैठते हैं और उनमें जौ भर भी फेर-फार नहीं करना चाहते। फिर यदि दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों के धर्म-

चाहते तो कदाचित् आपही की जान के लाले पड़ जायँ। और आत्म-रक्षा भी तो एक सदाचार है जिसका अवश्यमेव पालन होना चाहिए। तब ऐसी विरोधात्मक स्थिति में हमें यही देखना पड़ता है कि उस अवस्था-विशेष में अनन्त कल्याण का सामीप्य सत्य से विशेष होता है अथवा भूत-दया से। और उसी कसौटी पर कसकर हम भूतदया को प्राधान्य देंगे और उस समय झूठ बोलना ही धर्म समझेंगे। इस परिवर्तनशील समाज में भी ऐसे धर्म-सङ्कट अनेकों बार उपस्थित हुआ करते हैं; परन्तु सत्य, अहिंसा, भूतदया, त्याग, और वैराग्य सरीखे महान् नियमों के साथ ही हम समुद्रयात्रा, छुआछूत, खान-पान, इत्यादि सरीखे सामान्य नियमों में भी परिवर्तन नहीं करना चाहते और इस प्रकार मूल सिद्धान्त को न देखते हुए बाह्य नियमों ही को पकड़े बैठे रहते हैं। परन्तु क्या हम उनको सदैव काल तक पकड़े बैठे रह सकते हैं? कदापि नहीं। परिस्थिति की प्रेरणा से हमारे भावों में आप ही आप परिवर्तन होता जायगा और हमारी हठधर्मिता खोखली होती जायगी और अन्त में वह परिस्थिति ही कोई ऐसा प्रभावशाली समाज-सुधारक उत्पन्न कर देगी जिसकी एक ही फूँक में हमारी खोखली हठधर्मिता एकदम उड़ जायगी। यही प्राकृतिक नियम है और इसी नियम में योग देने से जीव का विकास शीघ्र होता है।

यदि हम इतिहास देखेंगे तो हमें विदित होगा कि परिस्थिति के अनुसार इन नियमों में किस प्रकार परिवर्तन होता

गया है। भारतीय इतिहास में ही देखिए। पहिले जब ऋषि-मुनियों में ज्ञान और वैराग्य की धारा बहा करती थी तब यज्ञ याग के नियमों का प्रचार था। जब परिस्थिति बदली और लोग नागरिक बनकर अधिक संसारी बनने लगे तब कथाओं और इतिहासों के रूप में उस अवस्था के अनुकूल सदाचार के नियम निर्मित हुए और इस प्रकार पौराणिक युग आया। जब व्यावहारिकता की मात्रा इतनी बढ़ी कि अपनी जीविका का प्रश्न ही हल करना प्रधान अभीष्ट हुआ तो वैदिक युग का यज्ञ-याग और ज्ञान काण्ड, तथा पौराणिक युग के भजन, पूजन और उपासना काण्ड का महत्व घट गया और वर्तमान युग के उपयुक्त नियम तथा उसी के लायक़ कर्म काण्ड का ज़माना आ गया।

मनुष्य अपने संस्कारों के अभ्यास के कारण सदैव ही पुरानी लकीर की फ़क़ीरी (conservatism) की ओर ज़्यादा झुकता है (और ऐसा झुकना कोई बुरा भी नहीं है) इसलिए वह किसी बात का एकदम परिवर्तन नहीं चाहता। महात्मा लोग इसी लिए धर्मसृजक न होकर धर्मप्रवर्तक या धर्म-संस्थापक होते हैं अर्थात् पुराने नियमों का अनादर न करके उन्हीं को शुद्ध रूप में रखने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रयत्न के कारण वे पुराने शब्दों का बहिष्कार न करके उनके अर्थ ही में नवीनता लाते रहते हैं और जब कालान्तर में वह नवीनता उस शब्द की परिधि में नहीं समा सकती तब कहीं वह शब्द बहिष्कृत किया जाता है। परन्तु वह अवस्था आते तक

उस शब्द-विशेष के परिष्कृत अर्थ पर ध्यान देते रहने से उस शब्द के भूत अर्थ के प्रति हमारी आसक्ति भी क्षीण हो जाती है और फिर उस शब्द के प्रति हमारा मोह नहीं रह जाता। इस प्रकार उन नियमों का परिवर्तन आसानी से हो जाता है। यह विषय धर्माचार्यों अथवा समाजसुधारकों के बड़े काम का है और नियमों के परिवर्तन में उन्होंने इसी परिपाटी का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए हम यहाँ **यज्ञ** शब्द ही पर विचार करेंगे। प्रारम्भ में इस शब्द का अर्थ केवल विविध देवताओं की प्रीति के लिए अग्नि में आहुति डालना और इस आहुति के लिए धड़ल्ले से जीवहत्या करना ही था। जब जैन धर्म इत्यादि के प्रभाव से अहिंसा के भाव की वृद्धि हुई तब जीवहिंसा बन्द होकर उसका नाटक खेलना प्रारम्भ किया गया और नारियल अथवा सुपारी में सिर की समानता मान-कर उसी की बलि होने लगी और मांस के बदले अन्न का तथा फलों का प्रयोग हुआ। यहाँ तक कि मांस का अर्थ ही अन्न कर डाला गया। और इस प्रकार देवता के लिए अन्न, फल, फूल, दूध, मूल, कुछ भी प्राणहीन पदार्थ अग्नि में स्वाहा कर देने का नाम यज्ञ हुआ। क्रमश: जब भक्ति का भाव प्रबल हुआ और यज्ञ के बाह्य आडम्बर की निरर्थकता सी जान पड़ने लगी तब यह शब्द केवल त्याग के भाव में लिया जाकर अपने वास्तविक अर्थ से बिलकुल भिन्न अर्थ ही में प्रयुक्त होने लगा और हम गीता में "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः" सरीखे वाक्यों में अनेक प्रकार के यज्ञों के दर्शन पाते हुए उस ज्ञान-यज्ञ ही की महत्ता देखते हैं जिसमें सर्व कर्म ही स्वाहा कर दिये जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ शब्द के अर्थ का क्रमशः परिवर्धन या परिवर्तन होते हुए यज्ञ का आदिम बाह्य आचरण एकदम बन्द हो गया और फिर इस शब्द का महत्व एकदम उठ गया। दान शब्द के अर्थ में भी ऐसे अनेक फेरफार हुए हैं। और दान ही क्यों? प्रत्येक शब्द के अर्थ में ही ऐसे फेर-फार हुआ करते हैं।

यथार्थ तो यह है कि धर्माज्ञाओं के ये नियम इसलिए नहीं लिखे जाते कि हम सदैव सब काल सब अवस्थाओं में उनका अन्ध अनुकरण करते जायँ और अपने प्रत्येक कार्य के समय धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु या ऐसा ही कोई सिन्धु टटोला करें; वरन् वे इसलिए लिखे जाते हैं कि हम उनका सम्यक् अभ्यास करके उन्हें संस्कारों का रूप देकर अपने मन में अङ्कित कर लें क्योंकि वे उस परिस्थिति-विशेष में हमारे विकास के सहायक अवश्य रहते हैं। इसलिए उन्हें अपने स्वभाव (character) में दाखिल करा देना बहुत ही उत्तम बात है। ऐसा कर देने से हमारे प्रत्येक कार्य में उनकी प्रेरणा वर्तमान रहेगी और वे सभी कार्य फिर सदाचार के रूप में रहा करेंगे। कुछ नियम तो ऐसे हैं जो जीव के लिए सदैव कल्याणकारी हैं, उदाहरणार्थ सत्य, अहिंसा, भूतदया, दम, शम आदि। उनको अभ्यास के द्वारा संस्कारों में परिणत करके अपने स्वभाव की सम्पत्ति

बना डाला जाय, यही हमारे लिए अभीष्ट रहना चाहिए। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति की विवेचना करके यही रहस्य समझाया है। और यही बात प्रकारान्तर से उन धर्माचार्यों ने प्रतिपादित की है जिन्होंने हमारे प्रत्येक कार्य में, यहाँ तक कि नित्य की दैनिक क्रियाओं में भी (उदाहरणार्थ शौच जाना, दतून करना, नहाना आदि) धर्म और अधर्म का पुछल्ला लगा दिया है। उनके बताये हुए उन नियमों में बड़ा रहस्य भरा है। दतून करते समय वनस्पति से आयुः वर्चस् इत्यादि माँगना, स्नान के समय मलापहारिणी भगवती भागीरथी का ध्यान करना, भोजन के समय उसे ईश्वर का प्रसाद समझकर पाना इत्यादि ऐसे नियम हैं जिनके कारण उन कार्यों में हमारे सद्विचारों का संयोग होते रहने से पूर्णता, विशदता और रोचकता आ जाती है तथा वे हमारे विकास के सहायक बनते हैं। अब इन नियमों में से जो परिस्थिति-विशेष के कारण अनुपयोगी हो गये हों उन्हें हम छोड़ सकते हैं। परन्तु जिनकी उपयोगिता हम समझ सकते हैं उन्हें धर्मादेश मानकर ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जब हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं में विकास का लक्ष्य सदैव सम्मुख बना रहेगा तब हमारे सम्पूर्ण कार्य ही पुण्य कार्य कहे जा सकेंगे और वे सब के सब उस परम शिव तत्व की उपलब्धि में सहायक बन जावेंगे। सिक्खों के आदिगुरु नानक साहब ने कहा है—

"जेता चलूँ तेती परदखना जो कछु करूँ सो पूजा ।
नानक निशि दिन राम भजन बिन भाव न लाऊँ दूजा ॥"

संस्कृत में भी कहा गया है—

"सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः ।
यद्यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शंभो ! तवाराधनम् ॥"

(अर्थात् जो मैं चलता-फिरता हूँ वह तुम्हारी प्रदक्षिणा है, जो बात करता हूँ वही तुम्हारे स्तोत्र हैं । हे शिवशंभो ! मैं इस संसार में जो कुछ कर्म करता हूँ वह आपकी आराधना ही तो है ।) इन सब कथनों का तात्पर्य भी वही है जो ऊपर कहा गया है । ऐसा ही मनुष्य धन्य है जिसके संस्कार इतने शुद्ध, सात्त्विक या निर्मल हो गये हैं कि उसके प्रत्येक कर्म (चाहे वे क्षुद्रतम हों चाहे महत्तम) उस अनन्त कल्याण की उपलब्धि में सहायक होते हैं, अथवा यों कहिए कि उस अनन्त कल्याण के चरणों पर न्योछावर होते हैं । ऐसी स्थिति परम सुगमता से प्राप्त करने का एक ही राजमार्ग है जिसे **ईश्वरार्पण बुद्धि** कहते हैं ।

"त्वया हृषीकेश ! हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" ॥

परन्तु इसका वर्णन पीछे कुछ आ गया है और आगे विशेष रूप से आवेगा इसलिए यहाँ इतना ही कहकर यह विषय समाप्त किया जाता है ।

चित्त प्रकरण

सूत्र १८

१८ चित्त भावशील है—

अनहम् (बाह्य पदार्थ अथवा स्वयं हमारे ही विचार) के सम्पर्क से हममें जो अनुकूल, प्रतिकूल अथवा ऐसी ही विशिष्ट अनुभूति होती है (तथा जो उस अनहम् के ज्ञान से भिन्न है) उसे ही **भाव** कहते हैं। हमारा **ज्ञान** तो हमसे पृथक् है क्योंकि वह किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान है परन्तु उस ज्ञान के कारण जो भाव उत्पन्न होते हैं वे हमारे ही स्वभाव की व्यक्त अवस्थाएँ कहे जा सकते हैं। वे हमसे भिन्न नहीं बल्कि हमारे ही स्वभाव के विकार हैं। वे ज्ञान और कर्म दोनों से भिन्न हैं और हमारे ही हृदय की अवस्था के द्योतक हैं। उन्हीं के कारण हमें चित्त के अस्तित्व का पता लगता है। इसी लिए कहा गया है कि चित्त भावशील है।

ज्ञान के संस्कारों के कारण हममें भावों की सृष्टि, वृद्धि और अभिव्यक्ति होती है और **हमारे** इन सब भावों के अव्यक्त समावेश का नाम ही हमारा **स्वभाव** है। अब; जो नया संस्कार हमारे इस स्वभाव का पोषक अथवा इसके अनुकूल होगा उस ओर हमारी रुचि होगी और विपरीत संस्कारों की ओर अरुचि होगी। इस प्रकार हमारी रुचि और अरुचि के संयोग से

जो संस्कार हममें आते जायँगे वे अपने अनुसार या तो पुराने भावों की वृद्धि करेंगे या नये भावों की सृष्टि करेंगे। इसी प्रकार हमारे भावों की सीमा बढ़ती जाती है और उनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। तथा जैसे मन के प्रकरण में प्रवृत्तियों की वृद्धि के विषय में कहा गया है कि साधन ही अभ्यास इत्यादि के कारण कुछ समय बाद साध्य बन जाता है और इस प्रकार प्रवृत्ति का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार रुचि और **भावों** का भी विस्तार हो जाया करता है। आज यदि हम अपने भावों की गिनती करने बैठें तो यह कार्य असंभव ही सा प्रतीत होगा और एक एक भाव की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ देखकर यह विचार ही छोड़ देना पड़ेगा। भय ही का भाव लीजिए। उसकी शाखाएँ सर्पभय, व्याघ्रभय, चौरभय, राजभय, समाजभय, ईश्वरभय इत्यादि न जाने कितनी हो गई हैं। फिर इन प्रत्येक प्रकार के भयों की भी कमी-बेशी और तारतम्य है जो तीव्र भय, मध्य भय, सामान्य भय आदि अनेक प्रशाखाओं में विभक्त हो सकता है। यही हाल हमारे घृणा, ईर्ष्या, अमर्ष, करुणा, प्रेम आदि दूसरे भावों का भी है।

ये भाव मुख्यत: तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। (१) आकर्षणमूलक, (२) विकर्षणमूलक और (३) औदासीन्यमूलक। आशा, उत्साह, अनुराग आदि आकर्षणमूलक भाव कहे जा सकते हैं। क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या असूया, ग्लानि, लज्जा, घृणा, चोभ, विरक्ति, इत्यादि विकर्षण-

मूलक भाव हैं। सन्तोष, शान्ति, उदासीनता, अकर्मण्यता आदि औदासीन्यमूलक भाव कहे जा सकते हैं। ऐसे ही भाव अनुकूल परिस्थिति पाकर हमारे चित्त में उठा करते हैं और विलीन हुआ करते हैं। इन्हीं भावों की चरितार्थता और पूर्ति इत्यादि के लिए हम तरह-तरह के कर्म किया करते हैं। पहिले ज्ञान (संस्कार), फिर भाव, फिर कर्म यही स्वाभाविक नियम है। जब तक कोई पदार्थ अथवा संस्कार हमारे चित्त में कोई भाव उत्पन्न नहीं कर सका है तब तक उस ओर हमारी प्रवृत्ति या निवृत्ति भी न होगी। निःस्पृह मनुष्य सामने पड़ी हुई अशर्फ़ियों की ढेरी भी उठा लेने की चेष्टा न करेगा। क्योंकि अशर्फ़ियों की चमक उसके हृदय में लोभ का भाव जगाने में अक्षम है। परन्तु एक कृपण को एक पैसा भी पड़ा मिल जाय तो वह उसे झपटकर उठा लेगा क्योंकि उसके हृदय में लोभ का भाव भली भाँति विद्यमान है। हम उमंग या जोश में आकर कैसे बड़े-बड़े काम कर उठाते हैं परन्तु वे ही काम कोरे तर्क अथवा बुद्धि की लाख-लाख सलाहें सुनकर भी हम नहीं कर सकते। शराबी को आप लाख बार उपदेश दीजिए, वह भी बराबर सुनता जायगा और शराब को गालियाँ सुनाता जायगा परन्तु जब पीने का समय आवेगा तब अवश्य ही उसका पान कर लेगा। परन्तु केवल एक बार आप उसे पूरा जोश दिला दीजिए फिर देखिए कि किस प्रकार वह भयङ्कर से भयङ्कर व्यसन को एकदम किस

आसानी से छोड़ देता है। हाल के मदिरा-निषेध आन्दोलन में इसके अनेकों उदाहरण प्रत्येक मनुष्य के देखने में आये होंगे। यह जोश और कुछ नहीं केवल भावाधिक्य ही है।

जो मनुष्य भावहीन है, वह दो कौड़ी का है। क्योंकि उसके ज्ञान और क्रिया दोनों में फीकापन और रूखापन ही रहेगा। न तो ज्ञान के साथ उसकी तन्मयता होने पावेगी और न क्रिया के साथ रोचकता आने पावेगी। भाव ही के कारण तो हमारे ज्ञान अथवा कर्म में हमारी लगन लगती है। यदि यह लगन न रही तो हमारा ज्ञान कोरा बकवाद है और हमारे कर्म एक निर्जीव यंत्र के नियमबद्ध कार्य ही होंगे। फिर भी इस बकवाद और नियम-बद्ध कार्य की पूर्ति भी भाव के एकान्त अभाव में नहीं हो सकती। इसलिए जो मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म की उपलब्धि ही में लगे रहते हैं और भावों की उपेक्षा करते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। असल में तो ज्ञान और कर्म दोनों ही हमारे भावों के साधक हैं। ये भाव ही तो हमारे आन्तरिक विकार हैं इसलिए इन पर तो हमारा सबसे पहिले ध्यान जाना चाहिए। भक्ति मार्गवालों का जो कहना है कि ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग तो साधन रूप हैं, भक्ति-मार्ग ही स्वयं साध्य अतः अभीष्टतम मार्ग है, सो बहुत अंशों में ठीक है।

भावाधिक्य अथवा दिल की लगन सदैव ही प्रशंसनीय है; चाहे वह सन्मार्गगामी हो, चाहे उन्मार्गगामी। महात्मा

तुलसीदास नम्बर एक के विषय-विलासी थे। अपनी पत्नी की ओर उनका इतना भावाधिक्य था कि उन्होंने मुर्दे को नाव समझ लिया और साँप को रस्सी मान लिया। जब उनके हृदय-सिंहासन में रामा (पत्नी) के स्थान पर राम की मूर्ति स्थापित कर दी गई तब वे ही अपने उसी भावाधिक्य के कारण नम्बर एक के भक्तशिरोमणि बन बैठे। अशोक पहिले अत्यन्त ही क्रूरकर्मा था परन्तु जब उसके चित्त ने पलटा खाया और क्रूरता का भाव करुणा में परिणत हो गया (अथवा यों कहिए कि क्रूरता का आसन करुणा ने ले लिया) तब वही अशोक अपने उसी भावाधिक्य के कारण परम कारुणिक बनकर अपना नाम अजर अमर कर गया। यदि इन महानुभावों में वह भावाधिक्य न होता तो क्या वे ऐसे अद्वितीय बन सकते थे? कदापि नहीं। जो मनुष्य आज अपनी दुर्भावनाओं के कारण समाज से अत्यन्त तिरस्कृत है कल वही अपने उसी भावाधिक्य के कारण समाज का परम गुरु बन सकता है। इसके विपरीत जो आज भावाधिक्य के कारण समाज का परम हितैषी है वही कल उसका परम शत्रु भी हो सकता है। 'काला पहाड़' का उदाहरण इसके लिए पर्याप्त है। परन्तु जिस मनुष्य में भावाधिक्य अथवा सच्ची लगन है ही नहीं वह तो न इधर का है न उधर का है। जब तक यह लगन हमारे हाथ नहीं लगी है तब तक भाव-साम्राज्य में हम अपना विकास कर ही नहीं सकते। इस लगन को

अपने हस्तगत करना हमारी ही इच्छा पर निर्भर है। इस संसार में हमारे रुचिवर्धक पदार्थ अनेक रहा करते हैं। ऐसे किसी भी अच्छे पदार्थ अथवा विषय में अपने चित्त को स्वच्छन्द रूप से लगाते रहने से ही उस ओर हमारी स्वाभाविक और सच्ची लगन लग जाती है। इस प्रकार यह लगन रूपी रसायन सहज ही हमारे हाथ आ जाती है। फिर तो यह जिस भाव में अर्पित हो सके उसी में कमाल कर दिखाती है।

हम पहिले ही कह आये हैं कि हमारे भावों की संख्या अनेक है। इनमें से कई क्षुद्र हैं, कई उच्च और महान् हैं, कई हेय हैं और कई उपादेय हैं। यथा, विषयोपभोग का भाव, देश-सेवा के भाव से बहुत क्षुद्र है। कोरी जलन अथवा सूखी ऐंठ का भाव हेय है और सन्तोष, शान्ति आदि का भाव उपादेय है। फिर साथ ही यदि हमारे किसी भाव का विषय क्षुद्र होगा तो वह भाव क्षुद्र कहावेगा परन्तु वही भाव यदि किसी अच्छे विषय की ओर अर्पित कर दिया जावेगा तो महान् कहावेगा। यथा काञ्चन अथवा कामिनी-प्रेम क्षुद्र है परन्तु स्वदेश अथवा ईश-प्रेम प्रशंसनीय है। अब; हमारे भावों के सम्मुख सदा अच्छे विषय ही रखना तथा क्षुद्र और हेय भावों की अलग छँटनी करके उच्च और उपादेय भावों ही का हमें सम्यक् ज्ञान और बोध कराना बुद्धि का काम है। हम बुद्धि ही के कारण अपने उत्तमोत्तम भाव पहिचान सकते हैं और उनके विकास के लिए उत्तमोत्तम विषय उनके सम्मुख

रख सकते हैं। जो मनुष्य मानव स्वभाव की परख करके उसके सद्भावों को सन्मार्ग में उकसा सकता है उसे ही हम सफल समाज-सेवक अथवा समाज-सुधारक कहते हैं।

प्रभावशाली उपदेशक अथवा, व्याख्यानदाता (orator) लोग श्रोताओं के ऐसे ही भावों को उकसाकर उन्हें मंत्रमुग्ध सा बनाकर कठपुतली की तरह नचा सकते हैं। वे यह पहिचान लेते हैं कि मानव-हृदय के हारमोनियम में किस समय किस भाव के परदे को दबाकर कौन सा सुर निकाला जा सकता है। इसी अनुभव के कारण वे बड़े-बड़े राक्षसों को देवोपम बना सके हैं, बड़े-बड़े सिंहासनों को उलट-पुलटकर नष्ट कर सके हैं, बड़ी-बड़ी अघटित घटनाएँ सरलतापूर्वक घटित कर सके हैं। ग्रीस के राष्ट्रपति जुलियस सीज़र को व्यक्तित्व-उपासक और महत्वाकांक्षी समझकर उसी के परम-मित्र राष्ट्रवादी ब्रूटस ने उसका वध कर डाला। ब्रूटस ने जब ग्रीस राष्ट्र की जनता के सामने अपने इस कृत्य की घोषणा की तब व्यक्तित्व-उपासना और महत्वाकांक्षा की विरोधिनी जनता ने ब्रूटस को अनेक साधुवाद दिये। अन्टोनी भी जुलियस सीज़र का एक मित्र था। उसने भी कुछ कहने की अनुमति माँगी। उसे इस शर्त पर अनुमति दी गई कि ब्रूटस अथवा उसके साथियों की वह किसी प्रकार निंदा न करे। उसने यह कबूल किया और अपनी वक्तृता के समय उसने श्रोताओं के करुणा-भाव, वीरपूजाभाव और उदारताभाव के परदे इस ख़ूबी से

दबाये कि जनता जुलियस सीज़र की बहादुरी पर मुग्ध होकर और उसकी उदारता के प्रमाण भी न माँगकर तथा उसकी ख़ून से लथपथ लाश देखकर यह निश्चय कर बैठी कि उसके साथ घोर अन्याय किया गया है। उस जनता ने उसी भावावेश में ब्रूटस तथा उसके साथियों का काम तमाम कर दिया। (यह विषय शेक्सपियर ने अपने नाटक में बड़ी ख़ूबी के साथ लिखा है।) यह सब केवल उस चतुर वक्ता की कारीगरी थी जिसके कारण उसे अभीष्ट फल मिला। रूसो ने भी व्यक्तिस्वातंत्र्य की जागृति का संदेश देकर वैषम्यप्राप्त पददलित फ्रांसीसी जनता की क्रियाशीलता अथवा महत्वाकांक्षा के भाव को इस ख़ूबी से उकसाया कि जिसका फल इतनी बड़ी फ्रांस की राज्यक्रान्ति के रूप में फल उठा। भारत में नाना साहिब आदि ने भी इतना भयङ्कर सिपाही-विद्रोह खड़ा कर देने के लिए सिपाहियों की धर्मान्धता ही के भाव पर तो कुंजी घुमाई थी।

ऐसे अनुभवी और चतुर वक्ताओं तथा लेखकों की तो बात ही दूसरी है। कभी कभी तो साधारण से वाक्य अथवा व्यंग की चोट भी ऐसी करारी होती है जो मनुष्य को एकदम कुछ का कुछ कर देती है। बालक ध्रुव अपने पिता की गोद में ही बैठना चाहते थे परन्तु उनकी विमाता ने यह कहकर उन्हें ढकेल दिया कि "तुम इस स्थान के योग्य नहीं हो।" यह बात उन्हें ऐसी लगी कि उन्होंने आश्चर्यजनक भीषण

तपस्या करके एकदम ध्रुव स्थान ही प्राप्त कर लिया। हिन्दी के भूषण कवि कुछ काम-धाम न करते थे। बड़े भाई की कमाई में बैठे रोटियाँ तोड़ा करते थे। एक दिन दाल में नमक कम हो गया। इन्होंने भौजाई से शायद इस कमी का जवाब तलब किया। उन्होंने तुरन्त ही कहा—"लाला! क्या नमक कमाकर लाये थे जो आँखें दिखाते हो?" भूषण के हृदय में यह बात तीर सी जा लगी और वे उसी समय बाहर निकल गये। फिर जब तक उन्होंने एक लाख रुपये का नमक ख़रीदकर घर न भिजवा दिया तब तक चैन न ली। तुलसीदासजी ने जिस समय अपनी स्त्री के पीछे दीवाने बनकर उसके कमरे में प्रवेश किया था उस समय उसने यही तो कहा था कि "यदि ऐसी प्रीति रामजी में होती तो कितना अच्छा होता।" परन्तु वह वाक्य क्या था एक प्रत्यक्ष साबर मंत्र था जो एक बार उच्चरित होते ही अपना पूरा प्रभाव दिखा गया। इन तीनों वाक्यों में कोई विशेष प्रभाव न था परन्तु वे ऐसे समय कहे गये थे जब श्रोता की अपने आराध्य विषय की ओर सच्ची लगन लग रही थी। इसलिए इन वाक्यों ने झटपट उसे अपनी सच्ची स्थिति का अनुभव करा दिया और उसके सोये हुए उदात्त भाव को बुद्धि का चाबुक मारकर एकदम जगा दिया। फल यह हुआ कि वह लगन झट उस उदात्त भाव की ओर मोड़ खा गई। ध्रुव की सच्ची लगन पिता की गोद में बैठने की थी। विमाता के वाक्य की ठोकर खाकर उनमें स्वात्मा-

सिमान का भाव जागृत हो उठा और वह लगन एकदम तपस्या की ओर लग गई। इसी प्रकार भूषण की लगन सुस्वादु भोजन और तुलसीदासजी की पत्नी की ओर लग रही थी। वाग्बाण से बिद्ध होकर दोनों को अपनी हीनता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और दोनों के प्रयत्नशील उदात्त भाव जागृत हो उठे और दोनों ही की लगन सुमार्ग की ओर लग गई। स्वामी विवेकानन्द का भी आस्तिकत्व की ओर भावपरिवर्तन ऐसा ही था। कहाँ तक कहें, इसके अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं।

जो मनुष्य दूसरों के स्वभाव का एकदम सुधार करना चाहते हैं वे ऐसी ही लगन का अवसर देखा करते हैं। और उपयुक्त अवसर आने पर वे ऐसे किसी प्रसुप्त भाव पर अपने वचनों का रामबाण चलाते हैं जिसकी चोट खाकर वह आदमी एकदम तिलमिला उठता है और उसके स्वभाव में अभीष्ट परिवर्तन आप ही आप हो जाता है। यदि उस लगन का अवसर नहीं आता है तो वे लोग प्रयत्न करके वैसी लगन का अवसर ले आते हैं। प्रवीण लेखक अथवा कवि लोग ऐसी ही घटनाओं और भावों का क्रम बाँधकर सहृदय श्रोताओं के हृदयों में अपनी सूक्तियों की अचूक चोट चला देते हैं। कवि नरहरि ने जिस समय—

अरिहु दन्त तिन धरत तिनहि मारत न सबल कोइ।
ये प्रतच्छ तिन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।

हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं ।
अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महि थंभन जावहिं ।
कह नरहरि सुन अकबर नृपति, कहत गऊ जोरे करन ।
केहि कारन हम कहँ मारियत, मुएहु चाम सेइय चरन ॥—

इस भावपूर्ण छप्पय के द्वारा बादशाह के मन में गाय की उपयोगिता के विषय की सच्ची लगन उत्पन्न करके हिंसा-विरोधिनी करुणा के भाव पर चाबुक लगाई उसी समय यह छप्पय-मन्त्र अकबर के ऊपर असर कर गया और उसने, तुरन्त आज्ञा निकालकर, अपने साम्राज्य भर में गोवध बन्द कर दिया। अब; कितनी लगन होने पर यह भाव-परिवर्तन हो सकता है और इसके लिए किस अवसर पर कितनी मात्रा में किस भाव को उकसाना चाहिए तथा उसके लिए कैसे वाक्यों का किस ढङ्ग से कितने शब्दों में प्रयोग करना चाहिए, इस सबके लिए कोई स्केल या नुसख़ा निश्चित कर देना बहुत ही कठिन है। यह एक कला (art) है जो मनुष्य को अनुभव ही से आती है, ग्रन्थ रटने से नहीं। कभी कभी तो मनुष्य हज़ारों वाग्बाण सहर्ष सहता है और कभी एक हलके से ताने का झोका खाकर एकदम आत्महत्या कर बैठता है। कभी वह हज़ारों निरीह बालकों और लाखों कलपती कन्याओं पर नृशंस अत्याचार कर सकता है और कभी किसी एक असहाया बालिका की आँखों में केवल दो आँसू देखकर वह पानी पानी हो सकता है। ये ही तो मानव हृदय की जटिलताएँ

हैं जिनका रहस्यभेद केवल ग्रन्थावलोकन ही से नहीं हो सकता बल्कि स्वयं अनुभव करके हो सकता है।

कुछ मोटी मोटी बातें अवश्य ऐसी बताई जा सकती हैं जिनके कारण हम अपने इस प्रयत्न में सफल हो सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वभाव ही से महत्वाकांक्षी होता है इसलिए प्रत्येक ही को अपने महत्व की गाथा सुनने में आनन्द आता है। इसी गाथा सुनाने का नाम चापलूसी है। जो हमारी चापलूसी करता है वह हमें बहुत प्रिय रहता है। अब; यदि हम किसी के चापलूस बनकर उसके महत् कार्यों ही की सदैव प्रशंसा किया करेंगे तो वह अपने क्षुद्र भावों को दबाने अथवा छिपाने की अवश्य चेष्टा करेगा और इस चेष्टा से क्रमशः उसे सफलता भी मिल जायगी। चारणों, भाटों और कवियों का राजदरबार में जो इतना सम्मान होता था उसका यही कारण है। एक बात और है। इसी महत्वाकांक्षा के कारण मनुष्य अपनी मानवी कमज़ोरियाँ छिपाने की कोशिश करता है। यदि किसी को गरमी या परमा हुआ हो तो वह उसे छिपाने का प्रयत्न करेगा। यदि कोई शराबी हुआ हो तो वह उसे छिपाने की कोशिश करेगा। इस छिपाने की कोशिश ही से जान पड़ता है कि उसमें महत्वाकांक्षा का भाव वर्तमान है। यदि हमने वह कमज़ोरी छिपाने में उसकी सहायता न करके समाज के आगे उसका भंडा फोड़ करने ही पर कमर कस ली तो वह सुधरने के बदले एकदम निर्लज्ज बन जावेगा और

फिर वह अपनी लत को डंके की चोट से चरितार्थ करेगा; क्योंकि "अब होनी हुती सु तौ ह्वै चुकी री" वाली कहावत उसके ऊपर घटित हो जायगी। तीसरी, और आवश्यक बात है परिस्थिति की। यह पहिले ही कहा गया है कि अनहम् के सम्पर्क से ही भावों की सृष्टि और अभिव्यक्ति होती है। इसलिए परिस्थिति में उचित परिवर्तन करके हम भावों में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। यह परिस्थिति भी हमारे स्वभाव के अनुसार ही हम पर असर किया करती है। वेश्या का नृत्य एक बालक के हृदय में केवल कौतूहल का भाव उत्पन्न करेगा, कामुक के हृदय में शृङ्गार का भाव उत्पन्न करेगा; समाजसुधारक के हृदय में घृणा का भाव उत्पन्न करेगा; त्यागी के हृदय में विरक्ति का भाव उत्पन्न करेगा; इत्यादि। और भी, परलोकगत प्रियतमा की साड़ी का एक टुकड़ा अथवा हमारी किसी गुप्त घटना से सम्बन्ध रखनेवाला एक मार्मिक शब्द या ऐसा ही कोई विचार हमारे दिल को दहला देने के लिए काफ़ी है। इससे जान पड़ता है कि एक ही परिस्थिति (बाह्य पदार्थ अथवा हमारी ही बुद्धि का विचार) अनेक भावों को उत्पन्न कर सकती है तथा क्षुद्र से क्षुद्र परिस्थिति भी महान् से महान् भावों को उकसा सकती है। हम मनुष्य का स्वभाव उसकी रुचि इत्यादि से परखकर, सद्विचारों द्वारा अथवा सत् पदार्थों द्वारा उसकी ऐसी ही परिस्थिति में परिवर्तन करके उसके भावों में अभीष्ट सुधार कर सकते हैं।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य समाजबद्ध होकर ही रहता है इसलिए अपनी सफलता के लिए उसे अपनी परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार दूसरे मनुष्यों का स्वभाव जाँचने और उस जाँच से अपना मतलब सिद्ध करने की चेष्टा करनी ही पड़ती है। शास्त्रकारों का वचन है कि—

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् क्रुद्धमञ्जलिकर्मणा
मूर्खं छन्दानुवृत्तेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥

अर्थात् जो लोभी हो उसे कुछ दान दक्षिणा देने से अपना काम निकलता है। जो क्रोधी है उसे भैया दादा कहकर अपना मतलब साधना चाहिए। जो मूर्ख है उसकी तारीफ़ों के पुल बाँध देने से बात बनती है और जो विद्वान् तथा समझदार है उसके सामने साफ़-साफ़ बात कह देने ही से लाभ होता है। इसी प्रकार के और भी अनेकों नीति-वाक्य भरे पड़े हैं जो अनेकों नीति-ग्रन्थों में मिल सकते हैं। परन्तु उन्हें ध्यान में रखने तथा कार्य में लाने के लिए बड़े कौशल की आवश्यकता रहती है। मेरे विचार में (१) **सेवाभाव**, (२) **सूनृतावाणी** (अर्थात् ऐसे वचन जो सत्य भी हों, साथ ही साथ प्रिय भी हों) और (३) **नम्रव्यवहार** ही तीन ऐसी बातें हैं जिनसे हम प्रत्येक के हृदय को वशीभूत करके जीवन के रणक्षेत्र में मनमानी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। ये ही वे जृम्भकास्त्र हैं जिनके प्रयोग से असफलता और वैषम्य की सम्पूर्ण सेना एकदम सो जाती है। जहाँ भाव में

सेवा-वृत्ति है, वाणी में सत्यता के साथ मधुरता भरी हुई है, व्यवहार में नम्रता का रस टपक रहा है, वहाँ प्रत्येक जीव का वशीभूत होना कुछ कठिन नहीं; क्योंकि ये तीनों बातें ऐसी हैं जो प्रत्येक मानव हृदय को उसके भावों के अनुसार सदैव अनुकूल ही जान पड़ेंगी। इन्हें यदि हम सफलता के मूल मन्त्र मानें तो कुछ अनुचित न होगा।

इस संसार में हम सदैव मनुष्यों के कार्य-आचरण ही देखा करते हैं, उनके भाव तो सदा उनकी क्रियाओं और आकृतियों पर अङ्कित नहीं रहते। उन्हें पहिचानने के लिए सदैव समय और प्रयत्न चाहिए। जो आज हमें धड़ाधड़ गालियाँ सुना रहा है वह क्या हृदय से भी हमारे ऊपर क्रुद्ध है? हम अपने पड़ोसी की आवारगी पर नाराज़ न होंगे परन्तु अपने पुत्र में ज़रा भी आवारगी का दृष्टान्त पाते ही उसे कच्चा खा जायँगे। इससे स्पष्ट है कि हम अपने पुत्र पर बहुत प्रेम और दया रखते हैं इसी लिए उस पर इतने अग्निशर्मा बन रहे हैं। यदि हमारे किसी मित्र ने हमसे प्रेमपूर्वक हाथ न मिलाया और हमारे पत्र का उत्तर न दिया तो क्या सदैव यह समझ लेना चाहिए कि वह हमसे घृणा या विरक्ति रखने लगा! यह भी सम्भव है कि वह किसी सोच में उदासीन बैठा हो अथवा किसी कार्य-विशेष में संलग्न हो गया हो। हम एक सामान्य शङ्का पर अपने आराध्य मित्र का ख़ून करने के लिए तैयार हो जाते हैं अथवा उसके प्रबल शत्रु बन जाते हैं और अर्थ का अनर्थ कर

बैठते हैं। और पीछे जब उस शङ्का का निरसन हो जाता है तब हमीं हाथ मल-मलकर पछताया करते हैं। शेक्सपियर के ओथेलो और छत्रसाल उपन्यास के शुभकरण इसके ख़ासे उदाहरण हैं। इन सब बातों को देखते हुए सामान्य कार्यों ही से एकदम किसी के विषय में हमारा कुछ धारणा कर बैठना बड़ी भूल है। इसी प्रकार मनोमालिन्य की वृद्धि होकर हम झगड़े मोल ले बैठते हैं (चाहे वह अपने ही कुटुम्बियों से हो चाहे बाहरवालों से)। और इस प्रकार अपने जीवन को दुःखमय और असफल बना लेते हैं। वही मनुष्य सफलता प्राप्त करता है जो केवल सामान्य बाह्य क्रियाओं ही को देखकर किसी के विषय में अपनी धारणा नहीं बना बैठता। हाँ, यदि वे बाह्य क्रियाएँ मनोयोगपूर्वक (deliberately) की गई हों तो हम अवश्य उन क्रियाओं से कर्ता के हृद्गत भावों का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। यदि हम अपनी पैनी दृष्टि से इस प्रकार विचार करें तो हम किसी मनुष्य की एक छोटी सी छोटी क्रिया के सहारे उसके सम्पूर्ण स्वभाव ही को टटोल सकते हैं। यह बात दूसरी है। परन्तु मुख्य तो वही है जो पहिले कही गई अर्थात् भाव ही प्रधान है और उसी के अनुसार हमें मनुष्य की क्रियाओं के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना चाहिए।

ऊपर बताया गया है कि हम एक स्त्री का कन्याभाव से भी आलिङ्गन कर सकते हैं और पत्नीभाव से भी। आलिङ्गन

एक ही है परन्तु हमारे भाव के कारण ही उस पर औचित्य-अनौचित्य की छाप लगती है। कहा भी है—

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे भेषजे ब्राह्मणे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

(देव, तीर्थ, द्विज, मन्त्र, औषध, ब्राह्मण और गुरु में जिसकी जैसी भावना रहती है उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है।)

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवः तस्माद्भावं समाश्रयेत्॥

(देवता न तो काष्ठ की मूर्ति में है, न पाषाण की न मिट्टी की मूर्ति में है। उसकी स्थिति तो भाव ही में है इसलिए भाव ही का आश्रय लेना चाहिए।)

इससे भी विदित होता है कि बाह्य उपचार में कहीं कुछ भी नहीं धरा है। जो कुछ है सो हमारी ही भावना पर है। यदि हमारी भावना शुद्ध नहीं है तो रात-दिन "हरे राम, हरे कृष्ण" चिल्लाते रहने से अथवा लम्बा तिलक या गटरमाला धारण करते रहने से हम कोई सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते।

इन बाहरी क्रियाओं का एक लाभ अवश्य है। यदि हम अपने मन में किसी विषय का भाव दृढ़ करना चाहते हैं तो वह दृढ़ता हमें इन्हीं बाह्य क्रियाओं से प्राप्त हो सकती है। यदि हम चाहें तो इन क्रियाओं से हमारे मन में भावों की सृष्टि भी हो सकती है। धर्म में षोड़शोपचार पूजा सरीखी बाह्य क्रियाओं (ritual)का इसी लिए महत्व है। यदि हमारे

मन में भावों की जागृति नहीं हुई है तो भी हमें—झूठमूठ ही सही—इन क्रियाओं को करना ही चाहिए। कभी न कभी भाव की जागृति और कृपादृष्टि हमारी ओर हो ही जायगी।

पड़ जाय आते जाते शायद निगाहे मुलताँ।
जो राह से अलग है अफ़सोस उस गदा पर॥

इसलिए यदि भाव न हो तो उसका स्वाँग अच्छा ही समझा जाता है। परन्तु हाँ, वह स्वाँग दाम्भिकता के लिए न होना चाहिए। अन्यथा वह लाभ के बदले बड़ी हानि पहुँचाता है। समाज को चाहिए कि जो मनुष्य दाम्भिकता के लिए ऐसे स्वाँग करता है उसकी ख़ूब ख़बर ले।

हम अपने भावों द्वारा ही सौंदर्य और आनन्द की उपलब्धि किया करते हैं। यदि हम अपनी बुद्धि के दोष से किसी पदार्थ-विशेष ही को सौंदर्यप्रद और आनन्ददायक समझ बैठेंगे और बाक़ी सब पदार्थों को असुन्दर और अनानन्दकारी मान लेंगे तो हमारे आकर्षणकारी अथवा उच्चभाव (रति, सन्तोष, हर्ष, शान्ति आदि) बहुत ही सङ्कीर्ण रहेंगे और हमारे विकर्षणकारी भाव अथवा नीच भाव (क्रोध, द्रोह, घृणा इत्यादि) बहुत अधिक रहेंगे। ज्यों-ज्यों हम अपनी इस सौंदर्यभावना को विस्तीर्ण और विकसित करते जायँगे त्यों-त्यों हममें उच्च भावनाओं का विशेष प्रादुर्भाव और नीच भावनाओं का निराकरण होता चला जायगा। जो मनुष्य काञ्चन की ढेरी अथवा कामिनीके कपोलों ही में सौन्दर्य देखता है वह अशान्ति,

निराशा, उद्वेग, मनस्ताप और न जाने कितने प्रकार के हेय भावों का शिकार सदैव बना रहता है। जो प्राकृतिक शोभा में भी सौंदर्य का अनुभव करता है वह उस प्राकृतिक शोभा की अनुपम शान्ति से प्रभावान्वित होकर अवश्य ही विशद चित्तवाला बन जाता है। जिसकी यह शक्ति बढ़ गई है वह तो एक-एक फूल और एक-एक पत्ते में उसी सौन्दर्यसागर-नटनागर की झाँकियाँ देखने लगता है। वह पद-पद पर आनन्दमग्न होकर कह सकता है—

जिस ओर निगाहें जाती हैं उसके ही दर्शन पाती हैं।
प्रत्येक दिशाएँ सुखसानी उसका ही गौरव गाती हैं॥
जल में थल में नभ में वह है फल फूलों पत्तों में वह है।
सागर तुहिनाचल में वह है गोबर के छत्तों में वह है।
मीनों में खग-मृग में वह है हममें तुममें सबमें वह है।
मति में वह है गति में वह है जग जन के सब ढब में वह है।
सायं प्रातः विहगावलियाँ उसकी ही तान सुनाती हैं।
जिस ओर निगाहें जाती हैं उसके ही दर्शन पाती हैं।
निशि नभ की थाली में मणि भर उस पर न्योछावर करती है।
अवनी फूलों का अर्घ्य बना उसके चरणों पर धरती है।
शिशु के अधरों पर मन्द हँसी उसकी ही लाली भरती है।
उसका जल पाकर उसमें ही शीतल निर्झरिणी झरती है।
उसकी ही छवि सबमें आकर उस पर ही वारी जाती है।
जिस ओर निगाहें जाती हैं उसका ही दर्शन पाती हैं॥

उसके लिए प्रकृति में सर्वत्र ही शान्ति, सर्वत्र ही आनन्द, सर्वत्र ही सौन्दर्य है। उसको विरोध की जगह कहाँ? कुछ और आगे बढ़ने पर और प्राकृतिक पदार्थों के समान मनुष्य के हृद्गत भावों का भी सौन्दर्य इसी प्रकार देख लेने पर तो उसे दूसरे मनुष्यों के दुर्भाव भी उसी आनन्दकन्द की लीला के विलास जान पड़ने लगते हैं। और फिर उसके लिए न तो कहीं शोक, न मोह, न मत्सर और न विरोध ही रह जाता है। इन सब दुर्भावों का सदैव के लिए एकदम विनाश हो जाता है। इसी भाव का नाम स्थिर भगवद्भाव है और भक्ति-मार्ग में यही मोक्ष है। ऐसे ही सौन्दर्य-प्रेमी भक्त को सर्वत्र उसी सौन्दर्यराशि के दर्शन हुआ करते हैं और वह प्रत्येक समय उसमें तन्मय रहा करता है। हमारे भावों के द्वारा यही अवस्था एकान्त वाञ्छनीय है और अनेक प्रकार की कलाओं के द्वारा हम प्रत्येक पदार्थ के सौन्दर्य का अनुभव करते हुए इसी अवस्था को प्राप्त करने की चेष्टा किया करते हैं।

इस अवस्था को प्राप्त करने का एक और भी सरल उपाय है। हम मनुष्य हैं इसलिए सुन्दर मनुष्य की ओर हमारा आकर्षण सबसे पहिले होता है। इसलिए यदि हम सौन्दर्य-सागर परमात्मा की परमसुन्दर पुरुष (देव अथवा देवी) के रूप में कल्पना करें और उसी कल्पित रूप पर अपना भाव स्थिर करने का प्रयत्न करें तो भी हमारे हृदय में भक्ति और प्रेम का उद्रेक होकर वह परम वाञ्छनीय अवस्था प्राप्त हो सकती

है। भक्ति-शास्त्रों में इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ लिखा गया है जो यहाँ इन थोड़े पृष्ठों में व्यक्त नहीं हो सकता। इतना ही ध्यान रख लेना उचित है कि जिस प्रकार चुम्बक का पहाड़ एक जहाज़ को अपनी ओर खींचकर उसके कील-काँटे अपने में चिपका लेता है और उस जहाज़ की क्षुद्र सत्ता को नष्ट करके रस के सागर में डुबा देता है उसी प्रकार विभु के व्यक्तरूप का प्रेमभाव भी हमारे जीव को अपनी ओर आकर्षित करके हमारी सब दुर्भावनाओं के कील-काँटे हमसे हटाकर हमें सदानन्द के सुरस सागर में डुबो सकता है। वे भक्त धन्य हैं जिन्होंने साकार उपासना से ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है।

इस मार्ग से इस भावना की उपलब्धि में हमें दो बातों का ध्यान सदैव रखना चाहिए। पहिली बात तो यह है कि इस भावना के पीछे पड़कर हमें इस संसार में अकर्मण्य बनने का कोई अधिकार नहीं। स्वय ईश्वर भी लोक-संग्रह इत्यादि के निमित्त कर्म करता रहता है और उसी का दृष्टान्त देखकर समग्र जीव अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं (देखो भगवद्गीता)। इसलिए उसके सच्चे भक्त होकर हम अकर्मण्य हो ही कैसे सकते हैं। कहा भी है—

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद् हरेः॥

दूसरी बात यह है कि प्रभु-भक्ति में व्यक्त उपासना का अर्थ यह नहीं है कि हम ईश्वर को सदैव उसी सङ्कीर्ण रूप-

वाला समझें और उसे सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, विश्वरूप इत्यादि न मानें। असल में तो उसे अव्यक्त समझना ही उचित है। "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः"। परन्तु यदि उसे व्यक्त मानें तो फिर विश्वरूपवाला ही समझना चाहिए। यदि यह भी न हो सके और अपनी भावना की पुष्टि के लिए हम उसे विशिष्ट रूपवान् व्यक्तित्व में देखना चाहते और भजना चाहते हैं तो हम ऐसा कर सकते हैं परन्तु इससे हम उस विभु के सर्वान्तर्यामित्व और सर्वव्यापकत्व को सङ्कीर्ण नहीं बना सकते। कहा भी है—

> अर्चादावर्चयेत् तावत् मनुजो मां स्वकर्मकृत्।
> यावन्न वेद स्वहृदि सन्तमात्मानमीश्वरम् ॥
> यः स सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
> हित्वार्चाम् भजते मौढ्यात् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
>
> —भागवत

तात्पर्य यह है कि जो परमेश्वर को संसार के जीवों से एकदम भिन्न समझकर उसकी व्यक्त उपासना करता है और इस प्रकार उन जीवों की उपेक्षा करके ईश्वर-सम्बन्धी अपने विचार को सङ्कीर्ण बनाता है उसकी पूजा और उपासना किसी काम की नहीं। एक बार किसी गृहस्थ के यहाँ कोई ९० वर्ष का बूढ़ा अतिथि बनकर गया। उस गृहस्थ ने उस बूढ़े अतिथि का बड़ा सत्कार किया और उत्तमोत्तम पदार्थ उसके सामने रक्खे। जब वह खाने बैठा तब भगवान् का नाम

उसने न लिया। इस पर गृहस्थ को कुछ आश्चर्य हुआ और उसने उस वृद्ध से इसका कारण पूछा। वृद्ध ने उत्तर दिया कि 'भाई, मैं तो नास्तिक हूँ'। इस पर गृहस्थ को बड़ा क्रोध आया और उसने उसे निकाल बाहर किया। जब वह गृहस्थ लौटा तो आकाशवाणी हुई कि "हे गृहस्थ! जिसको मैंने ६० वर्ष तक पाल-पोसकर बड़ा किया था उसकी एक ज़रा सी बात पर तूने उसे यों निकाल बाहर कर दिया!" गृहस्थ ने इससे बड़ी शिक्षा ली और मानवों की सेवा ही को ईश्वर-सेवा का प्रधान रूप समझा। अबू बिन अधम की भी कहानी इसी प्रकार है। एक कथा है कि एक बार नारदजी को जब भक्ति का अभिमान हुआ था तब भगवान् ने उन्हें भक्ति का सबक़ सीखने के लिए एक हरवाहे के यहाँ भेजा था। वह नित्य सबेरे-शाम एक बार राम नाम कह लेता था और दिन भर अपने कर्तव्यों को मन लगाकर करता तथा बड़ा ही सरल, सीधा और शान्त जीवन व्यतीत करता था। न वह तिलक-माला लेकर मृदङ्ग बजाता फिरता, न मन्दिरों या तीर्थों के चक्कर लगाया करता। नारद को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ और फिर विचार करने पर ईश्वर की कृपा से उन्होंने भक्ति का वह रहस्यभाव उस किसान के हृदय में देखकर अपने को धन्य माना और अभिमान को दूर किया। इससे भी बढ़कर मूर्खता हम तब करने लगते हैं जब जीवों की उपेक्षा ही न करके हम अपने ईश्वर-सम्बन्धी व्यक्त भावों पर और रूपों पर

ही झगड़ा मोल ले बैठते हैं। गणेश बड़े हैं कि देवी, शङ्करजी की उपासना उचित है कि विष्णु अथवा सूर्य की? राम की महिमा अधिक है कि ख़ुदा अथवा आलमाइटी फ़ादर की? ये सब कितने फ़ज़ूल के ख़याल हैं। परन्तु अफ़सोस है कि बड़े-बड़े विद्वान् तक इन्हीं नामों के संग्राम में रत रहकर बड़े-बड़े धार्मिक विरोध खड़े कर देते हैं। भाव तो वही है; चाहे गणेश के नाम से व्यक्त हो, चाहे राम के नाम से, चाहे ख़ुदा के नाम से, चाहे शक्ति के नाम से। इस पर बहुत कम लोगों का विचार जाता है।

इन्हीं बातों से बचते हुए यदि हम व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी भी भाव से उस विभु का भजन करें और उसकी ओर अपने सब भाव अर्पित कर दें तो हमें अवश्य परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है। गीता का सार उपदेश, अन्त में निष्कर्ष के रूप में, यही दिया हुआ है—

ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।
तमेव शरणं गच्छ **सर्वभावेन** भारत!
तत्प्रसादात् पराम् शान्तिम् स्थानम् प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

भावार्थ यह है कि सब मनुष्यों के घट घट में वही ईश्वर विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से सब मनुष्यों की स्थिति गति है। **सब प्रकार के भावों** से उसी ईश्वर की शरण जाना चाहिए तभी उसके प्रसाद से परम शान्ति मिल सकती है। भक्त

लाग अपने सब भाव उसी ईश्वर को अर्पित करते हैं। वे उसी को "तात मात गुरु सखा तू सब विधि हित मेरो" कहते हैं। वे उसी को उपनिषदों के कथनानुसार "त्वम् स्त्री त्वम् पुमानसि त्वम् कुमार उत वा कुमारी। त्वम् जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वम् ज्ञातो भवसि विश्वतोमुखः" कहते हैं। वे कभी पश्चात्ताप-पूर्ण अवस्था में उसी के आगे अपना हृदय खोलते हुए कहते हैं—"मोसम कौन कुटिल खल कामी। तुमसों कहा छिपी करुणानिधि तुम प्रभु अन्तर्यामी।" कभी उससे अनुरोध करते हुए कहते हैं—"प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो। समदरसी है नाम तुम्हारो चाहे तो पार करो"; कभी उसे ताने देते हुए कहते हैं—"हठ न करहु अति कठिन है मो तारिबो गोपाल"; कभी उसे फटकार भी सुनाते हुए कहते हैं—"आपने करम करि उतरौंगो पार तब हम करतार करतार तुम काहे के"; कभी चुनौती देते हुए कहते हैं—"हाथ छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोहिं। हिरदे से जब जाहुगे मर्द बदौंगो तोहिं"; कभी ऐंठ में आकर सुना देते हैं—"पावते न मोसे जो पै अधम कहूँ तो राम, कैसे तुम अधमउधारन कहावते?" कभी उसे मित्रभाव से, कभी सखीभाव से, कभी स्वामीभाव से, कभी गुरुभाव से, कभी शत्रु ही के भाव से और कभी किसी भाव से कभी और किसी भाव से भजन किया करते हैं। अपने सब भाव इसी तरह उसे ही अर्पित करते रहने से हम शीघ्र ही परमशान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञान और कर्म की अपेक्षा यह मार्ग जीवविकास के लिए बड़ा मधुर है क्योंकि इसमें आनन्द की प्राप्ति साथ ही साथ होती जाती है। यह मार्ग उस सीढ़ी के समान नहीं है जिस पर चढ़कर हम आदर्श स्थान पर पहुँचते हैं बल्कि यह नाटक के उस खेल के समान है जिसका परिणाम ही नहीं वरन् सम्पूर्ण अभिनय ही रोचक है।

सूत्र १९

१८ सुख, दुख और उदासीनता ही चित्त के फल हैं—

अनुकूल वेदना (sensation) से सुख, प्रतिकूल वेदना से दुख और सामान्य वेदना से उदासीनता की उत्पत्ति होती है। जो अनुभूति हमारी प्रवृत्तियों के अनुकूल होगी वह सुखकर होगी, जो उनके प्रतिकूल होगी वह दुखदायिनी होगी और जो न अनुकूल न प्रतिकूल होगी वह उदासीनतावाली होगी। रति, हास्य इत्यादि की अनुभूति हमारे अनुकूल है इसलिए सुखदायिनी है। पीड़ा, विफल-प्रयत्नता इत्यादि की अनुभूति हमारे प्रतिकूल है इसलिए दुखदायिनी है। सुख और दुख दोनों ही किसी न किसी प्रयत्न अथवा प्रवृत्ति के परिणाम हैं इसलिए उनकी प्राप्ति तभी होगी जब मन का योग होगा। जिस ओर हमारी प्रवृत्ति या निवृत्ति कुछ भी नहीं है उस ओर हमारी उदासीन वृत्ति रहेगी। इस उदासीनता में भी कुछ भाव हमारे स्वभाव के अनुकूल होंगे; यथा सन्तोष, कृत-

कृत्यता, शान्ति आदि। और कुछ प्रतिकूल होंगे; यथा मूर्च्छा, अकर्मण्यता आदि। इन अनुकूल उदासीन भावों में हमें जो आनन्द मिलता है वह बड़ा मधुर रहता है तथा किसी बाह्य वेदना पर निर्भर नहीं रहता। इसी लिए औदासीन्य-जनित भावों को हम सामान्य सुख दुख के भावों से अलग रखते हैं। सुख और दुख के भावों का मूलाधार है आसक्ति। सुख दुख का प्रेरणा-स्थल है कोई विचार अथवा बाह्य पदार्थ। औदासीन्य-जनित भावों का प्रेरणास्थल या जो कुछ कहिए केवल अपना ही जीव और अपना ही चित्त है। इसी लिए सुख दुख के साथ औदासीन्य भी एक अलग भाव माना गया है। जिस प्रकार बुद्धि का फल ज्ञान है और मन का फल प्रवृत्ति निवृत्ति है उसी प्रकार चित्त का फल सुख दुख और औदासीन्य है। जो पान खाने का तलबी (व्यसनी) है उसे पान मिल जाने पर, अनुकूल व्यापार हो जाने के कारण, सुख होगा; यदि समय पर पान न मिला तो प्रतिकूल व्यापार हो जाने के कारण दुख होगा; और यदि समय नहीं आया है तो उसके लिए पान मिला तो भी ठीक, न मिला तो भी ठीक। क्योंकि उस समय उसकी प्रवृत्ति अथवा आसक्ति जागृत न रहने के कारण उसके चित्त की वृत्ति पान की ओर उदासीन रहेगी।

जिस प्रकार हमारी प्रवृत्तियाँ और उसके साथ ही हमारी रुचियाँ अनेक हैं उसी प्रकार हमारे सुख-दुख इत्यादि का दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न है। जो विषय मुझे सुखकर है वह

कदाचित् आपको न हो। फिर साथ ही हमारे हृदय की अवस्था भी सदैव एक समान नहीं रहती। जो वस्तु आज हमें सुखकर है वही क्षण भर बाद दुखदायी प्रतीत हो सकती है और एक क्षण बाद ही हम उसकी ओर से उदासीन हो सकते हैं तथा दूसरे ही क्षण में फिर उसे सुखकर मान सकते हैं। इसलिए किस पदार्थ से कहाँ तक कैसा सुख प्राप्त हो सकता है, इसका निश्चित शास्त्र रच देना बहुत कठिन जान पड़ता है। फिर भी मानव-हृदय के सुख दुख की भावनाओं में अधिकांश रूप से बहुत कुछ समानता रहती है इसी लिए उन्हें देखते हुए कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त इस विषय में लिखे जा सकते हैं।

सुख तीन प्रकार का है—(१) आहार-विहारमय, (२) संस्पर्शज, (३) अतीन्द्रिय। दुख भी तीन प्रकार का है—(१) आत्म-सञ्जात, (२) समाज-सञ्जात, (३) दैव-सञ्जात। औदासीन्य भी दो प्रकार का है—(१) सामान्य और (२) विशेष। इन सबका क्रम-क्रम से वर्णन आगे किया जायगा।

(१) आहार-विहारमय सुख—शरीर-रक्षा और वंश-वृद्धि की जो दो मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक जीव में विद्यमान रहती हैं उन्हीं के अनुकूल भोजन और भोग की सामग्रियों में हम सुख ढूँढ़ा करते हैं। जीव की अनुन्नत दशा में तो ये ही दो सुख विशेष रुचिकर होते हैं और इन्हीं के सम्पादन में उनका सम्पूर्ण जीवन चला जाता है। परन्तु जीव की उन्नत से उन्नत दशा में

भी इन प्रवृत्तियों का समूल उन्मूलन नहीं होता। इसलिए इन दोनों सुखों के भाव उन जीवों में भी वर्तमान रहते हैं, चाहे वे विकसित रूपों ही में क्यों न वर्तमान हों। पाकशास्त्र और कामशास्त्र की सब शाखा-प्रशाखाएँ इसी कोटि के सुख के लिए निर्मित हुई हैं। आजकल के सभ्य समाज में भी ऐट होम, पार्टियाँ, भोज इत्यादि तथा नायक-नायिकावाले काव्य नाटक आदि सब इसी कोटि के सुखों के रूपान्तर मात्र हैं। हम कितने भी उन्नत हो गये हैं, परन्तु इन सुखों को हम किसी न किसी रूप में अवश्य उपलब्ध करने की चेष्टाएँ किया करते हैं।

(२) **संस्पर्शज सुख**—विषय-सुख ही को संस्पर्शज सुख कहा गया है। यह सुख हमें अपनी इन्द्रियों के साथ विषयों के (इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों के) सम्पर्क से प्राप्त होता है। ये विषय ही हमारे लिए प्रत्यक्ष हैं और ये ही विशेष सत्य जान पड़ते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (विषय) के अतिरिक्त और हम संसार में पाते ही क्या हैं? जो विषय हमारे स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुकूल होंगे उन्हें ही हम सुन्दर मानते हैं और उन्हीं में हम सुख ढूँढ़ा करते हैं। सुख के भिक्षुक होकर हम जगत् में इसी प्रत्यक्ष सौन्दर्य की डेहरी पर अलख जगाया करते हैं। हम सुन्दर रूप देखा चाहते हैं, सुन्दर रस चखा चाहते हैं, सुन्दर सुगन्ध सूँघा चाहते हैं, सुन्दर स्पर्श और सुन्दर शब्दों का अनुभव चाहते हैं। मधुर दृश्य, कल सङ्गीत, कोमल सुस्पर्श, सरस व्यंजन, कुसुम-सुवास

या ऐसे ही पदार्थों के अतिरिक्त और किन पदार्थों में रसिक जनों का प्रेम रहता है! ऐसे ही सुखों की प्राप्ति के लिए तो सम्पूर्ण ललित कलाओं का जन्म हुआ है। इन्हीं सुखों के आस्वादन में तो जगत् के सब जीव डूबे हुए हैं। आहार-विहार के सुख भी इसी के अन्तर्गत हैं।

परन्तु क्या इस सुख को हम आनन्द कह सकते हैं ? कदापि नहीं। इस सुख में और आनन्द में बड़ा अन्तर है। यह सुख तो बाहरी पदार्थों पर निर्भर है और इसलिए उन बाहरी साधनों के अभाव में यह हमें प्राप्त ही न हो सकेगा। फिर यदि बाह्य पदार्थ भी रहे और हमारी इन्द्रियों ही की शक्ति क्षीण पड़ गई तो हम उनसे सुख न प्राप्त कर सकेंगे। अब इन सुखों के संस्कार अथवा भाव हमारे मन में उन सुख-कर पदार्थों की ओर वासना अथवा आसक्ति तो अवश्य ही उत्पन्न कर देंगे। हम ज्यों-ज्यों इस वासना की पूर्ति करते जायँगे त्यों-त्यों यह और भी पुष्ट और वृद्धिंगत होती जायगी और अन्त में इसकी पूर्ति के लिए न तो हमारी इन्द्रियों में शक्ति ही रहेगी और न बाहरी साधन। फिर इस अपूर्ण लालसा के कारण हमें जो अवश्यम्भावी दुःख का अनुभव होगा वह कैसे टल सकता है? इसी लिए ऐसे सुख को आनन्द न मान-कर दुःख-योनि (दुःख उत्पन्न करनेवाला) ही माना है।

"ये हि संस्पर्शजाः भोगाः दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥"—गीता

(जो संस्पर्शज भोग हैं वे दुःख-योनि हैं क्योंकि वे आदि-अन्तवाले हैं। इसलिए विद्वान् उनमें रमण नहीं करते।) और भी कहा है—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"।

(जो परवश हो वह दुख, जो आत्मवश हो वह सुख है।) अब यह विषय-सुख सदैव ही परवश है क्योंकि यह अपनी सिद्धि के लिए बाह्य पदार्थों की अपेक्षा करता है। इसलिए इसे विद्वानों ने दुख ही माना है। कई विद्वानों ने इसको भी आनन्द ही मानकर इसका नाम विषयानन्द रख दिया है। यह केवल नाम-भेद है। हम उसे सुख के बदले आनन्द ही कह दें तो क्या हर्ज है। परन्तु इस आनन्द के और वास्तविक आनन्द (आत्मानन्द) के अर्थ में जो गम्भीर भेद है वह नामसादृश्य हो जाने पर भी अमिट ही रहेगा। केवल समझ की सहूलियत के लिए हमने इसको सुख और उसको आनन्द कहा है।

इस सुख को यदि हम विशेष आसक्ति न रखते हुए ईश्वरीय लीला का प्रसाद समझकर ग्रहण करें तो हम इसका भोग भी कर सकते हैं और साथ ही इसके अनन्तर होनेवाले दुःख की चोट से बच भी सकते हैं। ऐसा कर लेने पर हमें इस सुख से वैराग्य धारण करने की आवश्यकता न रहेगी। यदि हमने ऐसा न किया और आसक्ति बढ़ने दी तो फिर आसक्ति ही हाथ रह जायगी। यदि हम सच्ची समझ और

होते देखने में, जो सुख होता है वह क्या एक सुन्दर दृश्य देखने, एक सुन्दर संगीत सुनने, एक बढ़िया रसगुल्ला खाने में हो सकता है ?

(१) **आत्मसञ्जात दुख**—यह दुख भी दो प्रकार का है। पहिला **शारीरिक** और दूसरा **मानसिक**। हम अनेक कुतर्क करके भाँति-भाँति के रोग बुला लेते हैं। यह शारीरिक दुख है। बाल्य और वृद्धत्व की शक्तिहीनता का दुःख भी हम शारीरिक दुःख में गिन सकते हैं। परवशता या ऐसे ही कोई व्यसन ग्रहण करके जो हम अपने शरीर को स्वस्थ सुखी और स्वतंत्र नहीं रख सकते और दुख उठाते हैं यह भी उसी के अन्तर्गत है। मानसिक दुःख हमें अपनी ही वासनाओं अथवा भावनाओं के कारण हुआ करता है। हमारी विषय-सुखेच्छा हमारे सुखानुभव से जितनी ही अधिक होगी हमें दुःख भी उतना ही अधिक होगा; तथा हमारे कुकृत्यों अथवा मानसिक कमज़ोरियों से हमारी सद्भावनाओं पर जो आघात होता है और उस आघात के कारण हमारी सद्भावनाएँ जो हमें चाबुक लगाया करती हैं, जिन्हें हम अनुताप, पश्चात्ताप इत्यादि कहते हैं, उनसे भी हमें प्रबल दुःखानुभव होता है। यह सब दुःख अधिकतर हमारे ही द्वारा उत्पन्न किया होता है इसलिए इसे आत्मसञ्जात कहा है।

(२) **समाजसञ्जात दुःख**—समाज अपनी रूढ़ियों के कारण प्रत्येक मनुष्य के विकास और कृत्यों पर अनेक प्रकार

के बन्धन डाला करता है और उनकी स्थिति में वैषम्य उत्पन्न किया करता है। जिस विषय को आज हम विलासिता (luxury) समझकर ग्रहण करते हैं वही समाज में (अधिक मनुष्यों में) स्वीकृत हो जाने से कल हमारे लिए आवश्यकता (necessity) बन जाता है। यदि आज मैं डिप्टी कमिश्नर बना दिया गया तो मुझे डिप्टी कमिश्नरी की शान (prestige) बनाये रखने के लिए ख़र्च भी बहुत बढ़ाना चाहिए अन्यथा समाज में हँसी होगी। यदि हमारे पास द्रव्य उचित रूप में नहीं बचता तो हम क़र्ज़ भले ही लें या और किसी अनुचित उपाय का अवलम्बन भले ही करें परन्तु समाज में तो अपनी शान रखनी ही पड़ेगी। यदि आज हमने अधिक पैसे होने के कारण लड़की की शादी में ख़ूब ख़र्च किया और आपने भी ऐसा ही कर दिया तो कल वही बात समाज में रूढ़ि के रूप में प्रचलित हो जायगी और फिर यह इतना ज़ोर पकड़ेगी कि यदि हमारा ही कोई भाई निर्धन हो गया है तो धनाभाव में उसकी लड़की क्वाँरी बैठी रहेगी। वह दुःख में आकर आत्महत्या भले ही कर ले अथवा भाग भले ही जाय परन्तु उसकी शादी जैसी चाहिए वैसी नहीं हो सकती। हमारी रहन-सहन, हमारी स्त्रियों के गहने-कपड़े, हमारे कुलाचार-लोकाचार इत्यादि सब समाज का रुख़ देखकर ही तो किये जाते हैं। फिर, यदि एक प्रतिष्ठावाला पद हमें मिल गया तो हमारे महत्त्वाकांक्षी मित्र लोग ही हमारे शत्रु बन जाते हैं। क्या

अनेकों राजपुत्र उन्हीं के भाई-बन्दों द्वारा इसी विचार से नहीं क़ैद कर लिये गये अथवा मरवा डाले गये? यदि हम एक व्यवसाय करते होंगे तो हमारा ही भाई हमारी प्रतिस्पर्धा करने के लिए तैयार होकर हमारी ओर से कोई क़सूर हुए बिना ही हमारी जड़ उखाड़ने की कोशिश करने लगेगा। ऐसे ही सब दुःख समाज-सञ्जात दुःख कहाते हैं क्योंकि वे हमारे प्रयत्नों से नहीं बल्कि हमारे समाज के अथवा दूसरे मनुष्यों के द्वारा हमें प्राप्त होते हैं।

कुछ दुःख ऐसे हैं जो हमें मनुष्येतर दूसरे जीवों से प्राप्त होते हैं। यथा सर्प से, व्याघ्र से, कीड़ों, मकोड़ों से। कुछ ऐसे हैं जो मनुष्यों ही से प्राप्त होते हैं परन्तु वास्तव में समाज-सञ्जात नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे समाज के द्वारा नहीं मिलते बल्कि व्यक्तियों के द्वारा मिलते हैं; यथा चोर, लुटेरे, लम्पट इत्यादि से। ये दुख समाज-सञ्जात न कहाकर इतर-जीव-सञ्जात कहे जा सकते हैं और इन्हें भी हम सहूलियत के लिए समाज-सञ्जात का भेद मान सकते हैं।

(३) **दैवसञ्जात दुःख**—सर्दी, गरमी, बरसात, आग, पानी इत्यादि के कारण हमें जो दुःख होते हैं उन्हें हम दैव-सञ्जात दुःख कह सकते हैं क्योंकि ये दुःख हमें किसी मनुष्य अथवा मनुष्येतर जीव की प्रेरणा से नहीं होते बल्कि ये प्राकृतिक नियमों इत्यादि के कारण प्राप्त होते हैं। एक दुःख और भी है जिसे हम दैव-सञ्जात कह सकते हैं। वह है योग-चमत्व-

वैषम्यकारी। अवसर (opportunity) ही को योग कहते हैं और क्षमता (tendency या ability) ही को क्षमत्व कहते हैं। इन दोनों का वैषम्य ही इस संसार की वास्तविक दुर्घटना (tragedy) है। हम इस संसार में कोई काम कर उठाना चाहते हैं परन्तु हमें उपयुक्त साधन या अवसर नहीं मिलते। कभी-कभी हमारे पास असंख्य साधन भरे पड़े रहते हैं परन्तु हममें उनका सदुपयोग करने का उत्साह ही नहीं रहता।

"कहीं व्यर्थ-उन्नत-चेता को घेरे रहती हैं विपदाएँ।
कहीं तिरस्कृत सी हो करके पड़ी सड़ा करती सुविधाएँ॥"

कई ऐसे हैं जो एक अनाथालय अथवा छोटी सी झोपड़ी बनवा देने के लिए ही प्रयत्न करते-करते मर जाते हैं और पर्याप्त द्रव्य नहीं एकत्र कर सकते। कई ऐसे हैं जिनके पास इतना अटूट द्रव्य है कि वे यही नहीं समझ सकते कि उसका ख़र्च कैसे किया जाय; परन्तु उनमें ऐसे उपयोगी काम करने की इच्छा ही नहीं उदित होती। एक-एक देहात के मनुष्यों की शक्तियों और क्षमताओं का हम अनुभव करने बैठें तो हमें विदित होगा कि उनमें से अनेक अनुकूल परिस्थिति पा जाने से अपने जौहर दिखाकर जगत् को मुग्ध कर सकते थे परन्तु वे वन्य कुसुम की भाँति वहीं फूलकर मुरझा जाते हैं। इसके विपरीत अनेकों धनाढ्य कुल अथवा राजकुल अथवा प्रख्यात कुल के मनुष्य अतुल साधन रखते हुए भी खेलने खाने ही में

जीवन व्यतीत कर देते हैं। वीरवर दुर्गादास क्या सम्पूर्ण भारत को ऐक्य-सूत्र में संगठित नहीं कर सकते थे? महाराणा प्रताप क्या चक्रवर्ती सम्राट् नहीं बन सकते थे? परन्तु उन्हें वे सुविधाएँ ही प्राप्त न हो सकीं। जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं वे ही हैदरअली अथवा नेपोलियन के समान आगे चल निकले। यह योग-क्षमत्व-वैषम्य सबसे विषम दैव-सञ्जात दुःख है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में "योगक्षेमं वहाम्यम्" कहकर भक्त के इस वैषम्य को दूर करने की ओर भी संकेत किया है।

(१) **सामान्य औदासीन्य**—इस जीवन में हम निरंतर सुख-भोग या निरंतर दुःख-भोग नहीं करते रहते। हमारी प्रवृत्तियों अथवा निवृत्तियों का स्पष्ट बोध भी हमें सब कार्यों में नहीं होता रहता। ऐसे ही विशिष्ट अवसरों पर हमारे चित्त की जो अवस्था होती है उसे सामान्य औदासीन्य कह सकते हैं। आरामतलबी, अकर्मण्यता, सामान्य थकावट, विश्राम अथवा ऐसे ही भावों में हमें सामान्य औदासीन्य प्राप्त होता है। निद्रा, मूर्च्छा और सुषुप्ति में भी यही अवस्था होती है।

(२) **विशेष औदासीन्य**—सन्तोष, कृतकृत्यता अथवा शान्ति के भाव में जो हमारे चित्त को अपूर्व विश्राम प्राप्त होता है उसे ही विशेष औदासीन्य कहते हैं। इसे यदि आनन्द का प्रत्यक्ष उल्लास कहें तो अनुचित न होगा क्योंकि सुखों के द्वारा हमें जो आनन्द आता है यह विशेष औदासीन्य के द्वारा प्राप्त होनेवाले आनन्द से बहुत फीका है।

कहा भी है "सन्तोषं परमं सुखम्" इत्यादि। जिस मनुष्य को सन्तोष, शान्ति इत्यादि के भाव प्राप्त हो गये हैं आनन्द तो उसका अनुचर बना-बना घूमता है। इन्हीं भावों को प्राप्त करके एक यति एक सम्राट् को सुख के विषय में चुनौती देते हुए कह सकता है—

"वयमिह परितुष्टाः वल्कलैस्त्वं दुकूलैः ;...
मनसि हि परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥"

कहा भी है—

"ज्यों निष्प्रेही जीव को तृण समान सुरनाह।"

इन भावों को प्राप्त करने के लिए न किसी साधन की ज़रूरत है, न सामग्री की, न किसी आकांक्षा की और न उसकी पूर्ति की। यह परम रमणीय भाव है और सब कहीं, सभी अवस्थाओं में, हर किसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है। ऐसे ही मनुष्यों के लिए कहा गया है—

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते॥ इत्यादि।—गीता

यह अवस्था प्रवृत्ति और निवृत्तियों को असंग रूपी शस्त्र से काटकर फेंक देने पर प्राप्त होती है। वासनाओं का क्षय होने पर ही हमें वास्तविक सन्तोष और शान्ति प्राप्त होगी। वासना-पूर्ति से हमें जो क्षणिक सन्तोष होता है वह वासनाओं को फिर भी बलिष्ठ बनाकर असन्तोष में परिणत हो जाता है। इसलिए वह वास्तविक सन्तोष नहीं है। वेदान्त-

ज्ञानियों ने संन्यास अथवा वैराग्य के मार्ग से यह अवस्था प्राप्त करने का उपदेश दिया है। और गीता, भागवत इत्यादि ने ईश्वरार्पण-बुद्धि से यह अवस्था प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इन दोनों मार्गों में सामान्य अधिकारियों के लिए पिछला मार्ग ही श्रेष्ठ और सरल जान पड़ता है। हम जगत् की अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाओं का आघात सहकर सामान्यत: सन्तोष का भाव दृढ़ नहीं रख सकते परन्तु जब हम यह सोचेंगे कि ये अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदनाएँ उसी ईश्वर की दी हुई हैं और उसी की लीलाएँ हैं तो हमें अवश्य ही सरलतापूर्वक सन्तोष का भाव उपलब्ध हो जायगा। हम ज्ञान-वैराग्य की कोरी शान्ति से लीलामय की भावना से प्राप्त होनेवाली प्रेममयी शान्ति को अवश्य ही विशेष रूप से चाहेंगे क्योंकि उस अवस्था में कोरी शान्ति ही नहीं बल्कि आनन्द का महासागर भी लहरें मारता हुआ दिखाई पड़ेगा। इसी प्रेममयी शान्ति को **परमशान्ति** कहा गया है और यही प्रत्येक व्यक्ति के लिये परम अभीष्ट है।

सूत्र २०

२० रसों में प्रेम रस, करुण रस और शान्त रस ही मुख्य हैं—

भावों का अनुभव तो सभी करते हैं परन्तु जो अनुभव करा सकता है उसे कवि कहते हैं।

"अनुभव करता है सब कोई, करा सके जो कवि है सोई।"
और जिस कला के द्वारा यह अनुभव कराया जाता है उसे कविता कहते हैं। काव्य द्वारा हम जिन भावों का अनुभव करते हैं वे हमारे ही व्यक्तिगत भाव नहीं रहते बल्कि वे एक प्रकार से सम्पूर्ण मानव जाति के ही भाव रहते हैं। अतएव उन भावों का अनुभव करने में हमारी सहानुभूति की (जिसे काव्य में रसिकता कहते हैं) आवश्यकता अवश्य रहती है। हम सहानुभूति (रसिकता) ही के कारण काव्य के उन भावों को हृदयङ्गम करके उनका रस चखते हैं। यह सहानुभूति का भाव संस्पर्शज सुख की सीमा में नहीं है बल्कि अतीन्द्रिय सुख की सीमा में है इसलिए इस भाव के द्वारा जो भाव ग्रहण किये जायँगे वे अवश्य ही असामान्य सुख के देनेवाले होंगे। इसी लिए जिन भावों का हम व्यक्तिगत रूप से स्वतः अनुभव करते हैं उन्हें ही यदि हम काव्य के द्वारा हृदयङ्गम करें तो हमें विशेष आनन्द प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, जिन भावों को हम व्यक्तिगत रूप से कभी न ग्रहण करना चाहेंगे उन्हें ही हम काव्य के मार्ग से बड़ी प्रसन्नता के साथ ग्रहण करेंगे। हम दुःख, दुर्दशा इत्यादि का अनुभव नहीं करना चाहते परन्तु जब वही भाव हमें काव्य द्वारा करुणरस के रूप में मिलता है तब हम अवश्य उसे अपनाना चाहते हैं। अजविलाप, रतिविलाप, राधाविरह, प्रह्लादसङ्कट आदि की कथा पढ़कर हम आँसुओं की झड़ी लगा देते हैं फिर भी उस

ओर से हमारा मन नहीं हटता और हम वही करुण कथा फिर पढ़ा चाहते हैं। जंगल में स्वतः हम शेर का सामना होना कभी न पसंद करेंगे परन्तु ऐसे ही एक यात्री की सङ्कटापन्न दशा का वर्णन, जिसे कि शेर का सामना हो गया हो, अवश्य पढ़ना चाहेंगे। भाव चाहे वास्तव में सुखपूर्ण हों चाहे दुःख-पूर्ण परन्तु जब वे ही भाव हमें काव्य के रूप में मिलते हैं तब अवश्य ही आनन्दपूर्ण होकर मिलते हैं। इनमें भी जो भाव सुरुचिपूर्ण होंगे (अर्थात् मानव समाज की सभ्यता और उसकी मानसिक अवस्था के अनुकूल होंगे) उन्हें ही काव्य द्वारा प्राप्त करने में हमें आनन्द मिलेगा अन्यथा कुरुचिपूर्ण भावों की ओर हमारी सहानुभूति अग्रसर न होगी और हमें ऐसे भावों के वर्णन में आनन्द न आवेगा। ग़रीब-गँवारों के गीत में कंघी, चोटी, कड़े सरीखी सामान्य वस्तुओं की सामान्य बातें रहती हैं। वे भाव सभ्य समाज को सुरुचिपूर्ण न रहने से वैसे गीत और वैसी कविताएँ भी अरोचक सी जान पड़ती हैं। "कच कुच कटाक्षों" के युग में ऐसे ही वर्णन बड़े बढ़िया समझे जाते थे। आजकल वे काव्य सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जाते। इतना होने पर भी मानव-स्वभाव की निश्चित दशा के अनुसार अनेक भाव ऐसे हैं जो सदैव ही, और सदैव न सही तो चिरकाल तक अवश्य ही, सुरुचिपूर्ण बने रहेंगे। प्रेम, करुणा, हास्य, वैराग्य, शृंगार, शान्ति इत्यादि भाव ऐसे हैं जो मानव जाति के अस्तित्व तक बने रह सकते हैं। हाँ, इनका

चेत्र (standard) चाहे भले ही बदलता रहे। प्रेम में आज जो वर्णन हम रुचिपूर्ण समझते हैं, सम्भव है, कल वह वर्णन रुचिपूर्ण न हो और दूसरा ही वर्णन ठीक जँचे परन्तु प्रेम का भाव जैसा आज है वैसा कल भी रहेगा। • शृंगार में अब आजकल नख-शिख-वर्णन का महत्व चला गया परन्तु शृंगार का भाव तो आज भी वैसा ही बना हुआ है; उसकी रुचि में अलबत्ता विकास हो गया है। ऐसे ही सुरुचिपूर्ण चिरस्थायी भाव जब काव्य के द्वारा प्राप्त होते हैं तब **रस** कहाते हैं। इन रसों को हम लोकोत्तर आनन्द का उल्लास कहें तो अनुचित न होगा। श्रुति में स्वयं ईश्वर भी **रस** नाम से अभिहित हुआ है (रसो वै सः)। रस में माधुर्य और आनन्द ओत-प्रोत भरा रहता है इसी लिए वह रस कहाता है (रसयति आनन्दयति यः स रसः) अर्थात् जो आनन्द देवे वह रस है।

भारतीय काव्याचार्यों ने ये रस नौ प्रकार के माने हैं; यथा शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त। पूर्ण परिस्फुट भावों को रस कहा गया है इसलिए प्रत्येक रस के विश्लेषण में पाँच बातों का सम्बन्ध अथवा संयोग किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई पड़ता है। पहिली बात तो यह है कि उस रस को प्रकट करने के लिए कोई न कोई प्रधान बाह्य आधार अवश्य चाहिए। इसी लिए सबसे पहिले उस रस का आलम्बन स्थान कोई व्यक्ति-विशेष

अथवा पदार्थ-विशेष अवश्य रहता है। इसे **आलम्बन विभाव** कहते हैं। जैसे शृंगार में नायक नायिका, करुण में दुःखपूर्ण दृश्य या विचार आदि। अब रस अथवा भाव-विशेष की वृद्धि अथवा पुष्टि के लिए भी कोई न कोई पदार्थ अथवा विचार रहा ही करते हैं। इन्हीं पदार्थों अथवा विचारों के कारण उस रस अथवा भाव का उद्दीपन होता है। इस-लिए इन्हें **उद्दीपन विभाव** कहते हैं। प्रत्येक रस के उद्दी-पन विभाव प्रायः अलग-अलग होते हैं। शृंगार रस के लिए कोकिल-आलाप, मलय-समीर, शरच्चन्द्र, वसन्त-सुषमा, कान्ता-छवि, प्रेम-पत्र, सुस्वप्न अथवा मधुर स्मृति आदि उद्दीपन विभाव हैं। वीर रस के लिए अस्त्र-शस्त्र, महत्वपूर्ण कार्य, उनकी स्मृति आदि उद्दीपन विभाव हैं। इसी प्रकार दूसरे रसों का हाल है। तीसरे, प्रत्येक रस में एक न एक प्रधान भाव अवश्य रहता है जो उसमें स्थायी होकर निवास करता है। इसे **स्थायी भाव** कहते हैं। नव रसों के अनुसार ये स्थायी भाव नव ही हैं। वे—रति, हास, शोक, आश्चर्य, उत्साह, भय, क्रोध, ग्लानि और निर्वेद कहाते हैं और इन्हीं के पूर्ण परिस्फुट रूप क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त रस कहाते हैं। इन नौ भावों के अतिरिक्त प्रत्येक रस में कुछ और भी भाव हमें विदित होते हैं जो उस रस के स्थायी भाव की पुष्टि किया करते हैं और किसी एक ही रस-विशेष से सम्बद्ध न होकर प्रत्येक

रस में सञ्चार किया करते हैं। इन्हें **सञ्चारी भाव** कहते हैं। काव्याचार्यों के अनुसार ये ३३ हैं जो क्रमशः निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, और वितर्क कहाते हैं। न्यूनाधिक रूप में ये भाव प्रत्येक रस ही में पाये जा सकते हैं। अब प्रत्येक भाव परिस्फुट अथवा उदित होते ही किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया अथवा चेष्टा द्वारा व्यक्त होता है। इन्हीं क्रियाओं अथवा चेष्टाओं को **अनुभाव** कहते हैं। इनमें से कुछ तो स्वाभाविक होती हैं और कुछ कृत्रिम। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय और जृम्भा ऐसे नौ स्वाभाविक अथवा सात्विक अनुभाव माने गये हैं; क्योंकि ये भावावेश में आप ही आप हो जाते हैं और इन क्रियाओं अथवा चेष्टाओं को कृत्रिम रूप से बनाना नहीं पड़ता। कोई भयानक वस्तु देखते ही हमारे रोंगटे खड़े हो जायँगे, पसीना छूटने लगेगा, गला भर्रा उठेगा आदि। इन क्रियाओं के लिए हमें कृत्रिम चेष्टा न करनी पड़ेगी। इन क्रियाओं के अतिरिक्त जो हम अपना हृद्गत भाव प्रकट करने के लिए कृत्रिम चेष्टा किया करते हैं उन्हें कायिक या कृत्रिम अनुभाव कहते हैं; यथा वीर रस में शत्रु के सामने मूछें मरोड़ना, शृंगार रस में कटाक्ष इत्यादि की चेष्टाएँ करना। शृंगार-

रसान्तर्गत ऐसी कृत्रिम चेष्टाओं को हाव कहते हैं और वे लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, ललित, मोट्टायित, विव्वोक, विहृत, कुट्टमित, हेला और बोधक ऐसे बारह प्रकार के माने गये हैं। इस प्रकार काव्याचार्यों ने रस का निर्णय किया है।

यह रस-निर्णय मेरे विचार में भारतीय साहित्य ही की अपूर्व वस्तु है जो और किसी साहित्य में इस विशदता के साथ नहीं पाई जाती और इसके लिए मैं समझता हूँ कि हम भारतीयों को अवश्य ही गौरवान्वित होना चाहिए। परन्तु अपने काव्याचार्यों के इस वर्णन को ही हम आख़िरी और पूर्ण समझकर जो कविता को इसी के भीतर सम्बद्ध रखने की चेष्टा करते हैं यह अवश्य हमारी भूल है। क्योंकि काव्याचार्यों का यह प्रयत्न स्तुत्य भले ही हो परन्तु सफलता अब तक नहीं प्राप्त कर सका है। हमारे भावों में दिन-दिन विकास, वृद्धि और उन्नति होती जाती है इसी लिए इन भावों का हम कोई जटिल नियम नहीं बना सकते। हाँ, उनके सहारे के लिए कुछ मार्गों का दिग्दर्शन हम भले ही करा दें। रस की ऐसी वर्णनशैली हमारे भावों के लिए मार्ग-दिग्दर्शिका बनने के बदले उन सबको आत्म-सात् ही करने का प्रयत्न कर रही है इसी लिए भावों की अभिव्यक्ति पूर्ण स्वच्छन्द रूप से नहीं हो सकी है। हिन्दी की छीछालेदर का विशेष कारण यही है। हमारे कवि इसी शास्त्रीय आलोचना में पड़कर

यदि काव्य लिखने बैठे तो या तो कोई अलङ्कार ग्रन्थ, नहीं तो कोई नखशिख ग्रन्थ या नायिकाभेद ग्रन्थ या ऐसे ही विषयों का कोई ग्रन्थ बना डाला। सामान्य विषयों पर भी चित्त में चुभनेवाली चुटीली उक्तियाँ लिखी जा सकती हैं—इसका उन्होंने विशेष प्रयत्न ही नहीं किया। उर्दू कविता में, अँगरेज़ी कविता में, बँगला इत्यादि की कविताओं में इस शास्त्रीयता पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया; इसी लिए उसमें स्फुट और प्रकीर्णक विषयों पर बड़ी ही उत्तम उक्तियाँ व्यक्त की गई हैं। यह काव्य का विषय है और इस ग्रन्थ में इस पर विशेष लिखने का स्थान नहीं है। परन्तु फिर भी रसों का सम्बन्ध चित्त और आनन्द से बहुत घनिष्ठ है इसी लिए प्रसङ्गवश यहाँ इतना लिख दिया गया। इन रसों में भी **विभाव** और **अनुभाव** का विषय जीव-विज्ञान से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना **भाव** का विषय। इसलिए भावों के विषय में आगे कुछ विस्तार के साथ विचार किया जाना उचित जान पड़ता है।

काव्याचार्यों ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, केवल ४२ भाव माने हैं जिनमें से नौ को स्थायी भाव और तैंतीस को संचारी भाव कहा गया। क्या मानव जीवन में केवल ४२ ही भावों का अनुभव होता है? क्या आशा सहवेदना सन्तोष क्षोभ आदि भाव नहीं है? फिर ऊपर वाले भावों की श्रेणी में उन्हें क्यों नहीं रक्खा गया? हम ऊपर ही कह चुके हैं कि हमारे भावों की संख्या अनेक है इसलिए उनकी एक

सीमा अथवा संख्या निश्चित कर देना कहाँ तक ठीक होगा यह नहीं कहा जा सकता। फिर इसके अतिरिक्त स्थायी भावों और संचारी भावों का ऐसा भेद करके केवल नौ रसों की कल्पना कैसे की गई, यह भी मेरी समझ में नहीं आता। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद को हम स्थायी भाव मानते हैं और शेष को संचारी भाव। परन्तु हम ऐसा क्यों मानते हैं, इसका निश्चित रूप से कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकता। निर्वेद और ग्लानि का नाम सञ्चारी भावों में भी आया है। तब जैसे ये दो सञ्चारी भाव किसी रसात्मक वर्णन में स्थायी रूप से रहने पर स्थायी भाव बन जाते हैं वैसे ही दूसरे सञ्चारी भाव भी तो स्थायी भाव बन सकते हैं। मति अथवा प्रबोध एक सञ्चारी भाव माना गया है परन्तु कवि पदमाकर सदृश कवियों ने प्रबोधपचासा सरीखे अनोखे ग्रन्थ लिखकर क्या यह नहीं सिद्ध कर दिया है कि प्रबोध भी स्थायी भाव बन सकता है और प्रबोध रस भी एक रस कहा जा सकता है? हम प्रबोध रस को, वैराग्य रस को, भक्ति रस को और शान्त रस को एक ही मान बैठते हैं। यह कहाँ तक उचित है सो सहृदय लोग ही समझ सकते हैं। इसी प्रकार उन्माद भी कई प्रकार का होता है; यथा शोकोन्माद, क्रोधोन्माद तथा किसी शारीरिक आघात के कारण उत्पन्न होने-वाला उन्माद आदि। परन्तु जब किसी उन्माद-रस-युक्त काव्य का वर्णन होता है तब हम उन्माद को तो सञ्चारी भाव

कह देते हैं और उस उन्माद के भेद के अनुसार उस काव्य को शृंगार रस का, करुण रस का, अथवा ऐसे ही किसी रस का मान बैठते हैं। हम उन्माद ही को स्थायी भाव तथा शृंगार (रति) अथवा करुणा (शोक) को सञ्चारी भाव क्यों न समझें ? भर्तृहरि के श्लोक "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रति-हन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति" में धृति संचारी की पूर्ण छटा विद्यमान है। इस भाव के आगे दूसरे सब भाव दबे हुए से हैं इसलिए इसे ही उस वाक्य का रस मान लेने में क्या बाधा है ? मेरे विचार में तो यही जान पड़ता है कि स्थायी और सञ्चारी का ऐसा भेद फ़िज़ूल है। जिस रसात्मक वाक्य में जो भाव (चाहे वह ४२ भावों के भीतर का हो चाहे इनसे बाहर का) प्रबल हो उसे ही स्थायी भाव मानना चाहिए और शेष जितने भाव उसमें आ गये हों उन्हें सञ्चारी समझना चाहिए। खेद है कि आशा के समान मूल्यवान् और जीवनप्रदायक भाव को हमारे आचार्यों ने पूछा तक नहीं और अपस्मार, मूर्छा, व्याधि और यहाँ तक कि मरण आदि को भावों की श्रेणी में रख लिया है। एक बात और है। रति के स्थायी भाव से उन्होंने शृंगार रस ही का वृक्ष उगाया है। क्या उससे भक्ति, वात्सल्य, सख्य, प्रेम इत्यादि के वृक्ष न उग सकते थे ? इसी लिए कई कवियों और काव्य-रसिकों को विवश होकर भक्ति रस, वात्सल्य रस आदि की अलग कल्पना करनी पड़ी है। इस रस-भेद और रस-

व्याख्या की जटिलता में पड़कर वास्तविक रस अत्यन्त ही सङ्कीर्ण हो गया है। इसी लिए शुद्ध रसों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की हमें अत्यन्त आवश्यकता है। यह विषय साहित्याचार्यों के लिये है परन्तु यहाँ प्रसंग-वश कुछ दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

रस यद्यपि अनेक हैं परन्तु उनमें से कुछ प्रधान हैं और शेष अप्रधान। जिनका सम्बन्ध केवल चित्त से रहेगा वे ही प्रधान रस हैं और जिनका सम्बन्ध मन अथवा बुद्धि से रहेगा वे अप्रधान ही होंगे क्योंकि उनमें आनन्द का समावेश उतना अधिक न रहेगा। नव रसों में हास्य, अद्भुत और शान्तरसान्तर्गत वैराग्य अथवा प्रबोध रस का सम्बन्ध बुद्धि से है क्योंकि वह पदार्थों या विचारों के असामान्यत्व, वैषम्य अथवा अस्थिरता पर निर्भर है। वीर और रौद्र का सम्बन्ध प्रवृत्तिमूलक मन से है तथा बीभत्स और भयानक का सम्बन्ध निवृत्तिमूलक मन से है। शृंगार करुण और शान्त रस ही का सम्बन्ध हमारे चित्त के साथ विशेष रूप से जान पड़ता है। शृंगार एक संकीर्ण शब्द है इसलिए इसके स्थान में प्रेम-रस कहना उचित जान पड़ता है। ये तीनों रस हमारे चित्त के तीनों फलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। सुख अथवा सौन्दर्यानुरक्ति के साथ प्रेम भाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दुःख अथवा प्रतिकूल वेदना के साथ करुण भाव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। और औदासीन्य के साथ शान्त भाव का घनिष्ठ

सम्बन्ध है। इसलिए सब रसों में इन्हीं तीन रसों को प्रधान समझना चाहिए और प्रेम, करुणा तथा शान्ति ही को काव्य का प्रधान वर्ण्य विषय मानना चाहिए। प्रत्येक भाषा का साहित्य देखने से हमें यही बात विदित भी होती है। (उत्साह का भाव भी प्रेम रस के अन्तर्गत है जैसा आगे विदित होगा)। इन तीनों में से प्रत्येक रस का वर्णन क्रमशः किया जाता है—

१ **प्रेम रस**— सौन्दर्य की ओर आकर्षण का जो भाव होता है उसे ही प्रेम कहते हैं। यह आकर्षण या तो सजीव व्यक्ति की ओर होगा या निर्जीव पदार्थ की ओर। अब, सजीव व्यक्तियों में भी वह या तो विरुद्धलिङ्गी व्यक्तियों में (अर्थात् पुरुष और स्त्री में) पति-पत्नी भाव से होगा—ऐसे आकर्षण को हम **शृंगार रस** कहते हैं— या शिशु सुकुमार या छोटे जीव की ओर होगा—ऐसे आकर्षण को **वात्सल्य रस** कहते हैं—या बराबरी-वाले की ओर होगा—ऐसे आकर्षण को **सख्य रस** कहते हैं—या बड़े की ओर सेवा भाव लिये हुए रहेगा—जिसे हम **दास्य रस** कह सकते हैं—या श्रद्धाभाव लिये हुए रहेगा—जिसे हम **भक्ति रस** कह सकते हैं— या एकदम पूर्ण आदर्श की ओर रससागर में नमक के ढेले के समान घुलकर तन्मयत्व प्राप्त करने ही के लिए होगा—जिसे विशुद्ध **प्रेम रस** कह सकते हैं। निर्जीव पदार्थों की ओर आकर्षण ही के अन्तर्गत हम लोलुपता, मोह, जातीयता, स्वदेश-प्रेम इत्यादि को गिन सकते हैं। कार्य-विशेष इत्यादि की ओर जो हमारा आकर्षण होता है उसके ही

अन्तर्गत हम कर्तव्य-प्रेम, उत्साह, चाव इत्यादि के भाव मान सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण देना इस ग्रन्थ का अनावश्यक रूप से असाधारण कलेवर बढ़ाना ही होगा। काव्य-ग्रन्थों में इनमें से प्रत्येक के उदाहरण भरे पड़े हैं। जिन्हें देखना हो वे वहीं देख सकते हैं।

इस प्रेम भाव का बड़ा भारी महत्व है। जिसने इस भाव का साक्षात्कार कर लिया है उसे आदर्श-प्राप्ति और अभीष्ट-सिद्धि बड़ी ही सरलता, सुगमता, उत्तमता, और आनन्द-पूर्वक हो जाती है। कबीरदासजी ने इसी लिए कहा है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, हुआ न पण्डित कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढ़ै सो पण्डित होय॥

इसी प्रेम की शिक्षा के लिए संसार में हमें पत्नी, पुत्र, बन्धु-बान्धव, धन-दौलत, सुख-समृद्धि इत्यादि के साधन मिले हैं। इन्हीं साधनों द्वारा इस भाव को दृढ़ करते और विकसित करते हुए क्रमशः हम इसे जाति-प्रेम, देश-प्रेम, विश्व-प्रेम इत्यादि का रूप देकर फिर घटघटवासी, अविनाशी, सौन्दर्य-सागर, नटनागर की ओर अर्पित कर सकते हैं और इस प्रकार कृतकृत्य हो जा सकते हैं।

कई महात्माओं और विद्वानों ने इस प्रेम को ख़ूब कोसा है और ख़ूब खरी-खरी गालियाँ सुनाई हैं। ऐसे लोगों ने **काम** और **प्रेम** का गड्डमगोल सा कर दिया है। ये दोनों वृत्तियाँ एक नहीं हैं बल्कि इन दोनों में ज़मीन आसमान का अन्तर है। यदि

प्रेम स्वर्गीय दूत है तो काम नारकीय कीड़ा। यदि प्रेम कुसुम है तो काम उसका काँटा है। दोनों ही की उत्पत्ति सौंदर्य के आकर्षण से होती है और दोनों ही का ध्येय अथवा अभीष्ट पदार्थ 'आनन्द' है। परन्तु दोनों के आकर्षण का मार्ग एक दूसरे से बिलकुल विपरीत है और इसी लिए दोनों की ध्येय-प्राप्ति में भी बड़ा भारी अन्तर रहता है। जब हम किसी सुन्दर पदार्थ की ओर आकृष्ट होकर उसे अपनाने की चेष्टा करते हैं अर्थात् उसे अपनी और केवल अपनी ही सम्पत्ति बनाने की चेष्टा करते हैं, उसे केवल अपने ही क्षुद्र व्यक्तित्व के भोग का साधन बनाना चाहते हैं, तभी काम की उत्पत्ति होती है और जब हम उस सौन्दर्य को अपनाने के बदले उससे आकृष्ट होकर स्वयं उसमें ही लीन हो जाने की इच्छा करते हैं तभी प्रेम-भाव का उदय होता है। हमारी शक्ति अत्यन्त परिमित है। हमारा अहम् अत्यन्त क्षुद्र है। इसलिए हम सम्पूर्ण अनहम् को—सौन्दर्यमय पदार्थों को—अपनी, और केवल अपनी ही, सम्पत्ति कैसे बना सकते हैं? हमारे प्रयत्नों में विफलता, निराशा, अतः दुःख होना अवश्यम्भावी है। इसी लिए काम केवल आनन्द की झाँकियाँ दिखाकर हमारे ऊपर अतृप्त वासनाओं का बोझ लादकर जीवन दुःख-मय बना देता है। काम संग्रह-प्रधान है इसी लिए दुःख-दायी है। प्रेम लय-प्रधान है इसी लिए सदैव वाञ्छनीय और सदैव सुखदायी है। इस भाव में आकर हम कुछ संग्रह नहीं चाहते बल्कि स्वयं अपनी क्षुद्र सत्ता ही को, स्वयं अपने आप

ही को, अपने प्रेमपात्र के चरणों पर न्योछावर कर देना चाहते हैं। कहा भी है—

काम क्रोध मद लोभ सों, प्रकट होत नहिं जौन।
महामोह हू सों परे, प्रेम भाषियत तौन॥
रहै एकरस थिर सदा, राखै कछू न आस।
सरवस न्योछावर करै, पावै प्रेम प्रकास॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
जाको चहिए प्रेम सो, सीस देय लै जाय॥

हम सुन्दर फूल देखकर झट तोड़ लेने की इच्छा करेंगे, सुन्दर रत्न या चित्र देखकर उड़ा लेने की इच्छा करेंगे, सुन्दरी नारी देखकर अपनी वशवर्तिनी बनाने की चेष्टा करेंगे। ये सब काम के उदाहरण हैं, आसक्ति के उदाहरण हैं, वासना की वृद्धि के उदाहरण हैं, प्रेम के नहीं। यदि हममें प्रेम का भाव वर्तमान है तो हम उद्यान में लगे हुए फूल का सौंदर्य देखकर मुग्ध अवश्य हो जायँगे परन्तु उसे अपनाने की चेष्टा कभी न करेंगे। जो काम के वशीभूत होकर समग्र अनहम् को अपनाने की चेष्टा करता है वह क्षुद्र लोटे में समुद्र भरने का विफल प्रयास करता है। जो प्रेम से प्रभावान्वित होकर अनहम् के सौन्दर्य में अपनी सत्ता लीन कर देना चाहता है वह सरलतापूर्वक अपनी सङ्कीर्णता त्यागकर विशालता लाभ करता हुआ नमक के डले के समान आनन्दसागर में घुलकर मिल जाता है। इसी से कहा गया है कि वास्तविक आत्मसंग्रह आत्म-

त्याग ही में है (To lose oneself is to gain it and to gain oneself is to lose it.)।

प्रेम में भी दो प्रेम-भाव विशेष महत्व के हैं। एक **दाम्पत्य-प्रेम** और एक **प्रभु-प्रेम**। एक संसारी है और दूसरा परम कल्याणकारी। असल में तो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ ही विकारशील हैं इसी लिए पूर्ण सौन्दर्य उनमें से किसी में भी व्यक्त नहीं हो सकता। वह तो पूर्ण सच्चिदानन्द में ही होगा। इसलिए प्रेम की पूर्ण सार्थकता तो तब है जब वह **प्रभु-प्रेम** के रूप में व्यक्त हो। परन्तु उसमें जो त्याग या बलिदान का भाव है वह हम संसारी प्रेम के मार्ग से दृढ़ कर सकते हैं। उन सब संसारी प्रेमों में **दाम्पत्य-प्रेम** की ही महिमा अधिक है। पति-पत्नी का सम्बन्ध एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें जीव की तीनों मूलप्रवृत्तियाँ चरितार्थ होती हैं। वास्तव में वंश-विस्तार ही के लिए इस सम्बन्ध और ऐसे आकर्षण की सृष्टि हुई है। परन्तु एक दूसरे की सहायता से शरीर-रक्षा और आत्मविकास में भी विशेष सुविधा होती है। इस प्रकार संग्रहपूर्ण आकर्षण अर्थात् काम में इसका प्राधान्य होकर लय-प्रधान आकर्षण भी इसी संग्रह-प्रधान आकर्षण के साथ होता चला जाता है। पुरुष और स्त्री यदि एक दूसरे की ओर पति-पत्नी-भाव से आकृष्ट होते हैं तो सौन्दर्य की प्रेरणा ही से। वही प्रेरणा हमारी मूल प्रवृत्तियों के संयोग से बड़ी घनिष्ठ हो जाती है और दोनों ही एक दूसरे पर जान तक न्योछावर कर देना

चाहते हैं और क्रमशः उन दोनों के योग और ऐक्य में सुविधा होते हुए उनके आचरणों और संस्कारों में भी समानता आ जाती है और ऐसा होते-होते वे दोनों "एक जीव दो देह" बन जाते हैं और फिर उन दोनों की वियोगावस्था एकदम असह्य हो जाती है। बस इसी प्रकार लय-प्रधान प्रेम का भाव दृढ़ होता है और इसी भाव के कारण कामी-शिरोमणि तुलसी से व्यक्ति भक्त-शिरोमणि तुलसीदास बन सकते हैं। अध्यात्म में तो इस प्रकार दाम्पत्य-प्रेम लाभ पहुँचाता है परन्तु इस संसार में हमारा कौटुम्बिक जीवन सुखमय, शान्तिमय और आनंदमय बनाने के लिए इस प्रेम की ही परम उपयोगिता है। लेकिन शर्त यही है कि वह विशुद्ध प्रेम का भाव हो ; एकदम काम का निर्लज्ज नृत्य न हो। जिस समय हम कार्यक्षेत्र की उत्तप्त ज्वाला से जर्जर होकर घर के भीतर पैर रखते हैं उस समय अपनी पत्नी की एक स्निग्ध दृष्टि से हमारे सब चिन्ताओं के चक्कर चूर-चूर हो जाते हैं और हम शान्ति और आनन्द का आस्वादन तुरन्त ही करने लगते हैं। जिस समय हम हतोत्साह से होकर विषम नैराश्य-सागर में डूबते-उतराते रहते हैं उस समय पत्नी ही का एक कोमल और उत्साह-वर्धक वाक्य हममें नयी जीवनी की स्फूर्ति करके हमारा अस्तित्व सुखमय बना देता है। वही तो—

"गृहिणीसचिवः सखा मिथः"

है और वही तो—

"कार्येषु दासी करणेषु मन्त्री रूपेषु लक्ष्मी क्षमया धरित्री।
स्नेहे च माता शयने च वेश्या षट् कर्मयुक्ता कुलधर्मपत्नी"॥

है। ऐसी ही पत्नी जहाँ होगी वहीं परम सुख, परम शान्ति, परम आनन्द है। ऐसे ही पति-पत्नी का दाम्पत्य-प्रेम जहाँ रहा उन्हीं के लिए संसार में आनंद है, शान्ति है, सुख है। और जहाँ यह दाम्पत्य-प्रेम नहीं है वहीं भवन और वन में कोई अन्तर नहीं। इसी दाम्पत्य प्रेम के रहने पर हम अरण्य में निवास करके भी उसमें सुरम्य प्रासाद का सा आनन्द प्राप्त कर सकते हैं और इसी के अभाव में हमारा भव्य भवन भी भठियारे की सराय से बढ़कर नहीं।

टूट टाट घर टपकत, खटियौ टूटि।
पिय की बाँह उसिसवा, सुख कै लूटि॥

इन दोनों प्रेमों के अतिरिक्त जातीयता, स्वदेश-प्रेम, कर्तव्य प्रेम, उत्साह इत्यादि भी बड़े महत्व के हैं। इन्हीं के द्वारा हम अपने जीवन का उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। इन सब पर विशेष विचार यहाँ स्थानाभाव से नहीं किया जा रहा है। पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

२ करुणारस—इस रस का प्रतिकूल वेदना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इष्ट (प्रिय)-वियोग अथवा अनिष्ट (अप्रिय) का संयोग होने ही से इस रस की उत्पत्ति होती है। हम यदि दूसरे की ख़ुशी में सहानुभूति रक्खेंगे तो वह साधारण हर्ष के भाव ही की रहेगी। परन्तु यदि हम दूसरे के दुःख में

सहानुभूति रक्खेंगे तो वह दया, दुःख बाँटने, सङ्कट टालने इत्यादि के भाव से मिली हुई रहेगी। इसलिए वह अधिक दृढ़ता के साथ दिखाई देगी। करुण रस की कथा में इसी लिए हमारी सहानुभूति विशेष रूप से आकृष्ट होती है और वह रस कई मनुष्यों को सबसे अधिक रुचता है।

इस करुण रस के भी कई भेद हैं। यथा (१) सामान्य करुणा, (२) अत्यन्त करुणा, (३) क्षुद्र करुणा, (४) उदात्त करुणा आदि। इनमें भी प्रत्येक के सजीव, निर्जीव, योग इत्यादि के अनुसार अनेक भेद हो जाते हैं—जैसे सजीव-सम्बन्धी सामान्य करुणा, निर्जीव-सम्बन्धी सामान्य करुणा, योग (Opportunity या संयोग)-सम्बन्धी सामान्य करुणा आदि। जब कभी थोड़े काल के लिए इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग हो जाता है तब उसे हम **सामान्य करुणा** कहेंगे—जैसे प्रोषित-भर्तृका नायिका की वियोगावस्था, अथवा वनवासिनी सीता की (विपरीत योग-सञ्जात) अवस्था (कंकड़ों पर चलना, कुश पर सोना आदि) अथवा उस ग़रीब की अवस्था जिसकी कोई अमूल्य वस्तु खो गई हो और न मिल रही हो। अपने किसी प्रिय व्यक्ति के चिर-वियोग या मरण से अथवा अपनी किसी अभीष्ट वस्तु के सर्वनाश से अथवा अपनी किसी चिर-सञ्चित आशा के पूर्ण संहार से जो एकदम घोर निराशाजनक तीव्र वेदना होती है उसे **अत्यन्त करुणा** कह सकते हैं। जब किसी व्यक्ति-विशेष या पदार्थ-

विशेष के कारण यह करुणा होती है और उसमें हमारे स्वार्थ का भाव मिला रहता है तब हम उसे क्षुद्र करुणा कह सकते हैं परन्तु जब वही स्वार्थहीन होकर किसी समुदाय या ऐसे ही किसी महत्वपूर्ण पदार्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष की ओर होती है तब हम उसे **उदात्त करुणा** कह सकते हैं। जैसे मानव-जाति का दुःख देखकर गौतम बुद्ध के मन में करुणा उत्पन्न हुई थी अथवा दीन दुखिया को देख सन्तों के मन में करुणा उत्पन्न होती है।

३ शान्तरस—यह किसी वस्तु-विशेष या विचार-विशेष से भी सम्बन्ध नहीं रखता। यह केवल अपने ही चित्त की उदासीन अवस्था से सम्बन्ध रखता है। इसी रस को हृदयङ्गम करने से हमारे हृदय की सब अशान्ति दूर होकर हमारी सब वासनाओं का क्षय सा हो जाता है और हमारा मन नष्टप्राय सा हो जाता है। उसकी वह क्षोभ और अशान्तिकारिणी घुड़दौड़ एकदम बन्द हो जाती है और हम आनन्द के अविकल साम्राज्य में एकदम परिभ्रमण करने लगते हैं। यह रस भी सन्तोष, कृतकृत्यता, केवलानुभव, परमशान्ति इत्यादि के रूप में अनेक प्रकार का हो सकता है। जब हम अपनी स्थिति ही पर स्थित होकर और अधिक कुछ भी नहीं चाहते तब **सन्तोष** का भाव उदित होता है—जैसा यतियों, मुनियों या सामान्य सज्जनों में देख पड़ता है—

"मनसि हि परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः"।

जब हम किसी प्रवृत्ति-विशेष की मनचाही पूर्ति पर प्रसन्न होकर शेष कुछ कामना नहीं रखते और अपने जीवन का फल पा गये ऐसा समझते हैं तब **कृतकृत्यता** का भाव उदित होता है। जब हम केवल अपने-पन का ही अनुभव करके सम्पूर्ण संसार को अपना (और अपना ही क्यों ? स्वयम् आप) मानते हैं और 'मैं ही मैं' की ख़ूबी संसार भर में देखते हैं और किसी प्रकार की कुछ इच्छा शेष नहीं रखते तब **केवलानुभव** होता है। और जब हम अपना अस्तित्व ही उस परम-तत्त्व के चरणों में अर्पित कर देते हैं और अपनी ख़ुदी की बू तक नहीं रहने देते तब **परमशान्ति** का भाव उदित होता है। इसी भाव में प्रेम का परमतत्त्व भी शामिल हो जाता है और ऐसी ही प्रेममयी शान्ति मनुष्यों को एकान्त अभीष्ट रहती है। संसार में ऐसा कौन होगा जो इस परमशान्ति का प्रेमी न हो ? कौन ऐसा होगा जो सदैव अशान्त अथवा अस्थिर शान्ति ही को चाहेगा ? परन्तु यह परमशान्ति क्या वासनाओं का वैभव देखने में अथवा प्रवृत्तियों के ग़ुलाम बने रहने में प्राप्त हो सकेगी ? क्या अपना जीवन क्षुद्र बनाये रखते हुए हम इसे प्राप्त कर सकते हैं ? कदापि नहीं। यदि यह प्राप्त करना है तो हमें अपनापन ही भुला देना चाहिए। हम उसे नहीं प्राप्त कर सकते किन्तु उसमें अपने आपको लीन अवश्य कर सकते हैं। वह तो हमारे पास ही है किन्तु हम ही अपनी स्वतंत्र सत्ता की दीवार खड़ी करके उसे अपने पास

तक आने नहीं देते। यह विषय आगे के सूत्रों में आवेगा इसलिए इस पर अभी अधिक कहना उचित नहीं। प्रसंग-वश ही यहाँ इतना कहा गया है।

कवि लोग अपने काव्य के कटोरों में ऐसे ही उदात्त रस भरकर हमारे आगे उपस्थित किया करते हैं जिनका भली भाँति आस्वादन करके हम कृतकृत्य हो जाते हैं और हमारा जीवन सफल हो जाता है। जिनमें बुद्धि का बोध नहीं मिलता, जो निर्णयसिंधु इत्यादि के पत्ते उलटकर अपने कर्म ठीक नहीं रख सकते, वे ज़रा इस रस का पान तो करें। फिर वे आप ही देखेंगे कि इस रसायन से किस प्रकार उनका काया-कल्प होता है और वे किस प्रकार अपने विकास के मार्ग में निर्बाध अग्रसर हो जाते हैं।

सूत्र २१

२१ ललित कलाओं के विकास का सम्बन्ध चित्त के विकास के साथ है—

कार्य-सम्पादन की कुशलता ही का नाम **कला** है। प्रत्येक कार्य के करने में किसी न किसी प्रकार की निपुणता, कुशलता या सौष्ठव की आवश्यकता होती है अन्यथा वह कार्य एकदम फीका, अंट-शंट या बेगार का ऐसा किया हुआ जान पड़ेगा। यदि हमें बढ़ईगिरी की कला नहीं मालूम है तो हम उत्तम चौखट या कपाट नहीं बना सकेंगे।

यदि हमें लोहारी की कला नहीं विदित है तो हम संकल या कीलें निर्माण न कर सकेंगे। यह कला अपने ही अभ्यास और शक्ति पर निर्भर है; कोरे किताबी ज्ञान पर नहीं। हम किताबें पढ़कर ही पानी में पैरने अथवा मिठाई बनाने की कला नहीं सीख जाते। इन कलाओं का कोविद होने के लिए हमें स्वतः प्रयत्न या अभ्यास करना पड़ता है। जिस प्रकार हमारे जीवन के कार्यों के अनेक भेद हैं और उनकी निश्चित गणना नहीं हो सकती उसी प्रकार कलाओं के भी अनेक भेद हैं। और जिस प्रकार रुचि का क्षेत्र दिन-प्रति-दिन बढ़ता जाता है उसी प्रकार कलाओं की संख्या में भी नित्य प्रति विस्तार होता जाता है। इनमें से कुछ कलाएँ तो ऐसी हैं जो केवल उपयोगिता से सम्बन्ध रखती हैं; यथा बढ़ईगिरी, लोहारी, कृषिकला इत्यादि। और कुछ ऐसी हैं जो केवल सौंदर्य की ही अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसी कलाएँ ही **ललित कलाएँ** (Fine arts) कहाती हैं। सौन्दर्य के प्रकटीकरण की निपुणता को ललित कला कहते हैं। इस परिच्छेद में इन्हीं ललित कलाओं पर कुछ विचार किया जायगा।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ही, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, हमारे प्रत्यक्ष विषय हैं। इन्हीं की अनुकूलता को हम सुन्दरता कहते हैं। जो रूप हमारे जीव की प्रकृति के अनुकूल होगा उसे ही हम सुन्दर कहेंगे। कहा भी है—

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव ।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ॥

(दही, शहद, दाख और शराब भी मधुर ही कहाती है। जिसका मन जहाँ लग जाय वही वस्तु उसके लिए मधुर हो जाती है।) कहा जाता है कि लैला बहुत कुरूप थी परन्तु मजनूँ की प्रकृति के अनुकूल होने के कारण वह उसके लिए परम रूपवती थी। इससे तो यही समझ पड़ता है कि जब प्रत्येक जीव के लिए सौन्दर्य की मात्रा और रुचि अलग-अलग है तो फिर प्रत्येक जीव के लिए ललित कला भी अलग-अलग होगी। परन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई-कोई विशिष्ट बातों में भले ही हमारी रुचियाँ भिन्न हों परन्तु बहुत से भाव और विषय ऐसे भी हैं जो सर्वसाधारण ही को अनुकूल अतः सुन्दर जान पड़ेंगे और केवल मनुष्यों ही में नहीं बल्कि पशु-पक्षियों तक में उनकी ओर आकर्षण दिखाई पड़ेगा। एक मधुर सङ्गीत को सभी मनुष्य सुन्दर कहेंगे और केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि हरिण और सर्प सरीखे जीव भी उस सङ्गीत की ओर तन्मय होकर आकृष्ट हो जावेंगे। लैला-मजनूँ के उदाहरण ही में यद्यपि मजनूँ के लिए लैला परम रूपवती थी परन्तु सर्वसाधारण अथवा समाज उसे सुन्दरी नहीं मान सकता। (हाँ, अपने सद्भावों के कारण भले ही वह सुन्दरी कही जा सके।) ऐसे ही सार्वजनीन सौन्दर्य को व्यक्त करने की निपुणता को ललित कला कहना चाहिए। जो ललित कलाएँ इस प्रकार **रूप**

के सार्वजनीन सौन्दर्य को प्रकट करती हैं उन्हें भास्कर्य, स्थापत्य, चित्र, मालाकार, अभिनय इत्यादि की कलाएँ कहेंगे। जो **शब्द** के सौन्दर्य को प्रकट करती हैं उन्हें गीत, वाद्य, वक्तृत्व, काव्य इत्यादि की कलाएँ कहेंगे। इसी प्रकार **स्पर्श** के सौन्दर्य से सम्बन्ध रखनेवाली कलाएँ परिच्छद, अङ्गराग, अवगाहन, आलिङ्गन, चुम्बन, रति, सम्भोग इत्यादि की कलाएँ होंगी। **गन्ध** की कलाओं में अत्तारी, चंदन, कपूर या सुगन्धित पदार्थ तैयार करने की कलाएँ शामिल हैं। **रस** की कलाओं में भोजन, मिठाई, पान, शरबत, मदिरा या ऐसे ही पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाली विविध कलाएँ सम्मिलित होंगी। भारतीय आचार्यों ने ऐसी ६४ कलाएँ प्रधान मानी हैं। कलाविलास के ग्रंथकार ने १५०१ कलाओं का वर्णन किया है। परन्तु हमारी रुचि-विस्तार के अनुसार कलाओं का विस्तार देखते हुए और एक-एक कला की भी अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ और उपकलाएँ देखते हुए कहना पड़ता है कि ललित कलाएँ भी अनन्त हैं।

इस प्रत्यक्ष जगत् में हमें सुन्दर और असुन्दर के मिश्रित दर्शन हुआ करते हैं। जब हम किसी विशेष प्रकार के अमिश्रित सौन्दर्य के दर्शन करना चाहते हैं तभी हम कला द्वारा अपने उस मानसिक सङ्कल्प को पूर्ण करते हैं। विशाल की अमिश्रित झाँकी देखने की इच्छा हम स्थापत्य की कला से पिरेमिड, मंदिर या स्तम्भ इत्यादि बनाकर पूर्ण करते हैं।

आकृति की सुन्दरता की अमिश्रित झाँकी देखने की इच्छा हम चित्रकला से पूर्ण करते हैं। शब्द के अमिश्रित सौन्दर्य को देखने (अनुभव करने) की इच्छा हम सङ्गीत कला के द्वारा पूर्ण करते हैं। इन कलाओं द्वारा हम अमिश्रित सौन्दर्य व्यक्त करना चाहते हैं। इसी लिए कलाओं द्वारा प्रतिपादित विषय यद्यपि दृश्यमान जगत् की नक़ल है फिर भी वह दृश्यमान जगत् से अधिक रोचक जान पड़ता है। हम प्राकृतिक दृश्य की अपेक्षा उसके चित्र को चाव से देखेंगे। हम जगत् में प्रत्यक्ष होनेवाले अनुभव की अपेक्षा उसी का नाटक-रूप में अभिनय देखना अधिक पसन्द करेंगे। इस प्रकार यह अमिश्रित-सौन्दर्य-दर्शनेच्छा ही ललित कलाओं की सृष्टि और उनके विकास का कारण है। हमारे हृदय में इस अमिश्रित सौन्दर्य का भाव जितना उन्नत होगा, हमारी कलाओं में भी उतनी ही उन्नति होती चली जायगी क्योंकि हम अपने इसी भाव को तो कलाओं के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं। और हमारे भाव जितने उन्नत होंगे हमारा चित्त भी उतना ही विकसित समझना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी कलाओं के विकास का सम्बन्ध हमारे चित्त के विकास के साथ है। कलाओं का विकास तभी होगा जब योग्य व्यक्तियों की उस ओर प्रवृत्ति होगी और जन-समाज की उस ओर रुचि होगी। इस प्रकार हम कला के विकास को मानव-समाज के चित्त-विकास का मापक यन्त्र मान सकते हैं।

प्रत्येक प्रधान ललित कला का विशद तो क्या संक्षिप्त वर्णन भी कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। हाँ, प्रधान-तम कलाओं का दिग्दर्शन-मात्र अवश्य किया जायगा। पाठकों को यदि रुचि हुई तो वे इनका विशद वर्णन अन्य ग्रन्थों में पा सकते हैं। इस नाम-रूपात्मक जगत् में शब्द (नाम) और रूप के ही विषय प्रधान हैं इसी लिए इन्हीं दोनों विषयों की कलाओं में विकास भी विशेष हुआ है। कई विद्वानों ने तो इन्हीं दोनों विषयों की प्रधानतम कलाओं—स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, सङ्गीत, काव्य आदि—को ही ललित कलाएँ माना है। इन्हीं विशिष्ट ललित कलाओं का कुछ दिग्दर्शन आगे किया जाता है।

जिस कला से हम रूप की विशालता प्रकट करते हैं उसे **स्थापत्य कला** कहते हैं; यथा खम्भे, पिरेमिड या मन्दिर-निर्माण। जिस कला से हम आकृतिक वैचित्र्य और आकृति-सौष्ठव प्रकट करना चाहते हैं उसे **भास्कर्य कला** कहते हैं; यथा पत्थर-लकड़ी आदि में बेल-बूटे की खुदाई, अनेक प्रकार की स्थूल मूर्तियों का निर्माण आदि। जिस कला से हम आकृतियों की सूक्ष्मताओं का विशिष्ट सौन्दर्य प्रकट करना चाहते हैं उसे **चित्रकला** कहते हैं। जिस कला से हम स्थिर आकृति ही न देखकर गतिमान रूप व्यक्त करना चाहते हैं उसे **अभिनय-कला** कहते हैं। रूप भरना, नाचना, कलाबाज़ी करना, कसरत के खेल, हाव-भाव ,कटाक्ष, अदाएँ,

अङ्ग-सञ्चालन इत्यादि सब इसी के उदाहरण हैं। केवल रूप की प्रधान कलाएँ ये ही हैं।

जब मनुष्य रूप के सौन्दर्य की विशालता ही का अनुभव कर पाते हैं तब स्थापत्य कला का युग आता है। इसे हम चित्त-विकास की आदिम अवस्था मान सकते हैं। इतिहास के आदिम काल में भी इसी लिए हम बड़े-बड़े खम्भे, पिरेमिड, ऊँचे-ऊँचे मन्दिर या ऐसे ही पदार्थ बने हुए विशेष पाते हैं। जब इस विशालता के साथ प्राकृतिक वैचित्र्य अथवा आकृतियों का सौष्ठव देखने की इच्छा होती है तब भास्कर्य कला का युग आता है। इस भास्कर्य कला द्वारा रङ्गों का याथातथ्य और आँख सरीखी सूक्ष्म आकृतियों का पूर्ण रूप प्रकट नहीं होता इसलिए क्रमशः चित्रकला का युग आता है और बड़ी-बड़ी मूर्तियों के बदले हम बड़े-बड़े रङ्ग-बिरङ्गे चित्र पत्थरों, दीवारों, लकड़ियों या कागज़ों पर बने हुए पाते हैं। इस प्रकार स्थिर रूप के सौन्दर्य के भाव में विकास होता चला जाता है। गतिमान रूप के भावों का विकास भी इसी प्रकार होता चला जाता है।

रूप की अपेक्षा शब्द अधिक सूक्ष्म है इसलिए रूप की कलाओं की अपेक्षा शब्द की कलाएँ अधिक महत्व की हैं। एक सुन्दर चित्र देखकर कोई मनुष्य भले ही आकृष्ट न हो परन्तु एक सुन्दर गीत सुनकर प्रत्येक मनुष्य अवश्य कुछ न कुछ आकृष्ट हो जायगा। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षियों तक

में सङ्गीत का बड़ा प्रभाव देखने में आया है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने परीक्षा द्वारा स्थिर किया है कि पक्षियों में, बन्दरों में और यहाँ तक कि मगर सरीखे भद्दे जीव में भी सङ्गीत अपना कुछ न कुछ असर दिखाता ही है। हरिण और सर्प तो इसके ग़ुलाम ही समझे जाते हैं। वे सङ्गीत सुनकर इतने मस्त हो जाते हैं कि वधिकों द्वारा उनकी जान तक चली जाय फिर भी उन्हें कोई परवाह नहीं रहती। मनुष्य के हृदय की कठोरता और अशान्ति एक सुमधुर सङ्गीत सुनकर न जाने कहाँ ग़ायब हो जाती है और वह, कम से कम थोड़ी देर के लिए, अपने को भूलकर आनन्दसागर में लहरें लेने लगता है। सङ्गीत के द्वारा तो अनेक प्रकार के रोग भी दूर किये जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य इस कला द्वारा शान्ति और आनन्द तत्क्षण ही प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने मनोरञ्जन के लिए कम से कम इस कला का कुछ न कुछ ज्ञान और अभ्यास रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभ्यास से हम जीवन में मधुरता और शान्ति का अनुभव जब चाहें तब कर सकते हैं। **सङ्गीत-कला** से बढ़कर **काव्य-कला** का महत्त्व है। क्योंकि सङ्गीत में केवल स्वर-लहरी का सौन्दर्य ही व्यक्त होता है। परन्तु काव्य में उस स्वर-लहरी के साथ भाव-व्यञ्जकता का भी पूर्ण संयोग रहता है। इस काव्य-कला से न केवल बहिर्जगत् (प्रत्यक्ष) के सौन्दर्य का बोध होता है बल्कि इससे हमारे अन्तर्जगत् के

सौन्दर्य का पूर्ण व्यक्तीकरण भी होता है। इसी लिए ऊपर लिखी हुई कोई भी कला इसकी बराबरी नहीं कर सकती।

प्रत्यक्ष सौन्दर्य से अतीन्द्रिय सौन्दर्य (आन्तरिक अथवा भावों का सौन्दर्य) अवश्य बहुत बढ़कर है। इसी लिए अतीन्द्रिय सौन्दर्य की कला भी प्रत्यक्ष सौन्दर्य की कला से बढ़कर होगी। केवल यही नहीं, हम अपनी विकसित अवस्था में प्रत्यक्ष सौन्दर्य की कला को भी और उसकी कृतियों को भी तभी अच्छी कहेंगे जब उनके द्वारा कोई अतीन्द्रिय और विशिष्ट भाव व्यक्त हो। चित्रकला में जो लोग केवल प्राकृतिक रङ्गों की .खूबसूरती और आकृतियों के तथा अङ्गों के सामञ्जस्य ही को सार वस्तु समझते हैं वे पक्के चित्रकला-कोविद नहीं कहा सकते। जो उन रँगी हुई आकृतियों को प्रेम, करुणा, वात्सल्य या ऐसे ही कोई विशिष्ट भाव व्यक्त करने का साधन मात्र मानते हैं वे ही सच्चे चित्रकला-कोविद हैं। ग्रीस के वीनस के चित्र में अथवा रविवर्मा की उर्वशी या तिलोत्तमा के चित्रों में अङ्गसौष्ठव और रङ्गसौष्ठव की अपूर्व बहार है परन्तु अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की भारतमाता अथवा रामेश्वरप्रसादजी वर्मा की कमलकुमारी में जो भाव भरे हुए हैं उन्हें उर्वशी या तिलोत्तमा के चित्र नहीं पा सकते। इसीलिए उस कमलकुमारी या भारतमाता पर ऐसी अनेकों उर्वशी और तिलोत्तमाएँ न्योछावर कर दी जा सकती हैं यद्यपि उनके अङ्गों और रङ्गों का सौष्ठव उतना नहीं। सङ्गीत में भी प्राचीन भारतीय शास्त्र-

पद्धति से गाया हुआ गीत आजकल एक भावपूर्ण ग़ज़ल के आगे फीका जँचता है। यदि किसी चितेरे ने कोई परम भाव-पूर्ण चित्र खींच दिया तो वह सौ काव्यों से बढ़कर हो जाता है। इससे विदित होता है कि प्रत्यक्ष सौन्दर्य में भी भावों ही का प्राधान्य है।

इन शब्द, रूप और भाव का संयोग हमें **नाट्य कला** अथवा नाटक में मिलता है। इसलिए यह कला सबसे अधिक रुचिकर और उन्नत है तथा इसके द्वारा हमारे चित्त का विशेष विकास हो सकता है और हमारे विकास का विशेष परिचय मिल सकता है। जो मनुष्य ग्रन्थों इत्यादि की सहायता से अपने जीवन का विकास नहीं प्राप्त कर सकता और ज्ञान द्वारा पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकता वह कलाओं के द्वारा अवश्यमेव उन्नत हो सकता है। क्योंकि इसमें पद-पद पर मनोरञ्जन है, पद-पद पर आनन्द है, पद-पद पर अनोखी उत्क्रान्ति है। आजकल मनोरञ्जक ढङ्ग से शिक्षा देने पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है और शास्त्रीय शिक्षा देने में भी डाइरेक्ट मेथड, किंडर गार्टन इत्यादि की कलाओं का योग किया जा रहा है। यदि हम चित्र, सङ्गीत अथवा ऐसे ही साधनों का आश्रय लेकर शिक्षा दें तो प्रत्येक विषय कितना मनोरञ्जक और हृदयग्राही बन जाय।

भक्ति भाव की शिक्षा देने के लिए भी अर्चा के रूप में षोड़शोपचार द्वारा ऐसी ही कलाओं का आश्रय लिया गया है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि अब विकास की गुंजाइश नहीं। हम अब भी बहुत कुछ विकास कर सकते हैं और यदि विकास न भी करें तो भी हम अपनी उपेक्षा दूर करके इन कलाओं का ह्रास होना रोक सकते हैं। हमें चाहिए कि हम अपनी यह अमूल्य सम्पत्ति हाथ से न जाने दें और इसे बढ़ाने ही का प्रयत्न करें। गुण अब भी गुमा नहीं है, केवल गुणग्राहक गुम से गये हैं। यदि हम गुणग्राहक बनकर प्रयत्न करें तो इन ललित कलाओं का आलोक हम भारतीय आकाश में उठाकर फिर संसार को दिखा सकते हैं। महामना रवीन्द्र तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, विष्णु दिगंबर तथा फड़के इत्यादि ऐसा ही प्रयत्न कर भी रहे हैं। ईश्वर उन्हें शीघ्र सिद्धि दे।

अहङ्कार प्रकरण

सूत्र २२

२२ समन्वय मार्ग ही सम्यक् विकास का मार्ग है—

हम पहिले ही कह चुके हैं कि केवल सत्य या केवल शिव अथवा केवल सुन्दर ही हमारा आदर्श नहीं है बल्कि "सत्य शिव सुन्दर" ही हमारा एकान्त आदर्श है। इसलिए वही मार्ग हमारे सम्यक् विकास का मार्ग होगा जिसके द्वारा चलकर हम अपने इसी पूर्ण आदर्श की उपलब्धि कर सकें। कर्म-मार्ग शिवत्व की प्राप्ति के लिए है, भक्ति-मार्ग सुन्दरत्व की प्राप्ति के लिए है और ज्ञान-मार्ग सत्यत्व की प्राप्ति के लिए है। कर्म-मार्ग से हमारे मन की ही पूर्णता और शुद्धता विशेष होती है, भक्ति-मार्ग से हमारे चित्त ही की पूर्णता और शुद्धता विशेष होती है, तथा ज्ञान-मार्ग से हमारी बुद्धि ही की पूर्णता और शुद्धता विशेष होती है। इनमें से कोई भी एक मार्ग हमारी सर्वाङ्गीन उन्नति में पूरी तरह सहायक नहीं हो सकता। हमारी सर्वाङ्गीन उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हमारे मन, बुद्धि और चित्त तीनों, समान रूप से, विकसित होकर सत्य शिव सुन्दर की उपलब्धि करें। इसलिए हमारे सम्यक् विकास का मार्ग भी केवल कर्म-मार्ग, केवल-भक्ति मार्ग अथवा केवल ज्ञान-मार्ग न होकर इन तीनों का समन्वय-मार्ग ही होगा।

कई लोगों ने कर्म-मार्ग को ज्ञानमूलक और भक्तिप्रधान बनाकर कर्मयोग ही की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कई ने ज्ञान-मार्ग को साधन-चतुष्टय-(विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—और मुमुक्षत्व)-संसेवित और भक्ति-संशोधित करके ज्ञानयोग ही की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कई ने भक्ति-मार्ग को अर्चानुरञ्जित और भगवद्ज्ञान-समाश्रित बनाकर भक्तियोग ही की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। परन्तु इस प्रकार का कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग केवल समन्वय-मार्ग का ही दूसरा नाम है। कई मनुष्यों की बुद्धि मन और चित्त से विशेष विकसित रहा करती है। उन्हें ज्ञानयोग के रूप में कहा हुआ समन्वय-मार्ग ही पसन्द आता है। जो संसार को क्षणिक, असार, अशान्त और मायामय समझते हैं तथा ईश्वर को निर्गुण, निर्विकल्प इत्यादि मानते हैं उन वैराग्य-शील प्राणियों को कर्म या भक्ति का मार्ग कैसे पसन्द होगा? जो संसार को ससार समझते हैं और इस दृश्यमान जगत् के व्यवहार की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते उनके लिए कर्म-योग ही विशेष रुचिकर रहेगा। और जिन भावशील प्राणियों में चित्त ही की प्रधान सम्पत्ति होगी, जो संसार में उसी एक की अनेक छटाएँ देखना चाहेंगे अथवा यों कहिए कि न एकदम संसारी और न एकदम वैरागी होंगे, उन्हें भक्तियोग के रूप में कथित समन्वय-मार्ग ही विशेष रुचिकर होगा। इस प्रकार अधिकारी-भेद के अनुसार भले ही हम

समन्वय-मार्ग को कर्मयोग, भक्तियोग, या ज्ञानयोग के नाम से उल्लेख करें परन्तु वह मार्ग असल में एक ही है। यदि हम किसी एक मार्ग को दूसरे दो मार्गों से एकदम पृथक् करके उसे ही सम्पूर्ण मानव जाति का अनुकरणीय बतावेंगे तो यह अवश्य ही हमारी भूल होगी। इस सम्बन्ध में भागवत के निम्न तीन श्लोक उल्लेख योग्य हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

प्रत्येक प्रधान धर्म में भी कर्मकाण्ड, ईश्वर-निष्ठा और तत्त्व-ज्ञान (Ritual, Theology and Metaphysics) ऐसे तीन अङ्ग होते ही हैं। इनमें कर्मकाण्ड तो कर्म-मार्ग का सूचक है, ईश्वर-निष्ठा भक्ति-मार्ग का और तत्त्वज्ञान ज्ञान-मार्ग का सूचक है। इस दृष्टि से प्रत्येक धर्म ही समन्वय-मार्ग का अवतार है। परन्तु कर्म के **सर्वोच्च** तत्त्वों, ज्ञान के **सर्वोच्च** तत्त्वों और भक्ति के **सर्वोच्च** तत्त्वों का समन्वय जिस धर्म में किया गया होगा वही चिरस्थायी रह सकेगा और उसी का अनुकरण कर मनुष्य अपना परम उद्देश्य सिद्ध कर सकेगा।

आचार शास्त्र की रचना हमारे कर्मों की विवेचना के लिए और हमारे मन की पवित्रता और उन्नति के लिए तथा परम शिव का तत्त्व प्रकट करने के लिए हुई है। **सौंदर्य शास्त्र** की रचना हमारी भावनाओं की विवेचना के लिए, हमारे चित्त की पवित्रता और उन्नति के लिए तथा परम सौन्दर्य का तत्त्व व्यक्त करने के लिए हुई है। इसी प्रकार **ज्ञान-विज्ञानशास्त्र** की रचना हमारे ज्ञान की विवेचना के लिए, हमारी बुद्धि की पवित्रता और उन्नति के लिए तथा परम सत्य का तत्त्व व्यक्त करने के लिए हुई है। इसलिए हमारी उन्नति का आश्रय न केवल आचार-शास्त्र (Ethics) है, न सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) है और न ज्ञान-विज्ञानशास्त्र (Science and Metaphysics) है वरन् तीनों का समन्वय ही हमारी उन्नति के लिए आवश्यक है। यदि आचारशीलता न रहे तो जीवन उच्छृंखल, आसुरी और अनर्थकारी बन जाय। यदि सौन्दर्यशीलता न रहे तो जीवन अशान्त, शुष्क और क्षुद्र हो जाय। यदि ज्ञान-विज्ञानशीलता न रहे तो जीवन विवेकहीन पशुत्व की ताण्डवभूमि बन जाय। इसलिए जीव की वही शिक्षा सच्ची और उपादेय है जिसमें इन तीनों शास्त्रों के तत्त्व सम्मिलित रहें।

ऐसी शिक्षा केवल पाठशालाओं ही में दी जा सकती हो सो बात नहीं है। बल्कि आजकल की पाठशालाओं में तो इस सर्वाङ्गीन शिक्षा के विपरीत ही शिक्षा दी जा रही है और उनके द्वारा केवल दिमाग़ी शैतान (Intellectual giants)

बनने ही का अवसर विशेष रहता है। ऐसी शिक्षा तो हमें अपने माता-पिता, मित्रों, पड़ोसियों इत्यादि के द्वारा विशेष मिलने की सुविधा रहती है। हमारे **संस्कार, भाव** और **कर्म** शुद्ध हों तभी हम समझेंगे कि हमें वास्तविक शिक्षा प्राप्त हुई। चाहे हमें वर्णमाला की अ आ इ ई भी लिखना न मालूम हो परन्तु यदि हमारे संस्कार, भाव और कर्म उन्नत हैं तो हम हज़ारों और लाखों पढ़े-लिखे लोगों से अधिक उन्नत और अधिक शिक्षित अवश्य हैं। प्रेमचन्दजी की 'रङ्गभूमि' का अन्धा सूरदास क्या पढ़ा-लिखा था? परन्तु मनुष्यता में वह किस साक्षर विद्वान् से कम था?

कई दार्शनिकों ने केवल शक्ति ही को परम आराध्य माना है; कई ने केवल ज्ञान ही की ओर लक्ष्य किया है; और कई केवल कर्म ही की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं। कई यौगिक सिद्धियों ही को सब कुछ समझे बैठे हैं। कई प्रेम ही के पीछे पागल हैं और उसे ही ईश्वर समझते हैं। कई भक्ति के आगे और किसी को कुछ गिनते ही नहीं। कई जातीय कल्याण के आगे सबको तुच्छ समझते हैं। कई राजनैतिक-सुव्यवस्था को जीवन का प्रधान लक्ष्य मानते हैं। कई धन कमाने ही में जीवन की इयत्ता जानते हैं। इनमें से कोई भी ध्येय, जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं, पूर्ण नहीं कहा जा सकता। हमारा पूर्ण ध्येय तो 'सच्चिदानन्द' अथवा 'सत्य शिव सुन्दर' ही है और इसके लिए पूर्ण मनुष्यत्व की उपलब्धि ही इष्ट है। इसी मनुष्यत्व और सच्चिदानन्दत्व की

प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम समन्वय-मार्ग द्वारा अपने संस्कारों, भावों और कर्मों की शुद्धि और वृद्धि करें तभी हमारा सम्यक् विकास होगा अन्यथा नहीं।

सूत्र २३

२३ व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज से सम्बद्ध है—

व्यक्ति का अर्थ है एक जीव और समाज का अर्थ है उसी कोटि के अन्य सब जीव। इस समाज के अनेक अङ्ग हैं। हमारे माता-पिता समाज के एक अङ्ग हैं, हमारी पत्नी उसका दूसरा अङ्ग है, हमारा कुटुम्ब उसका तीसरा अङ्ग है। हमारा नगर, हमारी जाति, हमारा राष्ट्र इत्यादि सब उसके और-और अङ्ग हैं। व्यक्ति और समाज का बड़ा गहरा सम्बन्ध है और समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति कभी अपना विकास नहीं कर सकता। जीव के विकास का सबसे पहिला साधन, यह शरीर, उसे माता-पिता के द्वारा प्राप्त होता है जो समाज के अङ्ग हैं। फिर वह अपने भरण-पोषण के लिए अपने कुटुम्बियों इत्यादि पर निर्भर रहता है। इसके अनन्तर उसे पूर्वजों द्वारा संचित ज्ञानराशि की आवश्यकता होती है। फिर भाषा, वेश, आचरण, अनुभव इत्यादि सभी बातों की आवश्यकता पड़ती है। इन सब बातों के लिए प्रत्येक जीव अपने समाज का ऋणी है। इन सब बातों में समाज जितना उन्नत होगा उतनी ही विशेष सुविधा जीव को अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए

होगा। ऐसी ही सुविधाओं से लाभ उठाता हुआ जीव अपनी उन्नति किया करता है।

यह समाज-सम्बद्धता केवल मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों तक में पाई जाती है। प्रत्येक जीव अपने ही क्षेत्र में, अपने ही साधनों से, उन्नति करेगा; अपनी ही जाति के और अपनी ही सी प्रवृत्तिवाले दूसरे जीवों से सहायता लेना चाहेगा। (और नहीं तो सन्तान-उत्पादन ही में सही।) अपनी ही परिस्थिति के अनुसार अग्रसर होने के उपाय करेगा। जगत् के गुणों को अपनी बुद्धि की शक्ति के अनुसार पहिचान-कर वह उन्हीं के अनुसार उनसे लाभ उठावेगा। इस प्रकार वह अपने समाज पर आश्रित होकर और उसी का सहारा लेकर अपने विकास में अग्रसर होगा।

अब जिस प्रकार व्यक्ति का समाज, उसके विकास में, सहायक है उसी प्रकार वह उसकी स्वतन्त्रता को एक निश्चित सीमा के भीतर रखनेवाला भी है। (यहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ केवल इच्छानुसार कार्य करने की क्षमता ही है। उन इच्छाओं ही का नियामक कौन है अथवा उस इच्छा के अनु-सार साधन देकर कार्य पूरा करा देनेवाला कौन है? इन जटिल प्रश्नों पर इस समय विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हम कहीं जाने की इच्छा करते हैं और चले जाते हैं। कुछ खाने की इच्छा करते हैं और खा लेते हैं। कोई कार्य-सम्पादन करना चाहते हैं और कर लेते हैं। केवल इसी अर्थ

में हम स्वतन्त्र हैं। हमारी यही स्वतन्त्रता हमारी समाज के कारण एक निश्चित सीमा के भीतर रहती है।) यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह सबको दबाकर केवल वही वह रह जाय तो उसका पतन अवश्यम्भावी होगा और उसको असफलता अवश्य मिलेगी। संसार के जितने जीव हैं सभी उत्क्रान्तिशील और स्वतन्त्र हैं। संसार के जितने पदार्थ हैं उन सबको ग्रहण करने की क्षमता सभी जीवों में हो सकती है। इसलिए संसार के समग्र ऐश्वर्यों के प्राप्त करने का एकान्त अधिकार किसी एक जीव को कदापि नहीं मिल सकता। परन्तु व्यक्ति अपनी प्रेय-प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए समाज पर भाँति-भाँति के अत्याचार करता है और इसी के कारण अनेक प्रकार के द्वेष, कलह, दंभ, विप्लव इत्यादि का आविर्भाव होकर उस व्यक्ति के अथवा ऐसे व्यक्ति-समूह के कार्यों में बाधा उपस्थित होती है तथा अशान्ति, अस्थिरता, अधःपतन का पुरस्कार मिलता है। जब समाज की सहायता के कारण हम उसके ऋणी हैं तो यह आवश्यक है कि उसके प्रति हमारे कुछ कर्तव्य भी होने चाहिएँ। यदि हम वे कर्तव्य पालन करते हैं तो समाज अवश्य हमारी उत्तरोत्तर सहायता करता हुआ हमारा विकास सम्पादित करता जायगा और यदि हम उन कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे तो हमारा समाज हमारी स्वतन्त्रता में अवश्य रोड़े अटकावेगा जो वैयक्तिक दण्ड, शासन-दण्ड अथवा सामाजिक दण्ड के रूप में हमारे सामने आवेगा।

जैसा कि पहिले कहा गया है, हमारा समाज अनेक अङ्गों में विभक्त है। उनमें हमारा गृह, हमारा नगर और हमारा देश तथा अखिल विश्व प्रधान है। समाज-सम्बद्ध होने के कारण सबसे पहिले तो हमारा कर्तव्य हमारे गृह-कुटुम्बियों की ओर है। दूसरा कर्तव्य हमारे ग्रामवासियों, नगरवासियों अथवा स्वजातियों की ओर है। तीसरा कर्तव्य हमारे देश-वासियों की ओर है और चौथा कर्तव्य अखिल मानवजाति की ओर है। इन्हीं कर्तव्यों को पूर्ण करने से हम समाज के ऋण से मुक्त हो सकते हैं। पूर्वकाल में देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण ऐसे तीन प्रधान ऋण प्रत्येक मनुष्य पर माने जाते थे और इन ऋणों से उऋण होना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य बताया गया था। परन्तु यदि विचार किया जाय तो ये तीनों ही ऋण एक प्रकार से समाजऋण के अन्तर्गत ही आ जाते हैं और यही समाजऋण ही एक ऐसा ऋण जान पड़ता है जिससे मुक्त होना प्रत्येक मनुष्य का प्रधान कर्तव्य कहा जा सकता है।

समाज प्रत्येक व्यक्ति से ऐसे ही कर्तव्यों के पालन करने की आशा करता है और केवल आशा ही नहीं बल्कि यह प्रयत्न करता है कि प्रत्येक व्यक्ति इन कर्तव्यों का अवश्य पालन करे। ये ही कर्तव्य क्रमशः रूढ़ि, नियम या क़ानून का रूप धारण करते हैं और यदि कोई व्यक्ति इनका उल्लङ्घन करता है तो उसे समाज अथवा राजव्यवस्था से दण्ड भी मिला करता

है। यदि इन कर्तव्यों की पाबन्दी न कराई जाय तो समाज में एकदम उच्छृङ्खलता फैल जाय। अब इन रूढ़ियों में अनेक ऐसी होती हैं जो व्यक्ति की उन्नतिशील प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं होतीं। ऐसी रूढ़ियों अथवा ऐसे क़ानूनों का उठा देना आवश्यक है अन्यथा वे **सामाजिक अत्याचार** (social tyranny) का रूप धारण कर लेते हैं। हम आन्दोलन करके समाज के इन नियमों में परिवर्तन कर सकते हैं परन्तु हमें एकदम विशृङ्खलता धारण करने अथवा आवश्यक नियमों की अवहेलना करने का कोई अधिकार नहीं है। हमारी व्यक्तिगत उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम समाज की भी उन्नति न करते जायँ। हम अपने को समाज से एकदम पृथक् मानकर अपने पूर्णत्व की उपलब्धि शायद ही कर सकते हैं।

हमारे घर, नगर, देश और विश्व की ओर जो हमारे प्रधान कर्तव्य हैं उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ किया जाता है—

१ घर—माता-पिता के द्वारा हम शरीर धारण करते हैं और वंश-वृद्धि की प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर हम विवाह करते और लड़के-बच्चे पैदा करके अपना परिवार बढ़ाते हैं। इसे ही हम गृहसमाज कहते हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख, सदाचार-दुराचार, उन्नति-अवनति पर हमें ध्यान देना चाहिए और उनकी सहायता तथा सेवा करने का प्रयत्न करना चाहिए। बड़ों के प्रति आदर भाव, छोटों के प्रति वात्सल्य-भाव, बराबरीवालों के प्रति प्रेमभाव रखना बहुत ज़रूरी है।

एक राज्य चलाना सरल है परन्तु एक गृह चलाना कठिन है क्योंकि राज्य में तो हम अपने शासनदण्ड के बल से मनचाही बात पूरी करा सकते हैं परन्तु हम अपने ही घर में सब पर एक बराबर हुकूमत नहीं रख सकते। उस घर में विभिन्न प्रवृत्तियों और स्वभावोंवाले अनेक जीव रहते हैं। उनमें से कई अपनी प्रभुता चाहते हैं; कई बराबरी का दावा करते हैं; कई अपनी मनोवृत्तियाँ छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। पत्नी चाहती है कि माता हट जाय तो मैं ही गृहस्वामिनी बन जाऊँ। पुत्र चाहता है कि बाप के ख़ज़ाने की चाबी मुझे मिल जाय तो मैं ख़ूब मौज करूँ; भाई चाहता है कि बाप की सम्पत्ति पर अकेला बड़ा बेटा ही क्यों मौज करे, मैं भी क्यों न हिस्सा बटाऊँ? इत्यादि। सम्मिलित कुटुम्ब में तो ऐसी अनेक बातें थीं परन्तु अब वह प्रथा धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। फिर भी ऐसी अनेक समस्याओं का सामना हमें करना ही पड़ता है। यदि हम इन समस्याओं से डरकर अपने घर के प्रति उदासीन हो जावेंगे तो हमें अवश्य ही अकीर्ति और अशान्ति का सामना करना पड़ेगा।

हमारे गृह के प्रति हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम प्रत्येक व्यक्ति में सद्भावों और सद्विचारों का प्रचार करें। यह कार्य केवल लेक्चरबाज़ी ही से नहीं हो सकता। रामायण सरीखे धार्मिक ग्रन्थों का नित्य पाठ करना, स्वयं ही सदाचरण और सत्कार्य करके दिखाना, सत्सङ्गति और सत्प्रवृत्तियों के

संयोग उपस्थित करना इत्यादि भो इसके अच्छे साधन हैं। यदि हमारे गृह के प्रत्येक व्यक्ति ही सद्भावशील और सद्विचार-पूर्ण हैं तो फिर गृह-शासन में हमें रत्ती भर भी कष्ट न होगा। यह कार्य हम सेवाभाव, सूनृतावाणी और नम्र व्यवहार धारण करके और भी सरलतापूर्वक कर सकते हैं।

दूसरा कर्तव्य यह है कि हम प्रत्येक व्यक्ति को सादे जीवन और उच्च विचार (plain living and high thinking) का अभ्यासी बनावें। यदि हम ऐसा न करेंगे तो हम जीवन-सङ्ग्राम की विकट कठिनाई अपने सम्मुख उपस्थित कर लेंगे और घर का ख़र्च हमारे सँभाले न सँभलेगा।

तीसरा कर्तव्य यह है कि हम स्त्रियों और बालकों को सुशिक्षित तथा शिष्टाचार-युक्त बनावें। शिक्षा का अर्थ शरीर की तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार की सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति करना है। ऐसी शिक्षा के साथ ही साक्षरता की भी आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना हमारी गृहस्थी का सब काम चल सकना बहुत कठिन है।

चौथा कर्त्तव्य यह है कि हम प्रत्येक व्यक्ति में फ़ज़ूल-ख़र्ची, लापरवाही, उच्छृङ्खलता अथवा अव्यवस्था की आदत बिलकुल न पड़ने दें। ऐसे-ऐसे अनेक कर्तव्य हैं जो पाठक विचार करके स्वयं जान सकते हैं। किस समय किस अवस्था में किस व्यक्ति के साथ कैसा वर्ताव करना, यह बात अनुभव ही से आ सकती है। गृह-प्रबन्ध के विषय में जितना

लिखा जाय उतना ही थोड़ा है परन्तु यहाँ पर इस विषय में इससे अधिक लिखना उचित नहीं जँचता।

२ नगर—हम अक्सर एकाकी होकर नहीं निवास करते। हम या तो किसी ग्राम में अथवा किसी नगर ही में रहते हैं। उन पौरों अथवा नागरिकों के समाज में रहकर हमें उनके साथ विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है। जो बात घर के विषय में कही गई है वही बात नगर, देश अथवा संसार के विषय में भी कही जा सकती है। सिद्धान्त प्रायः वे ही हैं। हाँ, क्षेत्र अवश्यमेव विस्तृत होता जाता है। हमारे नगर में किन बातों की कमी है, इसका अनुभव करके उन्हें पूरी करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही हमारा नगर के प्रति प्रधान कर्तव्य है।

३ देश—अपने राष्ट्र की ओर हमारा प्रधान कर्तव्य यही है कि हम उसमें सङ्गठन-शक्ति की पुष्टि करें और उसको स्वच्छन्द बनाकर उसके द्वारा ऐसे-ऐसे क़ानून या नियम बनवावें जिनके सहारे मनुष्य दूसरे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों का अनिष्टसाधन न करता हुआ अपनी पूर्ण उन्नति कर सके।

४ संसार—अखिल मानव-जाति के दुःख दूर करना ही हमारा संसार की ओर कर्तव्य है। इन्हीं कर्तव्यों को पूर्ण करने से हम सुखी हो सकते हैं और इन्हीं कर्तव्यों को न करने से हम दुःख उठाते और अपनी उत्क्रान्ति में बाधा पहुँचाते हैं।

आजकल **सहयोगिता** (co-operation) का महत्व दिन-दिन बढ़ रहा है और इसी सहयोगिता के बल पर अखिल मानव-जाति का विकास होता जा रहा है। इसलिए इस युग में समाज की किसी प्रकार की उपेक्षा करना किसी अंश में भी ठीक नहीं। यदि हम समाज के ऋणी होकर उसके प्रति उपेक्षा करेंगे तो चाहे हम क़ानूनी दण्ड से बच जावें परन्तु लोक-मत (public opinion) के दण्ड से नहीं बच सकते। यह लोक-मत का दण्ड बड़ा प्रबल है जिसके आगे बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी थर्रा उठते हैं। इसी लोक-मत के विपरीत होने पर बड़ी-बड़ी बादशाहतें उखड़ गई हैं। हाँ, यदि हम सत्सिद्धान्त और निश्चित सत्य पर दृढ़ होकर कोई कर्म कर रहे हैं तो हमें लोक-मत की भी परवा न करनी चाहिए। क्योंकि यद्यपि वह नासमझी के कारण हमारे विपरीत भी हो जाय परन्तु परिवर्तनशील समय स्वयं ही लोगों के हृदय में सत्य बात अङ्कित करके उस लोक-मत को हमारे अनुकूल कर देगा। जो लोक-मत ही को अपनी कसौटी मानकर कार्य करते हैं वे यश और कीर्ति भले ही प्राप्त कर लें परन्तु धोखा भी बड़ा गहरा खाते हैं। जो सच्चे कर्तव्य पर दृढ़ रहते हैं, लोक-मत कालान्तर में अवश्य उनके अनुकूल हो जाता है, चाहे कुछ समय तक प्रतिकूल ही क्यों न रहा हो। क्योंकि विजय आख़िर सत्य ही की होती है। "सत्यमेव जयति नानृतम्"।

जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों के विपरीत आचरण करने की इच्छा करता है, तभी शासन की आवश्यकता होती है और उसी के बल पर प्रत्येक व्यक्ति को मर्यादा और व्यवस्था के भीतर ही रहने के लिए बाध्य किया जा सकता है। पशु पक्षी इत्यादि तो प्राकृतिक नियमों के वशवर्ती ही रहा करते हैं। वे आदि-शक्ति से स्वयं ही शासित होते रहते हैं। इसलिए उन्हें राज्यशासन की कोई ऐसी आवश्यकता नहीं रहती जैसी मनुष्य को रहती है। मनुष्य तो बाल्य-काल ही से अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धव इत्यादि से शासित होता रहता है अन्यथा बुद्धि-स्वातन्त्र्य के कारण उसका उन्मार्गगामी होना प्राय: निश्चित ही सा है। यही शासन भाव जब व्यक्ति और कुटुम्ब से आगे बढ़कर एक देश अथवा राष्ट्र भर में फैल जाता है तब वह **राज-व्यवस्था** कहाता है। इसी राज-व्यवस्था के कारण कोई भी व्यक्ति समाज पर अथवा कोई भी समाज व्यक्ति पर अनुचित अत्याचार नहीं करने पाता।

राज-व्यवस्थाएँ (systems of Government) यद्यपि अनेक प्रकार की हैं परन्तु उनमें दो की प्रधानता है। एक तो वह राज-व्यवस्था जो किसी एक ही व्यक्ति से (जिसे राजा या सम्राट् कहते हैं) सञ्चालित होती है तथा सम्पूर्ण राज्य उसी के घराने की सम्पत्ति के समान समझा जाता है। और दूसरी वह जो सर्वसाधारण के द्वारा निर्धारित की हुई नीति के अनुसार उन्हीं के द्वारा सञ्चालित होती है। पहिली को

हम राजतंत्र (autocracy) और दूसरी को प्रजातंत्र (democracy) कह सकते हैं। समाज में केवल एक ही वंश सदैव समुन्नत बना रहे और अन्य सब व्यक्तियों का भाग्य-विधायक हो तथा दूसरे सब वंश और व्यक्ति केवल उसी एक व्यक्ति अथवा वंश का आदेश पालन किया करें, चाहे वे आदेश एकदम निरंकुश और अप्रतिष्ठाकारी तथा अनैतिक ही क्यों न हों, ऐसा कभी नहीं हो सकता। विकास के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति भी महत्वपूर्ण हो सकता है, चाहे वह राजवंश का हो चाहे प्रजावंश का। इसी लिए अब क्रमशः निरंकुश राजतन्त्र लुप्तप्राय सा हो रहा है। और अब के राजा तथा सम्राट् लोग भी शासन का कार्य अपनी प्रजा अथवा उनके प्रतिनिधियों की राय के अनुसार ही किया करते हैं। जो उनकी राय पर ध्यान नहीं देते वे धोखा भी खाते हैं।

जिस प्रकार सम्पूर्ण अद्वैत सिद्धान्त के आधार-स्तम्भ चार वेदों के चार महावाक्य ही हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण राजतन्त्र की नीति के भी चार मुख्य सूत्र कहे जायँ तो अनुचित न होगा। वे चारों सूत्र हैं—(१) सदाचारी बनो; (२) सदाचारी बनाओ, (३) सुखी रखो और (४) सुखी रहो। राजा का सबसे पहिला कर्तव्य है कि वह स्वयं सदाचारी बने। फिर उसका दूसरा कर्तव्य यह है कि वह अपनी सब प्रजा को सदाचारी बनाने का प्रयत्न करे। इसके बाद तीसरा कर्तव्य

यह है कि वह अपनी प्रजा को हर तरह सुखी रक्खे और फिर इसके बाद वह स्वयं सुखी रहे। आजकल के नरेश पहिली तीन बातें भूलकर एकदम चौथा चरण ही पकड़कर बैठ जाते हैं और "रोशनी रवाइस तमाशे ताम झाम ख़ूब" की ख़ूबियों में पड़कर एकदम इन्द्र ही से होड़ करने लग जाते हैं और उसी में सब कुछ स्वाहा करने लग जाते हैं। बस ऐसी ही बातों से तो वैषम्य और क्रान्तियाँ होती हैं और प्रजातन्त्र की तूती बोल उठती है। यदि राजा लोग उपरि-लिखित चतुःसूत्री के अनुसार व्यवहार करें तो फिर राजतन्त्र से बढ़कर कोई दूसरे प्रकार की राज-व्यवस्था ठीक हो ही नहीं सकती। परन्तु मानव-प्रकृति के कारण विलासिता की परिस्थिति में पड़कर हमारे माननीय नरेश लोग यह बात भूल जाते हैं।

प्रजातंत्र में यद्यपि सुव्यवस्था के साथ व्यक्तियों के विकास की सुविधाएँ विशेष रहती हैं परन्तु उसमें भी अनेक त्रुटियाँ बनी रहती हैं जो अब तक इतना प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं हो सकी हैं। बहुसंख्यक अल्पसंख्यक समुदाय (majority and minority) के प्रश्न, अनेकानेक दल-बन्दियाँ और प्रत्येक दल की महत्वाकांक्षाएँ तथा इसी के कारण बात-बात पर मिनिस्टरी का परिवर्तन, वोटों की ख़रीद-फ़रोख़्त, सौदेसट्टे आदि अनेक विषय वर्तमान प्रजातन्त्र की अपूर्णता की घोषणा उच्च स्वर से कर रहे हैं।

असल में तो वही राज-व्यवस्था अथवा वही तन्त्र सर्वश्रेष्ठ माना जायगा जो सुव्यवस्था के साथ प्रत्येक व्यक्ति ही को उसके अधिकार प्रदान करने में सबसे अधिक उदारता दिखावे। प्रत्येक मनुष्य को सच्चा-मनुष्य—आदर्श मनुष्य—पूर्ण मनुष्य होने का अधिकार है। अब जिस राज-व्यवस्था ने प्रत्येक ही व्यक्ति को अपना यह अधिकार चरितार्थ करने के लिए क्षेत्र प्रदान किया वह अवश्य प्रशंसनीय समझी जावेगी। जिस राज-व्यवस्था के द्वारा कुछ व्यक्ति-विशेष सदैव ही विशेष अधिकार-सम्पन्न और कुछ सदैव ही भाराक्रान्त और पद-दलित बनाये जावेंगे तथा साम्य का भाव न रखकर वैषम्य ही के भाव पर ज़ोर दिया जावेगा वह त्रुटि-रहित कदापि नहीं हो सकती। व्यक्तियों की परिस्थितियों में वैषम्य भले ही रहे, यहाँ तक कि उनके कार्यों और सामाजिक स्थितियों में भी वैषम्य भले ही रहे परन्तु मनुष्यता के नाते उन सबको समानता प्रदान करना ही प्रत्येक राज-व्यवस्था का धर्म है। मैं ब्राह्मण हूँ, आप क्षत्रिय हैं, वह राजकुल का है और यह मेह-तर का पुत्र है। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति अलग-अलग है और प्रत्येक के धर्म और कार्य में वैषम्य रहना उचित ही है। राजव्यवस्था भी उनके उस वैषम्य को, जहाँ तक कि वह वैषम्य समाज की सामूहिक उन्नति का साधक हो, सुरक्षित रख सकती है। परन्तु इस वैषम्य के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य भी तो है इसलिए उसमें साम्य भी तो रह सकता

है। यह साम्य उनकी शिक्षा-दीक्षा, सभ्यता इत्यादि में लाया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि भारतीय वर्ण-धर्म व्यक्तियों के वैषम्य की रक्षा करता है और आश्रम-धर्म उनके साम्य की रक्षा करता है और इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि जो राज-व्यवस्था अपने देश या राष्ट्र में वर्णाश्रम धर्म की सच्ची रक्षा कर सकती हो वही सच्ची राज-व्यवस्था है, तो अनुचित न होगा। यह विषय बड़ा ही महत्वपूर्ण है परन्तु खेद है कि यहाँ इस पर अधिक लिखने का स्थान नहीं है।

सूत्र २४

२४ प्रेय के प्रभाव से ही विकास में विफलता होती है—

व्यक्ति के सुख-साधन को प्रेय कहते हैं और समाज के सुखसाधन को श्रेय कहते हैं। इसे ही यों भी कह सकते हैं कि अहम् के लिए अनहम् का संग्रह प्रेय (egotism) कहाता है और अनहम् के लिए अहम् का त्याग श्रेय (altruism) कहाता है। मानव जीवन अथवा मानव समाज के जीवन का इतिहास केवल इसी श्रेय और प्रेय के महाभारत की कथा मात्र है। जहाँ हमें युद्ध, वैभव, विषमता, षड्यंत्र, विलास, द्वेष, जीवन-संग्राम, विप्लव इत्यादि के दर्शन होते हैं वहाँ समझिए कि प्रेय ही विशेष अपनाया गया है। जहाँ शान्ति, धर्माभ्युदय, संगठन, समाज-सेवा, ईश्वरनिष्ठा, तत्त्वान्वेषण, ज्ञानचर्चा,

परोपकारिता इत्यादि के दर्शन हों वहाँ समझिए कि श्रेय की विजय हुई है।

किसी भी व्यक्ति में जैसे-जैसे श्रेय की वृद्धि होगी वैसे ही वैसे उसे [illegible], आनन्द और विकास की भी प्राप्ति होती जायगी और ज्यों-ज्यों उसमें प्रेय की वृद्धि होगी त्यों ही त्यों उसमें अशान्ति और दुःख की भी बढ़ती होती जायगी। प्रत्येक व्यक्ति साधारणतः अपने को क्षुद्र, संकीर्ण और विभिन्न मानता ही है। इसलिए यह निश्चित है कि उसकी प्रवृत्ति प्रेय की ओर विशेष रहती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह सब कुछ संग्रह करना चाहता है। इसी से जीवन-संग्राम का उदय होता है। जिसमें जितनी अधिक शक्ति है वह दूसरों की अपेक्षा उतना ही अधिक संग्रह कर सकेगा और जो शक्तिहीन है वह पिस जायगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार जीव अपनी-अपनी शक्ति की वृद्धि में व्यस्त रहता है और वह जितना अधिक शक्तिशाली होता है उतना ही दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार विषमता, कलह, द्वेष, युद्ध, विप्लव इत्यादि का आविर्भाव होता है।

मनुष्यों ने अपने हृदय की इस कमज़ोरी का आदिम-अवस्था ही से अनुभव किया है इसी लिए शासन की व्यवस्था उत्पन्न हुई है। जब देखा गया कि निरंकुश स्वतन्त्रता में मार-काट विशेष होती है और कोई काम व्यवस्थापूर्ण होने नहीं पाता तब कुटुम्ब के मुखिया लोगों ने अपने आश्रितों पर शासन

करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार उनमें व्यवस्था स्थापित रखने का प्रयत्न किया। कुटुम्ब के मुखियों ही के समान क्रमशः जाति के मुखिया, ग्राम के मुखिया और देश के मुखिया लोगों का शासन प्रारम्भ हुआ अथवा जहाँ कोई एक मुखिया न हो सका वहाँ दस-पाँच मुखिया मिलकर व्यवस्था करने लगे। इन्हीं से क्रमशः आजकल के राज्यों और राष्ट्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। परन्तु क्या आजकल की भी शासन-व्यवस्था पूर्ण कही जा सकती है? इस समय ऐसा कोई भी राष्ट्र नहीं है जो विश्वजनीन व्यवस्था और जीव-समष्टि की शान्ति और अभ्युदय का सच्चा आकांक्षी हो। सब अपने-अपने सुख और स्वार्थ की ओर पहिले दृष्टि रखते हैं। इसका तो यही अर्थ है कि जो पहिले व्यक्ति की प्रेय प्रवृत्तियाँ थीं वे अब राष्ट्र की हो गईं। पहिले व्यक्तियों में संग्राम होते थे। अब राष्ट्र लड़ा करते हैं। फिर भी अन्तरराष्ट्रीय (international) कल्पनाएँ लोगों के मन में उठने लगी हैं और शिक्षा भी इस प्रकार की दी जाने लगी है जिससे मनुष्य अखिल मानव-जाति ही को एक राष्ट्र मानने के लिए उत्सुक हो उठा है। ईश्वर ही जाने, यह उत्सुकता कब चरितार्थ होगी। अभी तो दिल्ली दूर जान पड़ती है।

जिस राष्ट्र की शासन-व्यवस्था में प्रभुत्व से बढ़कर सेवा-भाव की प्रधानता रहेगी वह राष्ट्र अथवा वह शासन-पद्धति अवश्य बिजयी होगी। (बोलशेविकों के अभ्युदय का यही

कारण है, यद्यपि बोलशेविक सिद्धान्त भी दोषों से ख़ाली नहीं है।) जिस धर्म में "सर्वभूतहिते रत:", "समः सर्वेषु भूतेषु" "आत्मवत् सर्वभूतेषु", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इत्यादि के भाव रहेंगे वही धर्म विजयी और चिरस्थायी होगा। (सनातन धर्म की स्थिरता और इसलाम के नूतन अभ्युदय का यही कारण है, यद्यपि यहाँ भी एक प्रकार की संकीर्णता का घुन लग गया है।) जिस व्यक्ति में श्रेय के लिए प्रेय के त्याग की यथेष्ट मात्रा रहेगी वही अकिञ्चन होकर भी समाज का हृदय-सम्राट् बन सकता है (बुद्ध इत्यादि इसके उदाहरण हैं)।

यदि कोई कहे कि हमें अथवा हमारे राष्ट्रों को जीवन की आवश्यकताओं के संग्रह करने से .फुरसत ही नहीं मिलती, हम श्रेयसाधन करें तो कैसे करें! ऐसा कहनेवाले यदि कुछ देर शान्त होकर विचार करें तो उनकी भूल उन्हें स्वयं ही विदित हो जायगी। हमारी इस समय की स्थिति वास्तव में ऐसी हो गई है कि हमें खाने-कमाने से .फुरसत ही नहीं मिल सकती। विश्राम के लिए एक सुडौल घर चाहिए, भाँति-भाँति के कपड़े चाहिएँ, भाँति-भाँति के अन्न चाहिएँ, कम से कम एक स्त्री चाहिए फिर बच्चे भी होना ज़रूरी है। और फिर उनके आराम की व्यवस्था चाहिए। इन सब बातों के लिए पैसा चाहिए। पैसे के अनुसार प्रतिष्ठा और शान चाहिए। शान के अनुसार ही ख़र्च चाहिए, चाहे उसमें फ़ुज़ूलख़र्ची भी क्यों न सम्मिलित हो। फिर अन्न और धन की फ़ुज़ूलख़र्ची से रोग और झगड़ों

का होना भी आवश्यक है। इसलिए फिर वैद्य, डाक्टर और वकीलों की शरण जाना भी आवश्यक है। इस प्रकार यदि देखा जाय तो हमारी आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं कि उनसे उबरकर श्रेयसाधन के लिए न तो हमारे पास शक्ति ही रहती है; न साहस ही; न समय; न साधन ही। परन्तु क्या इस प्रकार अपनी आवश्यकतायें बढ़ा लेने का दायित्व हम पर ही नहीं है? जब हम देखते हैं कि हमारे ही पड़ोस में रहनेवाला कुली अथवा जङ्गली देहाती इन सब आवश्यकताओं से एकदम बचकर फिर भी हृष्ट-पुष्ट रहता है, जीवित रहता है और सुखी रहता है तो फिर हमारे ही जीवन की स्थिति के लिए इतनी असंख्य आवश्यकताओं की क्या आवश्यकता है? यदि आज हम चाय अथवा तम्बाकू पीना प्रारम्भ करते हैं तो उसे केवल विलासिता (luxury) समझकर ग्रहण करते हैं परन्तु कल वही हमारे लिए आवश्यकता (necessity) बन जाती है और उसके बिना हमारी गुज़र ही नहीं हो सकती। यही हाल ऊपर लिखी हुई प्रायः सब आवश्यकताओं का है। जिस राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा राजनैतिक संस्था का आदर्श अपने राष्ट्र में ऐसी ही आवश्यकताओं को सुलभ करना है वह कभी चिरस्थायी नहीं हो सकता और शान्ति उससे कोसों दूर भागती रहती है। क्या विलायत में पूँजीपतियों और मज़दूरों, अमीरों और ग़रीबों का संघर्ष और बात-बात में मिनिस्टरी का परिवर्तन इसी

बात को सूचित नहीं कर रहा है ? देखा चाहिए भारत भी किस प्रकार का स्वराज्य चाहता है ! जिसने इन आवश्यकताओं की यथार्थता पहिचानकर इनसे अपने को अनासक्त कर दिया, वह शीघ्र ही देख सकेगा कि इस जीवन का प्रायः सब भाग ही श्रेय साधन में लगाया जा सकता है।

हमारा व्यक्तित्व देश (space)-काल (time) और निमित्त (causality) से सीमा-बद्ध है। हम इसी ससीम व्यक्तित्व में असीम की उपलब्धि करना चाहते हैं। हम इसी व्यक्तित्व के द्वारा देश पर, काल पर, और निमित्त पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सब दिशाओं में, सब ग्रहों में, सब स्थानों में हमारा आधिपत्य हो जाय। हम चाहते हैं कि भूत-भविष्य-वर्तमान हमारे करतलामलकवत् हो जायँ; हम अनन्त काल तक जीवित रहें; जिस वस्तु को हम जितनी देर चाहें रख सकें और जब चाहें उड़ा सकें। हम चाहते हैं कि हम मिट्टी का सोना बना दें; कल-पुर्ज़ों में आदमियत ला दें; एक ग्रह से दूसरे ग्रह तक जाने के यान बना लें; नये सूर्य, चन्द्र और मेघों तक की रचना कर लें। यह सब कुछ हम चाहते हैं और विज्ञान इत्यादि के द्वारा हम यह कर भी रहे हैं परन्तु क्या इससे मानव-जाति चिरकालीन शान्ति का उपभोग कर सकेगी ? क्या देश, काल और निमित्त का विजय-पत्र किसी एक ही व्यक्ति को कभी मिल सकता है ? हम अपनी उन्नति करके क्या करते हैं ? आपस

में लड़ मरते हैं। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी अपने राज्यों से सन्तुष्ट न होकर वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा एक दूसरे का संहार ही करना चाहते हैं। इसी लिए कहा गया है कि आधुनिक विज्ञान की नीव बड़ी कच्ची है। जिसे असीम की उपलब्धि करना है उसे स्वतः ही असीम होना चाहिए। अपने क्षुद्र व्यक्तित्व रूपी छोटे लोटे में वह सम्पूर्ण समुद्र कदापि नहीं भर सकता। सम्पूर्ण समुद्र को आत्मसात् करने के लिए उसे अपना ही लोटा फोड़कर उसे आकाश के समान गम्भीर और विस्तीर्ण करना पड़ेगा। यह विषय अगले सूत्र का है इसलिए इस पर यहाँ इस समय इतना ही लिखना उचित है।

हमारे जीव के अनेक आवरण हैं जिन्हें हम **कोष** कहा करते हैं। ये कोष ५ माने गये हैं। यथा—(१) अन्नमय कोष, (२) प्राणमय कोष, (३) मनोमय कोष, (४) विज्ञानमय कोष और (५) आनन्दमय कोष। प्रत्येक कोष की दो-दो प्रधान वासनाएँ रहती हैं जिनके कारण हम उस कोष का परिचय पाते हैं। अन्नमय कोष की वासनाएँ हैं आहार और विहार (शरीर-रक्षा और वंश-विस्तार) की। ये शरीर-सम्बन्धिनी वासनाएँ कही जा सकती हैं। प्राणमय कोष की वासनाएँ हैं शक्ति और स्वास्थ्य (पहलवानी और तन्दुरुस्ती) की। ये प्राण-सम्बन्धिनी वासनाएँ कही जा सकती हैं। मनोमय कोष की वासनाएँ हैं धन और ऐश्वर्य की। ये मन-सम्बन्धिनी वासनाएँ कही जा सकती हैं। विज्ञान-

मय कोष की वासनाएँ हैं ज्ञान और कीर्ति की। ये बुद्धि-सम्बन्धिनी वासनाएँ कही जा सकती हैं। आनन्दमय कोष की वासनाएँ हैं सुख और शान्ति की। ये चित्त-सम्बन्धिनी वासनाएँ कही जा सकती हैं। इन वासनाओं में आहार-विहार की वासना से शक्ति और स्वास्थ्य की वासना विशेष उत्तम है। शक्ति और स्वास्थ्य से आगे ऐश्वर्य और सम्पत्ति का का नम्बर है। फिर ज्ञान और कीर्ति उससे चढ़-बढ़कर है और सुख और शान्ति की वासनाएँ तो ज्ञान और कीर्ति से भी विशेष प्रबल और विशद हैं। वासनाओं की ऐसी कक्षाओं ही के कारण हम पाँच कोषों की कल्पना करके उन्हें क्रमशः एक दूसरे से विशद और उन्नत मानते हुए उन्हें जीव के विकास-मार्ग के चक्र-व्यूह के पाँच फाटक समझते हैं। ये पाँच प्रकार की वासनाएँ एक दूसरे से एकदम पृथक् नहीं हैं बल्कि ये प्रत्येक मनुष्य में वर्त्तमान रहती हैं। इसी लिए मनुष्य इच्छा करने पर भी केवल आहार-विहार ही में सदैव मस्त नहीं रह सकता। वह ऐश्वर्य, धन, ज्ञान, कीर्ति इत्यादि की भी इच्छा करता रहता है। इन सब वासनाओं में हमारे व्यक्तित्व की छाप लगी रहती है इसी लिए हम इनकी पूर्ति करते हुए स्वार्थ (अपना मतलब) साधा करते हैं। इस तरह जब स्वार्थ भावना से किसी भी वासना की पूर्ति की जायगी तो हम उसे प्रेय ही कहेंगे। अब काम-वासना से कीर्त्ति-लालसा अथवा ज्ञान-वासना निःसंदेह कई दर्जे बढ़कर है; परन्तु आखिर वह

भी तो प्रेय ही है। हथकड़ी चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, चाहे हीरे-जवाहर की परन्तु आख़िर है तो वह हथकड़ी ही।

जिस प्रकार हममें प्रेय की अनेक वासनाएँ हैं और हम केवल निचले दर्जे के प्रेय की वासनाएँ ही लेकर नहीं बैठे रह सकते उसी प्रकार हममें श्रेय की भी वासनाएँ वर्तमान हैं और हम इच्छा करने पर भी उनका बहिष्कार नहीं कर सकते। दुखिया के आँसू देखकर हमारा हृदय सहानुभूति के भावों से उमड़ पड़ता है। अपने बालक को सङ्कटापन्न देखकर हम अपनी जान होमकर भी उसे बचाने का प्रयत्न करते हैं। हम कितने भी स्वार्थी हों परन्तु ऐसे काम हमसे बरबस हो जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि हमारा लक्ष्य केवल प्रेय ही की ओर नहीं रह सकता और हम श्रेय का भी साधन किसी न किसी रूप में कर लेते हैं; परन्तु हमारे कार्यों में अधिकतर प्रेय ही का प्राबल्य रहता है जिसके कारण हमारे विकास में हमें विफलता प्राप्त हुआ करती है।

हमारे श्रेय में भी बहुधा प्रेय का भाव ऐसा मिल जाता है कि विशुद्ध श्रेय का पहिचानना कठिन हो जाता है। हम यदि किसी ब्राह्मण को दान देना चाहेंगे तो अपने ही रसोइये, अपने ही मान्य अथवा अपने ही किसी परिचित स्नेही को देंगे। हम यदि दूसरों की सेवा करेंगे तो अपने ही कुटुम्ब और अपनी ही जाति की। इस अपनेपन की अथवा ममत्व की वासना जिस कार्य में वर्तमान है उसे प्रेय अवश्य कह सकते हैं, चाहे वह

श्रेय के ही रूप में हो। और भी, आत्मसंतोष की वासना तो हमारे प्रत्येक कार्य में वर्तमान रहती है। यह वासना भी ममत्व-बुद्धि से ख़ाली नहीं है। इस दृष्टि से तो श्रेय के सम्पूर्ण समुदाय को हम प्रेय के अन्तर्गत मान सकते हैं परन्तु साधारण दृष्टि से तो हम प्रेय उसे ही कहेंगे जो अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के लिए हो। शेष सब कार्य श्रेय ही कहावेंगे। अब इनमें भी जो श्रेय के कार्य केवल समाज के एक नियमित खंड (उदाहरणार्थ कुटुम्ब या जाति अथवा राष्ट्र) के लिए किये जायँ उन्हें प्रेयमूलक श्रेय समझना चाहिए और जो सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए अथवा सर्वभूत-हितार्थ किये जायँ उन्हें ही विशुद्ध श्रेय समझना चाहिए। यदि हम अपने भाई की प्रतिष्ठा इसलिए बढ़ा रहे हैं क्योंकि वह हमारा नज़दीकी है—भाई है—तो हम प्रेयमूलक श्रेय साधन कर रहे हैं। और यदि हम उसकी प्रतिष्ठा इसलिए बढ़ा रहे हैं क्योंकि वह भी मनुष्य है और हमारे समान जीव है तो हम शुद्ध श्रेय साधन कर रहे हैं। प्रेयमूलक श्रेय की पुष्टि में हम दूसरों का गला काटकर भी अपने भाई की प्रतिष्ठा बढ़ावेंगे और विशुद्ध श्रेय की पुष्टि में हम ऐसा कदापि नहीं करेंगे। जाति-सेवा या राष्ट्र-सेवा में भी श्रेय और प्रेय का विचार इसी प्रकार है।

इस संसार में अनन्त कोटि जीवों और इसी प्रकार अरबों-खरबों मनुष्यों की स्थिति-गति हो रही है। इसलिए प्रेय के मार्ग में प्रवृत्त होने से पारस्परिक संघर्ष का होना अवश्य-

म्भावी है। क्योंकि एक मनुष्य जिन पदार्थों का संग्रह करना चाहता है उन्हें दूसरा बिलकुल न चाहे यह हो ही नहीं सकता। इसलिए प्रेय से प्रभावित होने पर हमारे विकास की विफलता होना भी अवश्यम्भावी है। परन्तु प्रेय-प्राप्ति की उमङ्ग में क्या हम इस विफलता को कुछ गिनते हैं? हम एक-एक नहीं सौ-सौ बार गिरते जाते हैं परन्तु फिर भी उसी प्रेय की ओर दौड़ पड़ते हैं। कारण यही है कि हम अपना विकास चाहते हैं परन्तु अपनी व्यक्तित्व की भावना के साथ। हम अपनी स्वतन्त्र और विभिन्न सत्ता ही में पूर्ण विकास देखना चाहते हैं और वह भी पूर्ण ऐश्वर्य इत्यादि के रूप में। इसी लिए हम संग्रह-प्रधान बनकर उठते हैं, बैठते हैं, गिरते हैं परन्तु गिरते-पड़ते हुए फिर उठते और बढ़ा करते हैं।

हम अपनी स्वतन्त्र सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं फिर हम उसे क्यों न मानें? यही तो बात है जिसके कारण हम प्रेय-साधन में प्रवृत्त होते हैं। इसी अनुभव का नाम माया अथवा लीला है। साधारण लोग ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े विद्वान् भी मोक्ष की कल्पना तक नहीं कर सकते। जीव की स्वतन्त्र सत्ता का नाश? कैसा विचित्र विषय है। जो प्रत्यक्ष है, नित्य है, आवागमन-युक्त है, वह केवल माया का खेल है, झूठा है, और एकदम गलित हो सकता है, यह बात कैसे विचार में आ सकती है! जब संसार का प्रवाह नित्य चल रहा है और चलता रहेगा तब फिर मुक्ति का विचार करना

ही एक हँसी की बात है। इसलिए कई विद्वानों ने केवल जीवन-संग्राम की दुन्दुभी बजाते हुए कर्मक्षेत्र में उतर पड़ने ही की ललकार सुनाई है। ऐसा ही सही। मुक्ति को ताक पर धर दीजिए; परन्तु फिर भी प्रेय और श्रेय का झगड़ा ते सामने आ ही जायगा। यदि प्रत्येक मनुष्य केवल प्रेय का आकांक्षी हो तो क्या संसार में विशृंखलता न उपस्थित हो जायगी और क्या आपसी संहार से संसार का सर्वनाश न हो जायगा? क्या प्रेय-साधन से हमारे विकास में विफलता न उपस्थित होगी?

प्रत्येक विचारशील मनुष्य, चाहे वह मोक्ष का इच्छुक हो चाहे न हो, श्रेय ही को अपने विकास का प्रधान साधन अवश्य मानेगा क्योंकि उसी के द्वारा हमारा जीव विशदता और शुद्धता को प्राप्त होता है। अब एक बार श्रेय-साधन से जब हमारी बुद्धि एकदम शुद्ध और निर्मल हो जायगी तब उसमें सद्विचार और मोक्षेच्छा का रङ्ग आप ही आप आसानी से चढ़ जायगा। अनवरत शान्ति और आनन्द के अनुभव ही के लिए मोक्षेच्छा होती है। जो लोग अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखकर अनवरत रूप से शान्ति और आनन्द प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं वे भले ही ऐसा करें परन्तु यदि परिणाम में उन्हें दुःख या विफलता के दर्शन हों तो फिर खेद अथवा आश्चर्य न मानना चाहिए।

कथा है कि एक बार नारदजी ने भगवान् से पूछा—"महाराज! आपका गोलोक धाम खाली है। आप जीवों को मुक्त

कर यहाँ क्यों नहीं आने देते''? भगवान् ने कहा—''नारदजी, कोई आना ही नहीं चाहता; मैं क्या करूँ''? यह सुनकर नारदजी को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि कोई मुक्ति नहीं चाहता यह बात वे समझ ही नहीं सकते थे। अतः वे कौतूहल-वश एक बूढ़े बनिया के घर गये और उसे मोक्ष का इच्छुक जान पूछा—''साहजी, वैकुण्ठ चलोगे''? साहजी प्रसन्न होकर बोले—''महाराज, अवश्य चलूँगा परन्तु अभी मेरा लड़का नादान है इसलिए इसे ज़रा होशियार कर दूँ फिर चलूँगा''। नारदजी समय की प्रतीक्षा करते हुए चले गये। जब फिर आये तो देखा कि साह मर चुका था। अपने योगबल से उन्होंने जान लिया कि साह बैल बनकर उसी घर में विराज रहा है। इसलिए वे उस बैलरूपी साह से फिर वही बात पूछने लगे। उसने उत्तर दिया—''महाराज! मैं अकाल ही में काल-कवलित हो गया और प्रचुर द्रव्य इस लड़के के लिए न रख पाया और न इसे होशियार ही कर सका। इसलिए अब बैल बना हूँ जिसमें ज़रा अधिक मेहनत करके इसके लिए चार पैसों का इन्तज़ाम कर दूँ। इतना कर देने पर वैकुण्ठ अवश्य चलूँगा''। नारदजी तीसरी बार फिर आये और देखा कि साहजी बैल की योनि से निकलकर मोरी (नरदवा) के कीड़े बनकर पड़े हुए हैं। नारदजी ने सोचा कि अबकी बार तो यह अवश्य वैकुण्ठ जाने की इच्छा प्रकट करेगा; परन्तु जब उन्होंने पूछा तो उस कीटरूपी साह ने उत्तर दिया—''महाराज!

क्या तुम्हें कोई दूसरा जीव नहीं मिलता जो मेरे ही पीछे पड़े हुए हो ? मैं यहाँ अपने पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों के दर्शन करता हूँ। उनके उच्छिष्ट के स्पर्श से उन्हीं के से स्पर्श-सुख का अनुभव करता हूँ। मुझे इससे क्यों वञ्चित करते हो ? जाओ, किसी दूसरे जीव को देखो। अब यहाँ न आना"। यही हाल प्रायः सभी संसारी जीवों का है। यही वह माया अथवा लीला है जो सब जीवों को नचा रही है। और इसी के कारण हम संसार में उठने, गिरने, रोने, गाने, उत्थान और पतन के दृश्य देखते आये हैं और भविष्य में भी देखते जावेंगे।

सूत्र २५

२५ अहङ्कार का विगलन ही मोक्ष है—

सब प्रकार के दुःखों, झंझटों, कठिनाइयों, दुर्बलताओं, सङ्कटों इत्यादि से एकदम मुक्त हो जाने ही का नाम मोक्ष है। अशान्तिमयी अवस्था से निकलकर अनवरत शान्ति और आनन्द के उद्यान में सदैव के लिए पहुँच जाने का नाम मोक्ष है। अपने आदर्श का साक्षात्कार कर लेने, और साक्षात्-कार ही क्यों, स्वयं आदर्शमय बन जाने और उसी के सङ्ग सायुज्य प्राप्त कर लेने का नाम मोक्ष है। प्रत्येक जीव ही ऐसे मोक्ष का अभिलाषी है। हम मोक्ष के मनमाने अर्थ लगाकर यह भले ही सोच लें कि मोक्षेच्छा केवल एक मृगतृष्णा है और उसके पीछे भटकना बिलकुल फ़जूल है। परन्तु यदि

हम ऐसे मनमाने अर्थों को छोड़कर वास्तविक अर्थ पर दृष्टि डालेंगे तो हमें अवश्य ही विदित होगा कि मोक्षेच्छा का अभिलाषी प्रत्येक जीव है और उसी के लिए वह प्रयत्न भी करता रहता है।

इस मोक्षेच्छा के प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं। एक तो संग्रहात्मक और दूसरे त्यागात्मक, जिन्हें कुछ लोग क्रमशः प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग भी कहा करते हैं। संग्रहात्मक मार्ग के विषय में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। यही वह प्रेय-प्रधान मार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य दुःख, निराशा और विफलता की ठोकरें खाता हुआ अन्त में अपनी असफलता से जर्जर होकर मोक्षेच्छा को केवल मृगतृष्णा समझ बैठता है और संसार में उठने, गिरने तथा प्रवाह-पतित रूप से बहते रहने ही को जीवन का आदर्श समझ बैठता है। यही प्रयत्न संसार के प्रायः सब जीव करते रहते हैं क्योंकि वे अपने स्वतन्त्र और विभिन्न व्यक्तित्व ही को आधार मानकर आगे बढ़ते हैं। इसी अहङ्कार की नींव पर मोक्ष का भव्य भवन खड़ा करना चाहते हैं। त्यागात्मक प्रयत्नवाले मोक्ष के लिए सम्पूर्ण अनहम् का संग्रह करने के बदले अपनी ही क्षुद्र सत्ता को एकदम मिटा देने की चेष्टा करते हैं जिससे उनमें सम्पूर्ण विशदता आप ही आप ओत-प्रोत भर जाय। ऐसे ही मार्गवाले अपने प्रयत्न में कृतकार्य होकर मोक्ष का वास्तविक आनन्द उठाते हैं।

हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व-बोध अथवा अहङ्कार के कारण हम में ममत्व का बोध होता है। ममत्व ही के कारण हममें अपनापन, परायापन इत्यादि के भाव उदय होते हैं। इस मेरे-तेरे-पन ही से हमें क्रमशः संस्कार, वासना, प्रवृत्ति, कर्म, सुख-दुःख, आवागमन इत्यादि के बन्धन प्राप्त होते हैं। इन्हीं बातों से मुक्त होने ही का नाम मोक्ष है। इसलिए इन शाखा-प्रशाखाओं को छिन्न-भिन्न करने की अपेक्षा मूल ही पर कुठार क्यों न चलाया जाय। "छिन्ने मूले नैव वृक्षो न शाखाः"। यदि हम मूल का उच्छेदन न करेंगे और केवल दुःख इत्यादि के दूर करने ही की चेष्टा में लगे रहेंगे तो हम उपस्थित दुःखों इत्यादि का भले ही नाश कर दें परन्तु नये सिरे से उत्पन्न होते रहनेवाले दुःखों का नाश कैसे हो सकेगा? अशुद्ध रक्त-विकार से उत्पन्न होनेवाले फोड़े हम ओषधि-प्रयोग से भले ही ठीक कर लें परन्तु नये-नये उत्पन्न होते रहनेवाले फोड़ों का नाश तो तभी होगा जब वह रक्त-विकार ही दूर कर दिया जाय।

परन्तु क्या अहङ्कार को एकदम गला डालना सम्भव है? अवश्य। यदि ऐसा न होता तो हमारे मन में विशुद्ध श्रेय की भावना ही न उठने पाती। जब हममें विशुद्ध श्रेय की भावना उठती है तब क्या हम अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से बहुत ऊपर नहीं उठ जाते? कई अवसरों पर तो हमें अपने अहङ्कार का ज्ञान तक नहीं रहता। फिर इसके सिवाय हमारे जीव की जो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि की अवस्थाएँ हैं उनमें

हमारे अहङ्कार का ज्ञान क्रमशः चीण होता जाता है। सुषुप्ति में तो उसका बोध एकदम नहीं सा ही होता है। ये तीन अवस्थाएँ तो हर किसी के अनुभव में आती हैं। परन्तु एक चौथी अवस्था और भी होती है जिसे तुरीय कहते हैं और जिसे योगमार्ग के उपायों से हर कोई प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था में आने पर हमारा चैतन्य अवश्य जागृत रहता है परन्तु हमारे अहङ्कार का रत्ती भर भी अस्तित्व नहीं बोध होता। और भी, यदि हम इतिहास और अनुभव पर विश्वास करें तो हमें कई ऐसे महात्माओं का परिचय मिलेगा जो अहङ्कार को पूरी तौर से गलाकर एकदम जीवन्मुक्त और कृत-कृत्य हो चुके हैं। इतना होते हुए फिर भी इस विषय पर शङ्का करना भूल है।

एक शङ्का और की जा सकती है। हम **अपने** सन्तोष, **अपने** विकास, **अपने** आनन्द इत्यादि के लिए ही तो इस संसार में सब कुछ करते हैं इसलिए इस **अपने**पन ही को शून्य में मिला देने से अगर हमें मोक्ष मिला तो वह किस काम का? यदि मोक्ष का अर्थ केवल शून्य में मिल जाना अथवा निर्वाण हो जाना ही है तो ऐसा मोक्ष हमें न चाहिए। क्योंकि एकदम पत्थर के समान जड़ हो जाने और अपनी सब उदात्त आकांक्षाओं को धूल में मिला देने से हमें सन्तोष कदापि नहीं हो सकता। यह शङ्का ठीक ही है। परन्तु यदि ऐसी शङ्कावाले यह जान लें कि निर्वाण का अर्थ एक-

दम शून्य हो जाना ही नहीं है तो उनकी शङ्का अवश्य दूर हो जावेगी। निर्वाण का अर्थ हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व (क्षुद्र व्यक्तित्व का अर्थ इस सूत्र भर में सम्बद्ध व्यक्तित्व—relative individuality है। जब समष्टि के भाव से सम्बद्ध व्यक्तित्व अथवा अनेकत्व के भाव से सम्बद्ध एकत्व का बोध होता है तभी हम उसे क्षुद्र व्यक्तित्व कहते हैं। जिस सत्ता में एक और अनेक का अथवा व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व न रहे उसे हम क्षुद्र व्यक्तित्व नहीं कह सकते। चाहे वह सत्ता भी हमारे समान ही चैतन्य सत्ता रहे। इसी लिए हमारे आदर्श पूर्णत्व अथवा सच्चिदानन्दत्व को हम क्षुद्र व्यक्ति अथवा अह-ङ्कार-विशिष्ट चैतन्य नहीं कह सकते) का एकदम नाश कर देना अवश्य है परन्तु उसका अर्थ हमारे अहङ्कार के भीतर प्रतिफलित सच्चिदानन्द भाव की पूर्ण उपलब्धि कर देना भी तो है। इस प्रकार निर्वाण में हम केवल शून्य ही न होकर एक-दम सच्चिदानन्द बन जाते हैं और परम सन्तोष, परम विकास, परम आनन्द इत्यादि का अनुभव करने लगते हैं। असल में तो हम सन्तोष, शान्ति, आनन्द इत्यादि का अनुभव चाहते हैं। मोक्ष में वह अनुभव हमें अवश्य पूरी तरह मिलता है। अब उस पूर्ण अनुभव के लिए यदि हमें क्षुद्र अपनापन खोना भी पड़े तो क्या हर्ज है ?

अपने जीव में दो ही तो बातें हैं। एक सच्चिदानन्द भाव (जिसे चैतन्यतत्व कहते हैं) और दूसरे अपनापन (जिसे क्षुद्र

यह मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? केवल सद्-ज्ञान से। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। हम बुद्धि प्रकरण में विचारों और ज्ञान के महत्व पर बहुत कुछ कह चुके हैं। हम यदि अपने जीव को क्षुद्र, सङ्कीर्ण, विभिन्न समझते रहेंगे तो वह अवश्य ही ऐसा बना रहेगा और यदि हम उसे सच्चिदानन्द समझेंगे तो वह अवश्य ही सच्चिदानन्द बन जायगा। यदि हम उसे बद्ध समझेंगे तो वह अवश्य बद्ध रहेगा। यदि हम उसे मुक्त समझते रहेंगे तो वह अवश्य मुक्त हो जायगा। इसी लिए यह निश्चित है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। ज्ञान की महत्ता प्रदर्शित करते हुए इसी लिए गीता में कहा गया है—"नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते"।

अपने को सच्चिदानन्द समझने का जो ज्ञान है क्या वह निरा कल्पित है? कदापि नहीं! हम पहिले ही देख चुके हैं कि यह समग्र संसार केवल एक चैतन्य सत्ता की शक्ति का घनीभूत विकार है। उस चैतन्य सत्ता ही को ब्रह्म या सच्चिदानन्द या भगवान् कहा गया है और उसी की इस विकार-कारिणी शक्ति को माया, प्रकृति या लीला कहा गया है। वह माया ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकती है क्योंकि वह उसी की शक्ति है। और वह ब्रह्म के समान सत्य भी नहीं हो सकती क्योंकि वास्तविक सत्य पदार्थ वही है जो तीनों कालों में एक-रस रहे—त्रिकालाबाधित हो—और ब्रह्म ही त्रिकाला-बाधित रह सकता है। माया विकारशील होने के कारण

ऐसी नहीं रह सकती। तो फिर ये विभिन्नताएँ और अनेकताएँ उसी एक चैतन्य सत्ता के क्षणभंगुर या नाशमान खेल हैं। तब जीवों की अनेकताएँ, पदार्थों की अनेकताएँ इत्यादि केवल माया-कल्पित होने के कारण हमें त्रिकालाबाधित शान्ति या आनन्द नहीं दे सकतीं। इसलिए ऐसे भेदों में भटकना अथवा इन भेदों का ध्यान या ख़याल भी करना एकदम फ़जूल है। अतएव ऐसी बातों से हटकर केवल उसी चैतन्य सत्ता में—उसी ब्रह्म में—ध्यानमग्न होने से परमानन्द की प्राप्ति होती है और जीव का मोक्ष होता है। इसी प्रकार से ब्रह्म को जान लेनेवाला ब्रह्म हो जाता है। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"।

यह विषय जितनी सरलता से लिख दिया गया, उतनी सरलता से अनुभव नहीं किया जा सकता। हमारे व्यक्तित्व के संस्कार इतने प्रबल रहते हैं कि हम अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को केवल माया-कल्पित मानकर उसको एकदम गला नहीं सकते। ज्यों-ज्यों प्रेय की ओर (जिसे गीता में आसुरी सम्पत्ति कहा गया है) हमारी प्रवृत्ति अधिक होती जायगी और उसके संस्कार अधिक दृढ़ होते जायँगे त्यों-त्यों हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व के संस्कार भी अधिकाधिक पुष्ट होते जायँगे और ज्यों-ज्यों श्रेय (जिसे गीता में दैवी सम्पत्ति कहा गया है) के संस्कार दृढ़ होंगे त्यों-त्यों हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व के संस्कार भी ढीले होकर हमारी बुद्धि विशुद्ध होती जायगी और उसमें मोक्ष विषयक यह पारमार्थिक ज्ञान अच्छा रङ्ग जमा सकेगा।

इसलिए इस ब्रह्म-जिज्ञासा के पहिले साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा-समाधान—और मुमुक्षुत्व) अथवा दैवी सम्पत्ति प्राप्त कर लेने की योजना रक्खी गई है। अन्यथा मोक्ष-विषयक ग्रन्थ पढ़ लेने से हम वास्तविक ज्ञानी न होकर केवल वाचक-ज्ञानी बन जाते हैं और अपने स्वार्थ के लिए अद्वैतवाद की आड़ लेकर भण्डवाद की शेख़ी बघारा करते हैं। यह वेदान्त लोहे का चना है जिसे हर कोई चबाकर हज़म नहीं कर सकता। जो अपनी शक्ति आज़माये बिना इसे चबाना चाहेगा वह अवश्य ही वेदाँत का हो जावेगा। यह शक्ति एकदम नहीं आ जाती। इसके लिए बरसों नहीं, जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्न की ज़रूरत होती है। "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"।

तो फिर क्या मोक्ष के विचार से हम लोग निराश ही हो जायँ? क्योंकि ऐसी असीम शक्ति और ऐसी असीम बुद्धि सबके लिए तो सुलभ नहीं है। परन्तु नहीं; ऐसे साधारण कोटि के मनुष्यों के लिए भी महात्माओं ने एक सुगम मार्ग निकाल दिया है जिसे उपासना-मार्ग अथवा भक्ति-मार्ग कहते हैं। हममें **तर्क** के साथ ही **भाव** भी तो है। इसलिए हम जिस बात को तर्क द्वारा नहीं ग्रहण कर सकते उसे भाव द्वारा सुगमतापूर्वक ग्रहण कर सकते हैं। अब हम यदि तर्क द्वारा उस अखण्ड चैतन्य-तत्व तक नहीं पहुँच सकते तो भाव द्वारा अपने उसी आदर्श पूर्णत्व को अवश्य ही सरलता-

पूर्वक प्रत्यक्ष कर सकते हैं। हम अपने भावों द्वारा उसी आदर्श पूर्णत्व का एक व्यक्त रूप कल्पित करके उसी पर अपने आप को अर्पित कर सकते हैं और इस प्रकार तन्मयत्व प्राप्त करके सरलतापूर्वक मुक्त और कृतकृत्य हो सकते हैं। इस मार्ग की महत्ता बताते हुए ही तो स्वनामधन्य यवन कविश्रेष्ठ 'रसखान' ने कहा है—

"ब्रह्म मैं ढूँढ़्यों पुरानन गानन वेद ऋचा सुन्यो चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यों कबहूँ न कितूँ वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि गयों रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरयो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥"

इस मार्ग में सबसे बड़ी ख़ूबी तो यह है कि भगवान् का भाव सन्मुख रहने से हमारे अहङ्कार का गलना तो पहिले ही प्रारम्भ हो जाता है। इसी लिए परम ज्ञानी लोग भी अपने इसी अहङ्कार के कारण कई बार गोते खा जाते हैं परन्तु भक्त प्रलोभनों के बीच में रहकर भी अक्सर बच जाता है। दूसरा लाभ यह है कि इस मार्ग से हमें न तो ज्ञान के रूखेपन का, न उसकी क्लिष्टता और न जटिलता ही का बोध होता है। यहाँ तो पद-पद पर आनन्द और प्रमोद की झड़ियाँ लग जाती हैं क्योंकि यह मार्ग प्रत्यक्ष का तिरस्कार नहीं करता और आनन्दोत्सव को सदैव सङ्ग लिये रहता है। इसी लिए ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा इस मार्ग की ओर आकर्षण विशेष होता है। तीसरी बात यह है कि चैतन्य तत्व और उसकी विकारशीला

शक्ति को ब्रह्म और माया कहने की अपेक्षा भगवान् और लीला कहना अधिक अच्छा जान पड़ता है। 'माया' से हम दूर भागना चाहेंगे किन्तु 'लीला' से नहीं। ब्रह्म शब्द में कुछ रूखापन, झलकता है किन्तु "भगवान्" शब्द में कुछ सरस अन्तस्तल का पता लगता है। इसी लिए संसार को ब्रह्म की माया कहने के बदले **भगवान् की लीला** कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। और इसी लिए ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग विशेष रोचक है। संसार में रहकर हमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, आशा-निराशा इत्यादि अनेक प्रकार के अनुभव देखने में आते हैं। उन्हें माया-कल्पित मानने से भी हमें अपनी अपूर्ण सत्ता में उनके झोंके खाने ही पड़ते हैं। परन्तु उन्हें लीलामय की लीला मान लेने में यद्यपि वे झोंके हमें लगेंगे परन्तु उनसे हमारी आन्तरिक शान्ति विचलित न होगी। इस संसार में हमसे कर्म तो होते ही रहते हैं और इसलिए जब तक हम उन्हें कर्म समझेंगे तब तक वे एक निश्चित उद्देश्य और निश्चित संस्कार वाले भी रहेंगे। यदि उन्हें हमने लीलामय के लीला-विलास समझने प्रारम्भ किये तो वे केवल विनोद ही का उद्देश्य लेकर सदैव आनन्ददायक और शान्ति-विधायक होंगे; क्योंकि पूर्णत्व के लिए जो अपूर्ण के विसर्ग-व्यापार हैं उन्हें ही कर्म कहते हैं और जो पूर्ण के विनोदार्थ विसर्ग-व्यापार हैं उन्हें ही लीला कहते हैं। इसी प्रकार विचार करने से विदित होगा कि साधक के लिए यह मार्ग (भक्ति-

मार्ग) विशेष रोचक तथा उचित है। परन्तु जिसकी बुद्धि प्राकृत संस्कार से अथवा इसी जन्म के सत्कर्मों से शुद्ध हो चुकी है और उसमें अद्वैत ज्ञान का प्रकाश विशुद्ध रूप से पड़ चुका है उसे इस सर्वजन-सुलभ साधन की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो योंही "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म" अथवा "सोऽहम्" की शङ्खध्वनि करता हुआ सदैव ललकारकर कहेगा:—

"मनो बुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहम्,
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुः,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥"

ऐसे ही ब्रह्मभावापन्न अथवा भगवद्भावापन्न व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। ऐसे जीवन्मुक्तों के विषय ही में कबीरदासजी ने कहा है—

"हैं साधू संसार में कँवला जल माहीं।
सदा सरवदा संग रहैं परसत जल नाहीं ॥"

अथवा गीता में ऐसे ही लोगों के लिए "पद्मपत्रमिवाम्भसा" की बात कही गई है। वे संसार में रहेंगे, संसारी के समान रहेंगे, वही रहन-सहन, वही बात-चीत, वही व्यवहार। परन्तु संसार की छाया तक उन्हें न छू जायगी। वे सामान्य मनुष्यों के समान घूमेंगे परन्तु उन रत्नों को कोई विरले ही जौहरी परख सकेंगे।

कई लोग समझते हैं कि ऐसे जीवन्मुक्त अथवा पहुँचे हुए मनुष्य संसार के लिए एकदम बे-काम हो जाते हैं इसलिए इस भाव की शिक्षा से सर्वसाधारण अथवा समाज को कुछ लाभ नहीं है। ऐसा समझना भूल है। वे रावण, कंस और वेणु के समान भले ही न हों परन्तु राम, कृष्ण और बुद्ध के समान अवश्य हो सकते हैं। वे समाज में केवल अपना क्षुद्र स्वार्थ ही लिये न बैठे रहेंगे। उनके प्रत्येक कार्य "सर्वभूतहितार्थाय" अथवा "धर्मसंस्थापनार्थाय" होते रहेंगे। भगवद्भाव मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बना सकता। स्वयं लीलामय की लीला ही जब नित्य नई प्रस्फुटित हो रही है तब किसी को अकर्मण्य रहने का स्थान ही कहाँ है? जीवन्मुक्त अकर्मण्य रह ही कैसे सकते हैं? उनके कर्म सब उसकी लीला ही तो हैं। वे अकर्मण्य हुए तो समझिए कि भगवान् ने अपनी लीला ही का संवरण कर दिया। परन्तु ऐसा तो है नहीं। फिर वे अकर्मण्य कैसे होंगे? जो जीवन्मुक्त हैं उनसे सत्यत्व, शिवत्व और सुन्दरत्व की सदैव रक्षा होती रहेगी, वे उदासीन रहकर भी अद्वितीय कार्यकर्त्ता होंगे, निष्क्रिय होकर भी धर्म-संस्थापक और समाज-उन्नायक रहेंगे, अनासक्त होकर भी सर्वदर्शी, सर्वस्पर्शी और परम कारुणिक होंगे। राम, कृष्ण, बुद्ध, शङ्कर, व्यास, वशिष्ठ, नारद, शुक, तुलसी, कबीर, नानक आदि जीवन्मुक्त महात्माओं ने जगत् का जितना उपकार किया है वह क्या किसी अमुक्त जीव के द्वारा सम्पादित हो सका है?

यह भगवद्भाव जितना अधिक दृढ़ किया जाय उतना ही अच्छा। जप-तप में यही हो, पूजा-अर्चा में यही हो, ज्ञान-ध्यान में यही हो, नित्य निमित्त में यही हो, यहाँ तक कि हमारे एक-एक कार्य में, एक-एक विचार में, एक-एक रग-रेशे में इसी भाव की छाया रहे। हम इसी भाव को लेकर सोवें, इसी भाव को लेकर उठें और सदैव इसी भाव में तन्मय रहने का प्रयत्न करें। ऐसे ही उपायों से यह भाव हममें अच्छी तरह भिद जायगा। यदि यह भाव अच्छी तरह न भिदा तो एक-आध बार भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने पर भी हमारा मोक्ष नहीं हो सकता। हम किसी भी अवस्था में क्यों न हों, कितने भी नीच से नीच और महापापी से महापापी क्यों न हों परन्तु यदि हम इस भगवद्भाव से अपनी सच्ची लगन लगाना प्रारम्भ करेंगे तो हम अवश्य ही अपनी उस अवस्था को भी भगवान् की लीला समझकर दुख-सुख में भी एकरस रहते हुए, सरलता के साथ जीवन्मुक्त बन सकेंगे। ऐसे मनुष्यों पर एक साथ सहस्रों विपत्तियों के पहाड़ भी क्यों न टूट पड़ें, लाखों सङ्कटों के वज्र भी क्यों न गिर पड़ें, असीम निराशा के असंख्य बादल भी क्यों न उमड़ पड़ें, वे सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक सहते हुए गम्भीर उन्मुक्त चित्त से यही कहेंगे कि—

"राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।
याँ यों भी वाहवा है और वों भी वाहवा है॥"

धन्य हैं ऐसे जीवन्मुक्त और धन्य है वह स्थान जो ऐसे जीवन्मुक्तों से सनाथ होता है। संसार सदैव ऐसे ही महात्माओं की राह देखा करता है और उनके प्रकट होने पर अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य उनके चरणों पर न्योछावर कर देता है। देश, काल और निमित्त की उपेक्षा करते हुए वे अजर अमर पद प्राप्त करते हैं परन्तु फिर भी देश, काल और निमित्त के मस्तक पर उनकी विजय-वैजयन्ती सदैव फहराया करती है और अन्य जीवों को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया करती है।

उपसंहार

मेरे एक मित्र ने इच्छा प्रकट की कि इस ग्रन्थ में जो विषय वर्णित है उसका संक्षिप्त सारांश भी, उपसंहार-रूप में, इस पुस्तक के साथ जोड़ दिया जाय। इसी इच्छा के कारण यह उपसंहार तैयार किया गया है।

सबसे पहिले हममें जीव की जिज्ञासा ही होनी चाहिए; क्योंकि अपने जीव को जान लेने ही से हम यथार्थतः कृत-कृत्य हो सकते हैं और अपने सब कार्यों, सब भावों और सब विचारों का वास्तविक मर्म समझ सकते हैं। यह जीव केवल पूर्णत्व के लिए स्फूर्तिमान् चैतन्य-विशेष ही है। अर्थात् वह चैतन्य है, व्यक्तित्व-युक्त है और पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान् रहता है। इसी पूर्णत्व के लिए स्फूर्ति अथवा प्रयत्न को विकास कहते हैं और इसी पूर्णत्व को भगवान् अथवा सच्चि-दानन्द कहते हैं। जीव ही को हम चैतन्य-विशिष्ट अहङ्कार कह सकते हैं और जब वही पूर्णत्व की ओर अग्रसर होता है तब अनहम् के सम्पर्क से उसके तीन रूप—मन, बुद्धि और चित्त—हो जाते हैं जिनके द्वारा वह क्रमशः क्रिया, ज्ञान और भावना के क्षेत्र में अग्रसर होता हुआ सत्, चित् और आनन्द को प्राप्त करना चाहता है। हमारे मन, बुद्धि और चित्त एक दूसरे से एकदम पृथक् नहीं हैं। उसी प्रकार सत्, चित् और

आनन्द भी एक दूसरे से पृथक् नहीं। जीव अनेक हैं। परन्तु उनका आदर्श पूर्णत्व सच्चिदानन्द केवल एक है।

इस संसार में जीव के विकास के लिए शरीर ही सबसे प्रधान साधन है। इस शरीर में जितनी जितनी योग्यता रहेगी उतना ही हमारे जीव का विकास भी हो सकेगा। इसी लिए इसको स्वस्थ, शक्तिशाली और दीर्घजीवी रखने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर में (१) उदर और पाचन-नली, (२) हृदय और रक्त-नलिकाएँ तथा (३) मस्तिष्क और स्नायु-जाल का विशेष महत्व है। इनमें भी मस्तिष्क ही मुख्य है क्योंकि जीव का निवास मुख्यतः वहीं है। इन सबको सशक्त, स्वस्थ और दीर्घजीवी रखने के लिए (१) सद्विचार, (२) योगाभ्यास, (३) नियमित आहार-विहार, (४) स्नान, (५) चिकित्सा आदि उपायों का अवलम्बन आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

हमारा विकास हमारे ही सद्विचारों पर निर्भर है। ये सद्विचार हमें ज्ञान द्वारा प्राप्त होते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हमारी चेतना के क्षेत्र में पहुँचता है और फिर संस्कारों के रूप में हमारी अचेतनता की अँधेरी कोठरी में पड़ा रहता है और आवश्यकता पड़ने पर विचारों के रूप में हमारी चेतना के क्षेत्र में आ जाता है। इन्द्रियों के द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके पाँच स्कन्ध या विभाग होते हैं—यथा रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार। ये स्कन्ध

आप ही आप नहीं तैयार हो जाते। इन्हें तैयार करने के लिए हमें अपनी बुद्धि की शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। वे शक्तियाँ ध्यानशक्ति, निरीक्षणशक्ति, विचारशक्ति, मेधा-शक्ति, कल्पनाशक्ति, तर्कशक्ति इत्यादि हैं। मनुष्यों में ये शक्तियाँ दूसरे जीवों की अपेक्षा अधिक विकसित हैं इसलिए मनुष्य का ज्ञान और अनुभव तथा अन्तर्बोध भी दूसरे जीवों की अपेक्षा बहुत चढ़ा-बढ़ा है। वास्तव में यदि देखा जाय तो संसार के समस्त पदार्थ एक ही चैतन्य के अनेक घनीभूत विकार हैं। परन्तु हमें इन अनेकताओं का भी ज्ञान होता रहता है। इसी लिए हमारी ज्ञान-राशि की विस्तीर्णता बताते हुए अनेक शास्त्रों का विस्तार दिन प्रति दिन होता चला जा रहा है। इन विस्तारों में भटकने से हमारी बुद्धि का विकास तो अवश्य होता है परन्तु हमारे समूचे जीव का विकास नहीं होता। उसका पूर्ण विकास तो तभी होगा जब हमारी बुद्धि का विकास केवल शुद्ध और सद्विचारों की ओर हो। बुद्धि पर सद्विचारों का रङ्ग जमाने के लिए (१) प्राणायाम, (२) सत्सङ्ग, (३) वासनात्याग, (४) भगव-द्भक्ति, (५) आत्मचिन्तन, (६) आदेशवाक्य आदि उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है।

सद्विचारों का आना अथवा उदय होना मात्र ही हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है। वे सद्विचार तभी चरितार्थ होते हैं जब हमारा मनोबल अथवा हमारे मन की एकाग्रता उनकी

ओर हो। यह मनोबल श्रद्धा, विश्वास तथा ऊपर लिखे हुए प्राणायामादि उपायों से बढ़ाया जा सकता है। जिस प्रकार बुद्धि चेतनाशील है उसी प्रकार मन क्रियाशील है। यदि वह सुद्विचार की ओर प्रवृत्त होगा तो अवश्य ही अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा उसे चरितार्थ कर देगा। हमारे जीव में पूर्णत्वप्राप्त्यैषणा, शरीर-रक्षा, वंशविस्तार इत्यादि के संस्कार पहिले से ही रहते हैं। इनमें भी हमारे शरीर के प्रभाव के कारण शरीर-रक्षा और वंश-विस्तार के संस्कार तो विशेष प्रबल होते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार हममें नैसर्गिकी प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं जिनसे प्रेरित होकर हम इस संसार में सब प्रकार के कर्म किया करते हैं। ये प्रवृत्तियाँ मनुष्येतर जीवों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। ये सब नैसर्गिकी ही न होकर परम्परागत और अभ्यासजन्य भी होती हैं तथा बढ़ाई, घटाई और मिटाई भी जा सकती हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए हमें वैसा कर्म भी करना पड़ता है। तभी हम विपरीत संस्कार और विपरीत प्रवृत्तियाँ पैदा करके पहिले संस्कारों और प्रवृत्तियों को काट सकते हैं। हम जैसे कर्म करेंगे वैसे ही संस्कार पावेंगे और जैसे संस्कार हमारे होंगे उसी के अनुसार हमसे कर्म हुआ करेंगे। यही कर्म-सिद्धान्त है जिसका मोटा अर्थ यह होता है कि हमें अपने प्रत्येक कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। यदि हम सत्कर्म करेंगे तो हमें पुण्य होगा और हमें आनन्दमयी स्वर्गीय अवस्था

प्राप्त होगी। यदि हम असत् कर्म करेंगे तो हमें पाप होगा और दुःखमयी नारकी अवस्था प्राप्त होगी। सत् और असत् कर्म पहिचानने की पक्की कसौटी यही है कि जो कर्म हमारे विकास के साधक हों वे सत् हैं और जो विकास के बाधक अथवा ह्रास के साधक हैं वे असत् हैं। जब शास्त्र में उल्लिखित दो सत्कर्मों का विरोध उपस्थित होता है और यह करें कि वह करें का प्रश्न उपस्थित होता है तब यही कसौटी काम आती है।

कर्मों की ओर प्रवृत्त होने के लिए हमारे भाव हमारी बड़ी सहायता करते हैं। हमारा चित्त भावशील है। ये भाव ही हमारे जीवन को बनाते या बिगाड़ते हैं। अपने इन्हीं भावों के समूह को हम स्वभाव कहते हैं। बड़े से बड़े कार्य केवल भावों को ज़रा उत्तेजित करने से बन गये हैं। जो विषय बुद्धि में नहीं भिदता वह भी भावों की सहायता से हममें भली भाँति अङ्कित किया जा सकता है। जो मनुष्य दूसरे के भावों की अच्छी परख कर सकता है वह संसार में सदैव सफल होता है। सामान्यतः (१) सेवाभाव, (२) सूनृता वाणी और (३) नम्र व्यवहार संसार में हमारी सफलता के प्रधान साधन हैं। हमारे चित्त की वृत्ति तीन प्रकार की होती है—या तो सुखमयी या दुखमयी या उदासीनतामयी। सुख भी आहार-विहार-मय, संस्पर्शज तथा अतीन्द्रिय होता है। दुःख भी आत्मसञ्जात, समाज-सञ्जात और दैव-सञ्जात होता

है; तथा उदासीनता भी सामान्य और विशेष ऐसे दो भागों में विभक्त है। इन्हीं वृत्तियों में हम भावों का अनुभव करते हुए विकास-मार्ग में अग्रसर होते हैं। भावों का आदर्श उद्देश्य है सौन्दर्य और आनन्द। इस सौन्दर्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करने के लिए हम ललित कलाओं का आश्रय लेते हैं और उनके द्वारा आनन्द-लाभ करते हैं। यों तो हमारी ललित कलाएँ अनन्त हैं और पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं परन्तु शब्द और रूप की ललित कलाएँ मुख्य मानी गई हैं और उनमें भी स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, सङ्गीत, काव्य और नाटक की प्रधानता है। काव्य में आचार्यों ने नव रस माने हैं परन्तु रस अनेक हो सकते हैं जिनमें प्रेम, करुणा और शान्ति की प्रधानता है। इन तीन रसों के अनेक भेद हो सकते हैं जिनमें से कुछ इस ग्रन्थ में बताये गये हैं।

इस प्रकार हमारे ज्ञान, कर्म और भाव—तीनों में सम्यक् विकास होने ही से हमारा पूरा और सच्चा विकास हो सकता है। इसलिए न केवल ज्ञान, न केवल कर्म और न केवल भक्ति-मार्ग—बल्कि तीनों का समन्वय-मार्ग ही हमारे सच्चे विकास का मार्ग हो सकता है। फिर यदि व्यक्ति चाहे कि वह समाज की अवहेलना करके विकसित हो जायगा तो यह असम्भव है। उसकी स्वतन्त्रता समाज से सम्बद्ध है इसी लिए उसे घर, नगर, देश, जाति इत्यादि की ओर अपना कर्तव्य पालन करना ही पड़ता है। ऐसे समाज के बीच में रहकर

यदि वह केवल क्षुद्र स्वार्थ अथवा प्रेय की ओर अग्रसर हुआ तो समाज में विशृङ्खलता होगी और उसका विकास न हो सकेगा। जिसने समाज के हित अथवा श्रेय की ओर ध्यान दिया वह अवश्य विकासशील माना जायगा। मनुष्य प्रेय ही की आराधना करके तो अशान्ति, अस्थिरता, अध:पतन बुला लेता है। इस प्रेय की असल जड़ है अपना विभिन्न व्यक्तित्व अथवा अहङ्कार। इसी को गला देने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह मोक्ष कोई असम्भव कल्पना नहीं है अथवा कोई हौवा नहीं है। यही सबका परम आराध्य और एकान्त वांछनीय है तथा इसी में जीव को चिर-अभिलषित अनवरत परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

इति शम्।

परिशिष्ट (क)

ब्रह्म, जीव और माया

जिस प्रकार अग्नि और दाहिका शक्ति अलग-अलग नहीं रह सकतीं उसी प्रकार अखण्ड चैतन्य और चित्‌शक्ति का भी पार्थक्य नहीं है। परन्तु जिस प्रकार दाहिका शक्ति की अभिव्यक्ति (अर्थात्‌ जलती हुई आग) देखने ही से हमें अग्नि की सत्ता का बोध होता है, यद्यपि यह निश्चित है कि अग्नि का अस्तित्व पहिले ही से था, उसी प्रकार चित्‌शक्ति अथवा माया की अभिव्यक्ति से ही हमें महेश्वर अथवा अखण्ड चैतन्य के अस्तित्व का पता लगता है। जब यह अखण्ड चैतन्य अथवा ब्रह्म अपनी इस शक्ति को अप्रकट रखता है तब वह निर्गुण और अव्यक्त कहाता है और जब इस शक्ति को प्रकट करता है तब सगुण और लीलामय कहाता है। यदि सोता हुआ मनुष्य निर्गुण ब्रह्म कहा जाय तो चलते-फिरते और जाग्रत्‌ अवस्थावान्‌ मनुष्य को सगुण-ब्रह्म कह सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म की अवस्था भी भगवान्‌ की **योग-निद्रा** ही कहाती है।

निर्गुण ब्रह्म सगुण कब हुआ ? इसका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि "कब" अर्थात्‌ काल तो स्वयं सगुणता का अङ्ग है इसलिए सगुणता आये बिना तो देश,

काल और निमित्त की बात आ ही नहीं सकती। फिर एक बात और भी है। जीवों का अस्तित्व तो इसी सगुणता पर निर्भर है इसलिए यह निश्चित है कि यदि सगुणता नहीं है तो अनेकता नहीं है और अनेकता नहीं है तो फिर जीवों का अस्तित्व भी नहीं है। इसलिए जीव के लिए यह जानने की चेष्टा कि सगुणता कब प्रारम्भ हुई उसी प्रकार है जैसे पुत्र की यह जानने की चेष्टा कि पिता के द्वारा उसका गर्भाधान कब हुआ था।

निर्गुण ब्रह्म सगुण क्यों हुआ ? इसका उत्तर दिया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सगुणता चित् शक्ति के कारण है और यह चित्शक्ति उस ब्रह्म की ठीक उसी प्रकार मूल प्रकृति है जैसे दाहिका-शक्ति अग्नि की प्रकृति है। "प्रकृतिं यान्ति भूतानि" के सिद्धान्त के अनुसार भगवान् भी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। मनुष्य सदा सोया नहीं रह सकता। जाग्रत् होना ही उसकी प्रकृति है—उसका स्वभाव है। इसी प्रकार सगुण होना और सगुण रहना भी निर्गुण ब्रह्म का स्वभाव है।

निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हुआ ? इसका उत्तर भी अनुमान से दिया जा सकता है। ब्रह्म चैतन्य है और चैतन्य के धर्म हैं ज्ञान तथा अनुभूति, और उसी की शक्ति का धर्म है क्रिया। इसी क्रिया, ज्ञान और अनुभूति के कारण वह सच्चिदानन्द कहाता है। अखण्ड शक्ति अथवा सत्ता, अखण्ड ज्ञान और

अखण्ड आनन्द ही को तो सच्चिदानन्द कहते हैं। चैतन्य के इसी सच्चिदानन्दत्व के कारण उसकी चित्शक्ति ऐसे रङ्ग-बिरंगे सत्य, शिव और सुन्दर ब्रह्माण्डों की सृष्टि करती चली जा रही है। विज्ञान का कथन है कि समस्त संसार एक आदि विद्युत्-शक्ति का घनीभूत विकार है। विद्युत् अणुओं (electrons) के घनीभूत होने ही से परमाणुओं (atoms) की सृष्टि होती है। और परमाणुओं के संयोग-वियोग ही से संसार के पदार्थ बनते-बिगड़ते हैं। चैतन्य की वह चित्शक्ति ही वैज्ञानिकों द्वारा वर्णित आदि विद्युत्शक्ति है। इसे ही हम माया कहते हैं। इस माया-शक्ति के सहारे ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है। स्मरण रहे कि यह शक्ति चैतन्य की शक्ति-मात्र है, चैतन्य नहीं। इसलिए स्वत: इस शक्ति में ज्ञातृत्व भोक्तृत्व इत्यादि कुछ नहीं है। यह अचेतन है, अन्धी है और ऐसा व्यवस्थित जगत् नहीं निर्माण कर सकती जब तक कि वह ब्रह्म इसमें जगत् के विचार (Idea या conception) रूपी बीज रोपित न करे। ब्रह्म में ज्योंही ब्रह्माण्ड-विषयक इच्छा (जिसे हम ध्यान अथवा विचार कह सकते हैं) उत्पन्न हुई कि झट यह शक्ति उस इच्छा की पूर्त्ति के लिए तत्पर हो गई। ध्यानयोग के सहारे कई मनुष्य भी अपने चैतन्य में ऐसी ही शक्ति प्राप्त कर लेते हैं और फिर जब वे किसी वस्तु का ध्यान करते हैं तो यह शक्ति वही वस्तु बनाकर प्रत्यक्ष में खड़ी कर देती है। अव्यक्त चैतन्य में जैसे ही कोई विचार उठा वैसे

ही यह उस चैतन्य की चित्शक्ति उस विचार को व्यक्त रूप प्रदान करने का प्रयत्न करने लगेगी। यह अकाट्य नियम है। अब, ब्रह्म सच्चिदानन्द है इसलिए सच्चिदानन्दत्व का विचार ही ऐसा है कि जिसके कारण सत्यम् (चित्), शिवम् (सत्) और सुन्दरम् (आनन्द) की अभिव्यक्ति माया द्वारा आप ही आप होने लगेगी और फिर वह अव्यक्त ब्रह्म हमको विराट् कलेवर धारण किये हुए परम सत्य, परम शिव (कल्याण) और परम सुन्दर रूप में दिखाई देने लगेगा। संसार के समग्र नियमोपनियम और ज्ञान-विज्ञान इसी सत्य के अंश हैं। संसार के सकल कर्तव्याकर्तव्य आवश्यक-अनावश्यक उपयोगी-अनुपयोगी विषय तथा कर्म-अकर्म और धर्माधर्म इसी शिव के अंश हैं। संसार के समग्र रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द तथा सुख-दुःख, आनन्द-शान्ति आदि इसी सुन्दर तत्व के अंश हैं। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म अपने रूप (सच्चिदानन्दत्व) के ध्यान मात्र से ही अपनी चित्शक्ति के कारण सत्य शिव सुन्दर होकर सगुण बन गया। योगनिद्रा में ही उसे आत्म-विस्मृति होती है (अर्थात् अपने रूप का सिसृक्षामय ध्यान नहीं रहता) तभी सम्पूर्ण विश्व का विलय होकर ब्रह्म केवल निर्गुण रह जाता है। अन्यथा वह सदैव सगुण रूप धारण किये हुए रहता है। अब, जिस प्रकार कुछ प्रज्वलित अग्नियों को देखकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि-मात्र की इयत्ता इतनी ही है क्योंकि अग्नि तो अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण विश्व में प्राप्त है उसी प्रकार

इन अनेक ब्रह्माण्डों को देखकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म की इयत्ता यहीं तक है। वह अव्यक्त भाव में न जाने कितना गहन है। इसलिए श्रुति में कहा है—"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"

यह कहा ही जा चुका है कि अव्यक्त ही से व्यक्त का उद्भव है और अव्यक्त ही में व्यक्त का विलय है। इसलिए जितने व्यक्त पदार्थ हैं (चाहे वे साकार हों जैसे हाथी, घोड़ा छड़ी, कुर्सी आदि; चाहे निराकार हों जैसे शब्द, सुगन्धि, उष्णता, विचार, करुणा आदि।) उन सबकी तीन अवस्थाएँ अवश्य होती हैं। वे अवस्थाएँ हैं सृष्टि, स्थिति और लय। प्रत्येक पदार्थ की इन तीन अवस्थाओं के समान सम्पूर्ण प्रकृति ही (जो ब्रह्म की व्यक्त शक्ति ही है) त्रिगुणात्मिका मानी गई है जिसका सतोगुण ही स्थिति है तमोगुण ही लय है और रजोगुण ही सृष्टि है। सत्य अथवा ज्ञान का विशेष सम्बन्ध सतोगुण से है। शिव अथवा कर्म का विशेष सम्बन्ध रजोगुण से है। और सुन्दर अथवा आनन्द या अनुभूति का विशेष सम्बन्ध तमोगुण से है। प्रकृति के इन्हीं तीनों गुणों से संसार के समस्त पदार्थ परिच्छिन्न हैं। चैतन्य पदार्थों में जहाँ ये तीनों गुण सत्, रज और तम के नाम से प्रख्यात हैं वहाँ जड़ पदार्थों में ये देश, काल और निमित्त कहे जा सकते हैं। समष्टि-स्थिति ही देश (space) है। समष्टिलय ही काल (time) है और समष्टि-सृष्टि ही निमित्त (causality)

या कार्य-कारण-शृंखला है। प्रत्येक पदार्थ देश काल और निमित्त से परिच्छिन्न और बँधा हुआ रहता है। जहाँ तक व्यक्त जगत् होगा तहाँ तक इन तीनों नियमों की सत्ता अवश्य रहेगी और इन्हीं नियमों के कारण हमें जगत् में इतनी व्यवस्था देख पड़ती है। हम बबूल के झाड़ से आम की आशा नहीं कर सकते। हम फूल से पहिले फल की आशा नहीं कर सकते। हम कलकत्ता और बम्बई को अपने ही घर के एक कोने में देखने की आशा नहीं कर सकते। यह सब देश, काल और निमित्त के नियम के ही कारण है। जब तक व्यक्त जगत् है तब तक इन नियमों की व्यवस्था भी अवश्य है। जब व्यक्त जगत् अव्यक्त अवस्था में चला गया तब तो बात ही दूसरी है। यही कारण है कि ब्रह्म स्वतन्त्र होते हुए भी उसके इस जगत् में हमको सदैव व्यवस्था के ही दर्शन होते हैं और कोई बात नियमविरुद्ध या अप्राकृतिक नहीं होने पाती। यदि हम किसी बात को अप्राकृतिक समझते हैं तो वह हमारी समझ की ही त्रुटि है। जो विषय आज हमें अप्राकृतिक जान पड़ता था (उदाहरणार्थ व्योमयान) वही कल सामान्य प्राकृतिक विषय जान पड़ने लगता है।

इस संसार में दो प्रकार की सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। एक तो जड़ और दूसरी चेतन। जिन पदार्थों में हमें जिज्ञासा, चिकीर्षा या अनुभूति का परिचय मिलता है उन्हें हम चेतन मानते हैं और शेष सबको जड़। ये सब पदार्थ उसी अखण्ड

चैतन्य की शक्ति से निर्मित हुए हैं। परन्तु जिन पदार्थों में उस शक्ति की गति अथवा विकास (कई कारणों से) बन्द हो जाता है उनमें चैतन्य का अंश समाप्त हो गया सा जान पड़ता है और वे ही पदार्थ जड़ कहाते हैं। बढ़ते हुए वृक्ष की शाखा को काटकर यदि हम पड़ो रहने दें तो उसका विकास रुक जायगा—उसको वृद्धि प्रदान करनेवाली शक्ति की गति बन्द हो जायगी और फिर वह लकड़ी जड़ हो जावेगी। मनुष्य का यदि हम गला काट दें तो उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग में सहयोगिता स्थापित करनेवाली शक्ति की गति रुक जावेगी और वह शरीर मृत होकर जड़ बन जावेगा। जगत् के इसी चेतन अंश को परा प्रकृति और अचेतन अंश को अपरा प्रकृति कहा है। इसी चेतन अंश को आत्मा भी कहा गया है और गीता इत्यादि में इसी को जीव भी कहा गया है। यह चेतन अंश उस अखण्ड चैतन्य का एक अंश-मात्र ही है इसी लिए उस अखण्ड चैतन्य को चिदाकाश और इस चेतन अंश को चिन्मात्र कहा है, उसे परमात्मा तो इसे केवल आत्मा कहा है, उसे ईश्वर या भगवान् तो इसे केवल जीव कहा है। परन्तु यह अंश भी कोई सामान्य अंश नहीं। संसार के क्षुद्र कृमि-कीट से लेकर अनेकों लक्ष योनियों के सब प्राणी इसी के सहारे अनेकों प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए अपना जीवन-यापन करते हैं। इसी के कारण कोटानुकोटि प्राणी अब तक उत्पन्न हुए और उत्पन्न होते जावेंगे। इस आत्मा

का साक्षात्कार कर लेना ही प्राणियों का चरम लक्ष्य माना गया है। ऐसे आत्म-साक्षात्कार से ब्रह्म-साक्षात्कार आप ही हो जाता है क्योंकि आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। दोनों ही चैतन्य हैं। यदि अन्तर समझिए तो केवल इतना ही कि आत्मा ब्रह्म का अंश है। "ईश्वरअंश जीव अविनाशी।"

कहना न होगा कि यह आत्मा (जिसे गीता इत्यादि में जीव कहा गया है) केवल एक है; अनादि है (सृष्टि के अनादि प्रवाह के कारण); अविनाशी है (सृष्टि के अनन्त प्रवाह के कारण); अमल है (किसी ख़ास वासनामय शरीर में बद्ध न रहने के कारण) इत्यादि इत्यादि। राम और श्याम आपस में लड़ते-झगड़ते हों परन्तु उससे इस आत्म-सत्ता में कोई विकार नहीं होता क्योंकि वह दोनों की शक्तियों का आश्रय है। राम श्याम का सिर काट लेता है परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता। यदि एक स्थान की आग बुझ गई तो यह तो माना ही नहीं जा सकता कि अग्नि-तत्व ही का नाश हो गया। इसी तरह यदि एक प्राणी मर गया तो उससे आत्म-तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। अनेक घड़ों में एक सूर्य का प्रकाश पड़ता है। यदि एक घड़ा फूट गया तो उससे सूर्य का क्या बना-बिगड़ा? यदि प्रज्वलित अग्नियों में कुछ विकार जान पड़ता है तो वह ईंधन के कारण। यदि घड़ों के प्रकाश में कुछ हिलना-डुलना

होता है तो जल की गति के कारण। अग्नि और सूर्य तो निर्लेप और निर्विकार हैं। इसी प्रकार उपाधि-भेद ही के कारण एक आत्मा अनेक विभिन्नताओं और परिच्छिन्नताओंवाला जान पड़ता है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वास्तव में न वह बंद्ध है और न दुखी।' वह तो एकदम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है। उसी के सहारे मानव-शरीर के प्रत्येक कीटाणु जीवित रहते हैं, उसी के सहारे वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ और पत्ते-पत्ते तक जीवित रहते हैं और अवसर आने पर एक-एक पत्ते से एक-एक झाड़ पैदा हो जाता है। उसी के सहारे असंख्य कीट-पतङ्ग पैदा होकर विलीन हुआ करते हैं। उसी के सहारे प्राकृतिक नियमों के अनुसार सृष्टि का सम्भव हुआ करता है और जब किसी योनि का कोई व्यक्ति प्राकृतिक नियमों के अनुसार, उसकी शक्ति ग्रहण किये रखने का सामर्थ्य नहीं रखता—उदाहरणार्थ मर्माङ्ग-भङ्ग के कारण, सांघातिक रोग के कारण अथवा अत्यन्त जरा-जीर्णता के कारण—तब उस व्यक्ति का मरण, नाश अथवा विलय हो जाता है। उसका शरीर जड़ होकर प्राकृतिक नियमों के अधीन हो जाता है।

तब क्या फिर प्राणियों में शरीर के अतिरिक्त और कोई **व्यक्तिगत** अथवा विशिष्ट या विभिन्न सत्ता नहीं है? प्रसिद्ध आचार्यों ने इसका उत्तर "अस्ति" ही में दिया है। प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध प्राणी की अवश्य ही एक व्यक्तिगत सत्ता रहा करती है जो उसके शरीर के साथ ही नाश न होकर कुछ

चिरस्थायी सी रहती है। इसे ही आचार्य लोगों ने चिदाभास कहा है और अधिकांश लोगों ने इसे ही **जीव** कहा है और चिन्मात्र को जीव न कहकर आत्मा ही के नाम से सम्बोधित किया है जिससे कि चिन्मात्र और चिदाभास का अन्तर सदैव मालूम होता रहे। आत्मा एक है, अनादि है, अनन्त है, अमल है, निर्लेप है, सर्वज्ञ है, सुखराशि है, अकर्त्ता है, इत्यादि; परन्तु चिदाभास अथवा जीव अनेक हैं, परिच्छिन्न हैं, कर्म-परतन्त्र हैं, सुखेच्छु हैं, अणु हैं और आदि अन्त वाले भी हैं। आत्मा और जीव का यह अर्थ भली भाँति समझ रखना चाहिए (अनेक स्थलों पर—जैसा कि ऊपर कहा गया है–आत्मा को ही जीव कह दिया गया है इसी लिए समझने में गड़बड़ हो जाया करती है)। ममत्वभावना—अपनेपन का ज्ञान अथवा अहङ्कार-वासना—ही जीव की उत्पत्ति का कारण है। प्राणि-मात्र तो आत्मा के प्रभाव से ही जीवित रहते हैं परन्तु यदि उनमें अपनेपन का भाव नहीं है अर्थात् यदि उनमें मनोमय कोष आदि का विकास नहीं हुआ है तो यह मानना होगा कि वे जीवित अर्थात् चैतन्य होते हुए भी जीवहीन अर्थात् विशिष्ट-चैतन्य-सत्ता-हीन हैं। अनेक कृमि-कीटाणु इसी प्रकार के हैं। वे जब तक जिये तब तक जिये। बाद उसी एक सत्ता में लीन हो गये। शेष कहीं कुछ न रहा। "मैं हूँ" ऐसा बोध ही व्यक्तित्व के विचारों की सृष्टि करके एक व्यक्तित्वमयी सत्ता का ही निर्माण कर देता है। इसी सत्ता को जीव कहते हैं। जिस प्राणी

में व्यक्तित्व की भावना जितनी प्रबल होगी उसका जीव भी उतना ही स्पष्ट होगा। चेतन सत्ता में उठे हुए विचार निरर्थक नहीं जा सकते। उनका व्यक्तित्व अवश्य होकर ही रहेगा बशर्ते कि उन विचारों में ध्यान की एकाग्रता की मात्रा पर्याप्त रूप में हो। इसी लिए जब आत्मा के प्रभाव से एक प्राणी अपने उस व्यक्तित्ववान् शरीर में अपने स्वतन्त्र और सङ्कीर्ण व्यक्तित्व का ध्यान करता रहता है तब उसके उसी ध्यान के कारण उसका स्वतन्त्र जीव बन जाता है जो अभौतिक होने के कारण शरीर के सङ्ग नष्ट नहीं होता और तब तक अपना विभिन्न अस्तित्व बनाये रखता है जब तक अहङ्कार की वासना उससे दूर नहीं होती। इसी अहङ्कार के कारण उसका अस्तित्व है और इसी अहङ्कार के विगलन में उसका मोक्ष है। आत्मा एक है, विभु है, सुख-रूप है परन्तु शरीर-संयोग से विभिन्नता-मय, सङ्कीर्णतामय और वासनामय विचार उठा करते हैं। शरीर-संयोग से ऐसे विचार उठने ही का नाम अनादिकालीन अज्ञान है और इसी अज्ञान के संयोग से जीवों की उत्पत्ति, इसी के अस्तित्व तक उनकी स्थिति और इसी के नाश होने पर उनका लय अथवा निर्वाण होता है। आत्मा ही के कारण प्रत्येक प्राणी सत् चित् आनन्द बनना चाहते हैं परन्तु यदि वे अपना जीव-भाव बनाये रखकर ही (अर्थात् अपना विभिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखकर ही) सच्चि-दानन्द बनना चाहेंगे तो कदापि न बन सकेंगे। जब तक वे

अपने जीव-भाव को अथवा अहङ्कार-वासना को न त्यागेंगे तब तक आत्म-साक्षात्कार भली भाँति नहीं हो सकता। इसी अभीष्ट उपलब्धि के लिए आचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के मार्ग बताये हैं। जीवों का यह विज्ञान सम्यक् प्रकार से समझ रखना चाहिए नहीं तो आत्मा और जीव के अर्थों में गोलमाल कर देने से यह क्लिष्ट विषय और भी दुरूह हो जाता है। जीव अनेक हैं और अनन्त हैं क्योंकि वे सबके सब अनादि नहीं। वे बनते गये हैं और बनते जाते हैं तथा ऐसे ही बनते चले जायँगे। वे सान्त भी हैं क्योंकि आत्म-साक्षात्कार होने पर उनका लय अथवा निर्वाण भी हो जाता है। जो जीव को सूक्ष्म शरीर, चिदाभास और चिन्मात्र का संयुक्त रूप मानते हैं वे कह सकते हैं कि जीव एक दृष्टि से नाशवान् है और एक दृष्टि से अविनाशी है। परन्तु ऐसा कहना मानों विषय को और दुरूह बना डालना है।

अहङ्कार की वासना ही से जीव में अपनेपन और आसक्ति की मात्रा बढ़ती है और इसी आसक्ति के कारण उसे कर्म और कर्म-संस्कार-रूपी अटल नियम के बन्धन से बँधना पड़ता है और इसी बन्धन के कारण उसे "पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्" का भार भी सँभालना पड़ता है। जीव के इस जन्म-मरण का चक्र मनुष्य-योनि में विशेष रूप से दृष्टि-गोचर होता है। मरने के बाद प्रेत रूप में अस्तित्व और पैदा होने के बाद पूर्वजन्म की बातों का वर्णन आदि विषयों

के ऐसे अकाट्य प्रमाण मिलते जा रहे हैं जिससे इस विषय में अब शङ्का का स्थान ही नहीं रह गया। यद्यपि यह अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सका है कि गर्भाधान के अवसर पर ठीक किस समय जीव का प्रवेश गर्भ में होता है और मृत्यु के उपरान्त कितने समय तक मनुष्य को दूसरा शरीर नहीं मिलता, परन्तु फिर भी प्रमाण और अनुमान से यह जाना जाता है कि स्त्री और पुरुष के संयोग के समय अदृष्ट की प्रेरणा से जीव पुरुष के वीर्य-कणों का आश्रय लेकर स्त्री के उदर में गर्भ-रूप से प्रवेश करता है। भागवत का "स्त्रियाः प्रविष्ट उदरे पुंसो रेतःकणाश्रयः" इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है। मृत्यु के उपरांत भी जीव को तुरन्त ही दूसरा शरीर नहीं मिल जाता। अपनी वासनाओं के अनुसार वह प्रेतयोनि में रहकर कुछ दुःख सुख का अनुभव करता है और फिर अदृष्ट की प्रेरणा से अपने कर्मों के अनुसार नवीन शरीर प्राप्त करता है। इस प्रेत-योनि में जीवों को कितनी अवधि तक रहना पड़ता है तथा इस योनि के जीवों का निवासस्थान कहाँ है, इस विषय पर प्रकाश डालना इस लेख का उद्देश्य नहीं।

उपनिषदों में अग्नि का रूपक देते हुए जो कहा गया है कि जैसे अग्नि के स्फुलिङ्ग उसी से प्रकट होकर उसी में लीन हो जाते हैं वैसे ही जीव लोग भी चैतन्य से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। इससे उपर्युक्त कथन भली भाँति पुष्ट होता है। आत्मा से जीवों की उत्पत्ति वैसी ही है जैसे अग्नि से

चिनगारियों की उत्पत्ति और उसमें जीवों का लय भी चिनगारियों ही के समान है। हम एक स्फुलिङ्ग का विकास करते-करते उसे एक बड़ी आग के रूप में देख सकते हैं परन्तु वह समष्टि अग्नि का रूप नहीं बन सकता और ठीक उसके ही समान दूसरा स्फुलिङ्ग भी वैसा ही विकसित होकर उसको परास्त कर सकता है। इसी प्रकार एक परिच्छिन्न जीव ने विज्ञान इत्यादि के बल से अपनी शक्तियों को विकसित करके अपनी क्षुद्र सत्ता को कुछ बढ़ा भी लिया तो भी इससे उसको परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। रावण के समान बढ़कर अन्त में उसे नैराश्य के सागर में डूबना ही होगा। असल में तो जीवों का कोरा विकास ही नहीं बल्कि आत्मा में उनका लय भी अभीष्ट है। आत्मा को अँगरेज़ी में higher self और जीव को lower self कह सकते हैं। Lower self (जीव) को higher self (आत्मा) में लय कर देना ही प्राणि-मात्र के लिए एकान्त अभीष्ट है। शान्ति और आनन्द का महासागर तो हमारे चारों ओर लहरें मार रहा है। हम जीव का आवरण चारों ओर ढँककर व्यर्थ ही शान्ति और आनन्द की खोज में भटक रहे हैं। हमें चाहिए कि हम यह आवरण दूर कर दें, बस शान्ति और आनन्द में डुबकियाँ आप ही लगने लगेंगी।

इस जगत् में जड़ पदार्थ सार नहीं। यदि कोई सार है तो यही आत्मा। और इसे ही साक्षात् करने के लिए हमें

अपने जीवों का ज्ञान प्राप्त कर लेने की आवश्यकता है। इसी के ज्ञान से हमें विदित होगा कि हम कौन हैं, हमारा लक्ष्य क्या है और वह लक्ष्य हमें कैसे प्राप्त हो सकता है। यही सब ज्ञानों का ज्ञान है और इसे ही सबसे पहिले सिद्ध करना चाहिए। इसी एक के साधने से सब सध जावेगा और नहीं तो इसे छोड़कर सब ओर भटकने से भटकते रहने ही का बड़ा अन्देशा है। "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।"

परिशिष्ट (ख)

भक्ति

जीवों की उत्क्रान्ति के लिए यह एक परम रमणीय तथा सर्वसुलभ साधन है परन्तु धर्मों के इतने विभेद और विरोध की भी जड़ एक प्रकार से यही है। इसलिए यह आवश्यक है कि इसका रूप अच्छी तरह समझ लिया जाय।

इस ग्रन्थ में विश्व के मूल तत्व का जो दार्शनिक विवेचन किया गया है उससे इतना तो विदित ही हो गया होगा कि यह सम्पूर्ण विश्व एक अखण्ड चैतन्य की लीला का विलास है और सब जीवों की उत्पत्ति उसी से होकर सबका लय भी उसी में होता है। इसलिए यह भी निश्चित ही है कि प्रत्येक जीव का आदर्श वही अखण्ड चैतन्य है; चाहे उसे हम ब्रह्म कहें चाहे भगवान् और चाहे सच्चिदानन्द अथवा चाहे हम उसे ख़ुदा, गॉड आलमाइटी, तथागत या और किसी नाम से क्यों न पुकारें। उसी ध्येय अथवा आदर्श की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति के तीन मार्ग कहे गये हैं।

इन तीनों मार्गों में ज्ञान का ही अंश सर्वश्रेष्ठ है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"। यदि किसी को अपने आदर्श का ज्ञान ही न होगा तो वह उसके लिए चेष्टा ही क्यों करेगा और

उसकी उपलब्धि भी कैसे कर सकेगा ? जिस मूर्ख को चिन्ता-मणि की कल्पना ही नहीं है वह उसके लिए कभी चेष्टा ही न करेगा और यदि वह कहीं अनायास मिल भी गया तो वह उसे फेंक देगा। यदि सञ्चित भी करेगा तो काँच या चमकीला गोटा समझकर। इसलिए यह तो निश्चित ही है कि ज्ञान के बिना आदर्श की उपलब्धि अथवा मोक्ष एकदम असम्भव है। इसी लिए वेदान्त इत्यादि में ज्ञान की इतनी महिमा गाई गई है और गीता में भी कहा गया है कि "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" अर्थात् ज्ञान से बढ़कर दूसरी पवित्र वस्तु इस संसार में नहीं है। परन्तु आदर्श-विषयक यह ज्ञान क्या सर्वसुलभ हो सकता है ? बुद्धि की सूक्ष्मता मस्तिष्क की बनावट और मनुष्य के प्रयत्न पर निर्भर रहती है। इतना सब होते हुए भी हमारे विचार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का आसरा लेकर ही आगे बढ़ते हैं। हमारा आदर्श पूर्णत्व तो इन सबसे अत्यन्त चरम श्रेणी का है जो "मन वाणी को अगम अगोचर" कहाता है। वहाँ तक बुद्धि का भली भाँति पहुँच जाना तो विरले ही किसी भाग्यवान् को सुलभ हो सकता है। तर्कशास्त्र (न्याय दर्शन) के द्वारा अपनी विचार-धारा शुद्ध करके बुद्धि परमाणुवाद (वैशेषिक दर्शन) के तत्त्व हो सुलभ कर सकती है। यदि बुद्धि विशेष प्रखर रही तभी प्रकृति और पुरुष (सांख्य दर्शन) के कुछ रहस्य समझ में आते हैं। यदि एकत्व का पता पाना हो तो योगक्रिया (योग दर्शन)

द्वारा मस्तिष्क को विशुद्ध करके बुद्धि में असाधारणता लाना पड़ता है। और फिर भी, असाधारण होकर भी, बुद्धि विश्व-ब्रह्माण्ड के व्यापक नियम का कर्म-रहस्य (पूर्वमीमांसा दर्शन) देखकर उसे ही सब कुछ मान बैठती है और उस नियामक निर्लेप अखण्ड चैतन्य (उत्तरमीमांसा या वेदान्त) का पता तो बहुत ही कम लोग पा सकते हैं। [भारत के छः दर्शन शास्त्रों का तारतम्य इसी प्रकार का है। वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि सहायक हैं। उनका विरोध केवल दिखाऊ है, वास्तविक नहीं। वे ज्ञान की भूमिकाओं अथवा सीढ़ियों के समान हैं।] इतना होते हुए भी जिन लोगों ने पता पाया वे भी कह बैठे—"अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्" (अर्थात् जो समझे कि मैंने उसे जान लिया समझना चाहिए कि उसने बिलकुल नहीं जाना और जो कहता है कि मैंने उसे पूर्णतः नहीं पहिचाना वही उसे जान गया है ऐसा समझना चाहिए)। तब फिर ऐसी स्थिति में आदर्श की प्राप्ति कैसे हो सकती है? वह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तो अनेक जन्म धारण करने पर भी कठिनता से ही मिलता है। करोड़ों में एक-आध ही उस ज्ञान को पा सकता होगा। उसकी साधना में आहार-विहार का संयम करो, संस्कारों का परिमार्जन करो, योगाभ्यास से असाधारणता की उत्पत्ति करो, हिमालय की कन्दराओं सरीखे स्थल ढूँढ़ो, और इतना होने पर भी यदि कहीं मार्ग चूका तो फिर या तो ब्रह्म को मरीचिका मानकर रावण या हिरण्य-कशिपु के समान

आसुरी संस्कृतिवान् बनना पड़ता है या विश्वामित्र, परशुराम आदि के समान क्रोध-मूर्ति और जगत्-संहारक होना पड़ता है, अथवा बुद्धि का विभ्रम हो जाने से एकदम विक्षिप्त या निराशावादी ही बनना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सामान्य बुद्धिवाले मनुष्यों की क्या गति होगी ? क्या वे उस आदर्श पूर्णत्व की उपलब्धि इस असिधार मार्ग पर चले बिना किसी प्रकार नहीं कर सकते ? जिस मार्ग से बड़े-बड़े सूक्ष्म-दर्शी महर्षि भी सफलता नहीं पा सके उसी मार्ग से सामान्य जीव किस प्रकार सफलता पा सकेंगे ? यदि इस मार्ग के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही न हो तब तो सामान्य जीवों के लिए बड़ी ही निराशा का अवसर उपस्थित हो जायगा। संसार से तरने की आशा केवल दुराशामात्र ही होगी। इस पाप-ताप-परिपूर्ण संसार-सागर में अनेकानेक धक्के खाते हुए मनुष्य समाज अवलम्बन-विहीन होकर असहाय और भग्न-हृदय ही हो जायगा। इस बात की कल्पना भी एकदम रोमांचकारिणी है।

जो अखण्ड चैतन्य सत्, चित् और आनन्द है—सत्य, शिव और सुन्दर है--उसके लीला-विलास इस संसार में मनुष्य-समाज के भविष्य की ऐसी निराशामय कल्पना करना कदापि उपयुक्त नहीं है। 'तर्क' यदि विकसित मस्तिष्कवाले मनुष्यों ही को सुलभ है तो 'विश्वास' पर तो सभी मनुष्यों का समान अधिकार रह सकता है। तर्क द्वारा आदर्श-ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग सर्व साधारण के लिए भले ही खुला हुआ न हो परन्तु विश्वास

द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग सबके लिए सर्वत्र सभी अवस्था में समान रूप से सुलभ है। तर्क (reason) से जो विषय दुरूह हो विश्वास (faith) से वही विषय एकदम सुलभ हो सकता है। इसी लिए तर्क-प्रधान मार्ग अथवा **ज्ञान-मार्ग** केवल कुछ ही उन्नत जीवों के लिए रख दिया गया है और सर्व साधारण के कल्याण के लिए विश्वास-प्रधान मार्ग अथवा **भक्ति-मार्ग** की अवतारणा की गई है।

इस संसार में हम लोग मानव समाज की सञ्चित ज्ञान-राशि ही का तो पद-पद पर लाभ उठाया करते हैं। प्राणि-शास्त्र का विद्यार्थी विकास सिद्धान्त ग्रहण करने के पहिले क्या अब भी, डारविन के समान, प्राणियों के शरीर की परीक्षाएँ करता फिरता है अथवा सुयोग्य इंजिनियर क्या अब भी पुल बनाने के पहिले मकड़ी की जाल-निर्माण-प्रक्रिया के निरीक्षण का इच्छुक रहता है? यदि वह अब भी ऐसा ही करे तो न तो उसकी ही उन्नति होगी और न संसार ही को उससे कुछ लाभ होगा। प्राणि-शास्त्र का विद्यार्थी तो विकास सिद्धान्त को मानते हुए आगे बढ़ेगा और इंजिनियर भी पुल-निर्माण-प्रक्रिया का अध्ययन ग्रन्थों से करके उन्हीं के अनुसार अपने कार्य में प्रवृत्त हो जायगा और दूसरों के अनुभवों से इस प्रकार लाभ उठाता हुआ अपना कार्य थोड़े ही समय में सरलतापूर्वक सुचारु रूप से सम्पादित कर चुकेगा। जो हाल इन सामान्य ज्ञान-राशि के सिद्धान्तों का है वही हाल

आदर्श पूर्णत्व विषयक चरम-सिद्धान्त का है। सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता महर्षियों ने वर्षों की और जन्मों की विशाल चिन्ता के बाद जिस गहन तत्त्व का पता पाकर जगत् को अपना अमूल्य संदेश सुनाया है उस पर विश्वास न करके जो मनुष्य उस मार्ग की अ आ इ ई प्रारंभ करना चाहता है उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। प्रत्येक धर्म ही में आदर्श पर विश्वास करने की आज्ञा दी गई है। जो मनुष्य धार्मिक शिक्षा से रहित है वह विश्वास के संस्कारों से भी विरहित है और जिसमें विश्वास के संस्कार नहीं उसका जीवन बड़ा ही दयनीय समझना चाहिए क्योंकि वह प्रारब्ध के धक्के खाकर इस जीवन में कभी आस्तिक कभी नास्तिक कभी देव कभी दानव कभी कुछ और कभी कुछ होता हुआ सन्नि-पात-ग्रस्त मनुष्य के समान अपना जीवन नष्ट कर देता है। उसमें इतनी बुद्धि शक्ति कहाँ कि वह उस पूर्ण तत्त्व का पता पा सके। इसलिए इस भ्रान्ति के अतिरिक्त उसे और मिल ही क्या सकता है? जिसने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की है उसके मन में उसका आदर्श अथवा "भगवान्" संस्कारों के रूप में बचपन से ही अंकित हो जाता है और वे संस्कार प्रबल आघात सहकर भी कठिनता ही से मिट सकते हैं। जिस समय मन का जहाज़ वासनाओं और दुराशाओं के तरङ्गाकुल महा-र्णव में डाँवाडोल हो उठता है उस समय वे ही संस्कार अटल प्रकाश-गृह (lighthouse) का काम देकर सन्मार्ग का

ही से विकसित नहीं रहती। बालकों में स्मृति और कल्पना शक्ति का विकास पहिले होता है फिर तर्क का। इसलिए धार्मिक शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में भी अन्ध विश्वास की शिक्षा पहिले दी जाती है और वह शिक्षा भी ऐसी जिसमें कल्पना की क्रीड़ा के लिए रूप और गुणों की पर्याप्त मात्रा रहती है। कोई उस आदर्श को चतुर्भुजी मूर्ति न्याय, दया, औदार्य इत्यादि गुणवाला मानकर "विष्णु" नाम से सम्बोधित करता है कोई उसे अमूर्त विशाल और जगत्-पिता मानकर "ख़ुदा" नाम से सम्बोधित करता है, कोई उसे आदर्श मनुष्य और दयाधाम मानकर "तथागत बुद्ध" नाम से सम्बोधित करता है। अपनी-अपनी कल्पना और योग्यता के अनुसार सभी कोई ऐसे अन्ध विश्वास की शिक्षा देते हैं। परंतु जो मनुष्य क्रमशः इसी विश्वास को तर्क की कसौटी पर कस-कसकर यह समझ लेता है कि उसी एक आदर्श तत्त्व को पृथक् धर्मवाले पृथक् भाव से पृथक् ढंग पर अनुभव-गम्य करने की चेष्टा कर रहे हैं वही मनुष्य सच्चा विश्वासी कहा जा सकता है। उसी का विश्वास तर्क-पूर्ण होकर ज्ञान की कोटि में पहुँच जाता है और वही मनुष्य सभी धर्मों को संग्राह्य समझकर किसी से राग-द्वेष नहीं रखता। जो कोरे अन्ध विश्वासी हैं वे धार्मिक आदर्शों में ऐसा विरोध पाकर अवश्य ही राग-द्वेष में प्रवृत्त होकर धार्मिक संग्राम कर बैठते हैं। देवी, गणेश, विष्णु, महेश, ख़ुदा, ऑलमाइटी इत्यादि

की बड़ाई छुटाई पर लड़ मरना केवल इसी अन्ध विश्वास के कारण है। न स्वर्ग केवल ईसाइयों के लिए है, न मुसलमानों के लिए और न हिन्दुओं के लिए। जो कोई अपने यथार्थ आदर्श की उपलब्धि में अग्रसर होगा उसी के लिए स्वर्ग का द्वार खुला हुआ मिलेगा। चाहे वह किसी धर्म अथवा मज़हब का क्यों न हो।

यद्यपि अन्ध विश्वास में संकीर्णता आती है और इस-लिए वह वाञ्छनीय नहीं परंतु अविश्वासी बने रहने की अपेक्षा अन्ध विश्वासी होना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। श्रद्धा और विश्वास ही हमारे ध्यान को हमारे आदर्श पर सुदृढ़ कर देते हैं। अविश्वासी का ध्यान कभी स्थिर नहीं हो सकता। "संशयात्मा विनश्यति"। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि ध्यान योग के सहारे हमारे विचार प्रत्यक्ष अथवा फलीभूत हो सकते हैं। इसी बात को लेकर ही "विश्वासः फलदायकः" अथवा "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" कहा गया है। इसी लिए अपने-अपने आदर्श अथवा ईश्वर पर अटल विश्वास रखना ही धर्म की पहिली शिक्षा है। चाहे वह विश्वास अंधविश्वास ही क्यों न हो। और इसलिए धार्मिक विरोध का ऐसा हाल देखते हुए भी धर्माचार्यों ने जन साधारण में इस अंधविश्वास का अस्तित्व बनाये रखना ही उचित समझा है। फिर भी जैसे वैज्ञानिक लोग पूर्वाचार्यों के ध्रुव सिद्धान्त मानते हुए भी उन्हें प्रयोग और तर्क की कसौटी पर कस लिया करते हैं उसी प्रकार

अन्ध विश्वासियों को भी ऐसा ही करते रहना चाहिए और सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करने में हिचकना न चाहिए। समय की प्रगति के अनुसार धार्मिक विचारों की रूढ़ियों में भी परिवर्तन होना अवश्यंभावी रहता है। आज-कल जब कि शहरों में गृहव्यवस्था जटिल होती जा रही है यदि कोई मुसलमान पश्चिम की ओर पैर न करने का और कोई हिन्दू गङ्गा की ओर पैर न करने का आग्रह करना चाहे तो लोग उसकी हँसी ही उड़ावेंगे।

आदर्शपूर्णत्व (परमात्मा या भगवान्) पर श्रद्धा और विश्वास रखना ही भक्तिमार्ग का प्रधान विषय है। जब तक उस पर विश्वास न होगा तब तक उस पर श्रद्धा और भक्ति (श्रेष्ठ अनुरक्ति) ही न हो सकेगी। अब, यह विश्वास भी तभी स्थिर होगा जब उस विषय की कुछ न कुछ कल्पना हमारे मन में हो। जो अदृष्ट अश्रुत अविज्ञात कल्पनातीत है उस पर विश्वास ही क्या होगा और उसकी उपासना ही कैसे बनेगी। उस विषय की कल्पना दो प्रकार की होती है—एक अव्यक्त और दूसरी व्यक्त। जो उसे कूटस्थ अचल ध्रुव निर्गुण निराकार अपरिमेय इत्यादि मानकर उसकी उपासना करते हैं वे अव्यक्त भाव के उपासक हैं। जो उसे मधुर मूर्तिमान् या इसी प्रकार का मानकर उसकी उपासना करते हैं वे व्यक्त भाव के उपासक हैं। अव्यक्त भाव की उपासना ज्ञान-प्रधान है और जैसे ज्ञानमार्ग बड़ा जटिल है वैसे ही यह उपासना भी बड़ी क्लिष्ट और दुर्बोध है।

भक्तिमार्ग में अव्यक्तरूप की कल्पना की आवश्यकता ही क्या है। जो मनुष्य अव्यक्त की कल्पना करके उस पर मन स्थिर रख सकता है उसके लिए तो ज्ञान-मार्ग ही अधिक उपयुक्त है। सामान्य मनुष्यों का ध्यान तो वहीं स्थिर रह सकता है जहाँ इन्द्रिय-गम्य विषय--रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द का समावेश हो। अतीन्द्रिय विषयों में तो उनके मन को आलम्बन मिलना ही कठिन हो जाता है। "अविगत गति कछु कहत न आवै। × × रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकित धावै। × × सब विधि सुगम विचारिहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै"। सामान्य मनुष्य तो चतुर्भुजी मनोहारिणी मधुर मूर्ति की ओर जो अनुराग दिखावेंगे वह निर्गुण ब्रह्म की ओर कभी नहीं दिखा सकते। गीता में भी कहा है "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसां। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।"

भगवान् की व्यक्त कल्पना भी तीन प्रकार की है। एक तो विराट् कल्पना, दूसरे अस्फुट कल्पना और तीसरे मूर्त कल्पना। **विराट् कल्पना** में मनुष्य भगवान् (या आदर्श-पूर्णत्व) का कोई विशिष्ट रूप नहीं मानता। वह "जिस ओर देखता हूँ उस ओर तू ही तू है" की ध्वनि लगाता हुआ नदी, पहाड़, बादल, तारे, फल, फूल, जीव, जन्तु सबमें भगवान् की सत्ता का अनुभव करने का प्रयत्न करता है। जगत् को उसी लीला-सागर की लीला का विलास मानने का प्रयत्न करता है। **अस्फुट कल्पना** में मनुष्य भगवान् की विराट् कल्पना भी

नहीं करता और उनकी मूर्त्त कल्पना भी नहीं करता। उन्हें जगत् से भिन्न मानते हुए भी उनका कोई विशिष्ट रूप नहीं मानता। उन्हें एक विशाल ज्योति, अथवा समुद्रवत् अनन्त गाम्भीर्य, अमृत वर्षा, मधुर नाद या इसी प्रकार का कोई अस्फुट रूपवान् मानकर उनकी उपासना में रत रहता है। लययोगी, राजयोगी, बहुत से मुसलमान या क्रिस्तान इसी प्रकार की कल्पना में ध्यान जमाते हैं। अव्यक्त कल्पनावाले भी अज्ञात भाव से इसी अस्फुट कल्पना की श्रेणी में आ जाते हैं और इस प्रकार वे प्रयत्न करने पर भी व्यक्त उपासना के बाहर नहीं जा सकते। **मूर्त्त कल्पना** में मनुष्य भगवान् को विशिष्ट मूर्तिमान् मानकर उनकी उपासना करता है। इसके भी तीन भेद हैं—१ मनुष्येतर रूप-कल्पना, २ विशिष्ट मनुष्य-रूपकल्पना और ३ सामान्य मनुष्य-रूप-कल्पना। भगवान् को कछुवा, मछली, शेर, मगर, गिद्ध इत्यादि के रूप में स्मरण करना 'मनुष्येतर रूप-कल्पना' के अन्तर्गत है जैसा भारतीयों में और अन्य प्राचीन जातियों में प्रचलित है। भगवान् को मनुष्य ही के समान किन्तु 'चार भुजावाले, तीन नेत्रवाले, चार सिरवाले' इत्यादि ढंगों से कल्पना करना द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत है। और भगवान् की कल्पना राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा मसीह, सद्गुरु इत्यादि सामान्य मनुष्य रूप में करना तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत है। इन सब कल्पनाओं में उसी कल्पना की ओर मन पहिले झुकेगा जो प्रत्यक्ष से बहुत अधिक मिलती-

जुलती हो। इसी लिए हम नर-रूपधारी भगवान् की ओर अधिक आकृष्ट होंगे क्योंकि वह रूप हम सदैव देखा करते हैं और इसलिए वह हमारे लिए एकदम प्रत्यक्ष रहता है। अब संसार के सब पदार्थों के लिए उस पदार्थ-विषयक विशिष्ट-भावना हमारे मन में रहती है इसलिए उसको भगवान् समझने में ज़रा कठिनता ही होती है। हम सूरज को सूरज ही समझते आये हैं इसलिए उस रूप को जगत्-पिता परमात्मा का रूप मानने में ज़रा अड़चन ही होगी। इसी प्रकार सद्-गुरु या ईसा मसीह को हम अगर मनुष्य ही मानते आये हैं तो उस रूप को ईश्वरीय रूप मानना भी कठिन ही होगा। इसी लिए मानव रूप से कुछ विभिन्नता दिखाते हुए ईश्वर की चतुर्भुजी मूर्ति इत्यादि की कल्पना कर ली गई है। और आचार्यों ने ऐसे ही रूप के ध्यान को प्रशस्त माना है।

भगवान् की ये सब कल्पनाएँ केवल इसी उद्देश्य से की जाती हैं कि जिसमें उस पर हमारा विश्वास और हमारी श्रद्धा स्थिर रह सके—हमारा ध्यान बराबर जमाया जा सके—और उसका ज्ञान हममें भली भाँति अङ्कित होकर उसकी उपलब्धि हो जाय। ध्यान भी तभी भली भाँति जमता है जब सामान्य ज्ञान के साथ ही साथ भाव की भी सम्यक् उपलब्धि हो। यदि कल्पना के साथ ही साथ मस्ती न आई तो वह कोरी कल्पना किस काम की। इसी लिए ध्यान की स्थिरता और दृढ़ता के उद्देश्य से तथा भाव के विकास के उद्देश्य से भक्ति-

मार्ग के आचार्यों ने केवल इन्हीं मानसिक कल्पनाओं तक पहुँचकर विश्राम नहीं किया है बल्कि इसके भी बहुत आगे तक बढ़ गये हैं। चञ्चल मन की अस्थिर कल्पना को दृढ़ करने के लिए इन्होंने पत्थर लकड़ी धातु इत्यादि की मूर्त्तियों का निर्माण किया है जो बाहरी आधार का काम दे रही हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का योग मिलाने के लिए उन्होंने मूर्ति की षोड़शोपचार पूजा का विधान किया है जिसमें अर्घ्य, आरती, फूल, चरणामृत, घण्टी, स्तुतिपाठ इत्यादि सब सम्मिलित हैं। हृदय के आकर्षण और भाव के दृढ़ करने के इन साधनों के अतिरिक्त उन्होंने सम्पूर्ण प्रधान ललित कलाओं का भी सहारा ग्रहण किया है और मन्दिरों और उत्सवों का निर्माण करके स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, संगीत, नृत्य, काव्य इत्यादि का सम्यक् उपयोग किया है। इतना ही नहीं वे तो भगवान् की भक्ति में भावों की उत्पत्ति और विकास के लिए अनुभावों और विभावों का आलम्बन लेने का भी उपदेश दे गये हैं। रामनामी अँगोछा ओढ़ना, तिलक-छाप इत्यादि लगाना, कण्ठी-माला धारण करना, साधू या सखी का वेश धरना, हरिनाम की सस्वरध्वनि करना, कीर्तन के समय हँसने, गाने, रोने इत्यादि उपायों से भाव-विभोर होने की चेष्टा करना इत्यादि सब इसी लिए तो किये जाते हैं कि जिसमें भाव की जागृति हो जाय और सहज अनुरक्ति लहलहा उठे। लगन का नाटक खेलते-खेलते किसी दिन सच्ची लगन भी पैदा हो सकती है।

आदर्श पूर्णत्व में तन्मयता प्राप्त करने के लिए उसके किसी रूप की कल्पना करना और उस कल्पना को दृढ़ करने के लिए बाहरी आलम्बनों की सहायता लेना तथा ऐसे ध्यान और जप के सहारे भगवद्भाव की उपलब्धि करना ही भक्ति-मार्ग का परम रहस्य है। जो भक्त लोग चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, मीरा बाई या नरसी मेहता इत्यादि के समान सहज ही भाव-विभोर होकर हरिगुण-गान में मस्त हो जाया करते हैं वे धन्य हैं। वे अपना तो कल्याण सहज में कर ही लेते हैं परन्तु जगत् को भी उनसे जो लाभ होता है वह करोड़ों उपदेशकों, हज़ारों धर्म-निष्ठों और सैकड़ों ज्ञानियों से भी नहीं हो सकता। भक्ति के साधन को इतना सरल और इतना लाभप्रद जान करके ही तो कहा गया है "हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।" कलिकाल में सर्वसाधारण की आध्यात्मिक और पारलौकिक उन्नति के विषय में यह कथन सर्वथा सत्य है।

स्मरण रहे कि ईश्वर की ये सब कल्पनाएँ केवल कल्पनाएँ ही हैं और वे केवल भाव की जागृति के लिए और ईश्वर की निष्ठा की प्राप्ति के लिए ही रची गई हैं। भगवान् वास्तव में न तो चतुर्भुजी है न राम-कृष्ण इत्यादि के समान मूर्तिमान्। न वह ज्योतिस्वरूप है न नादरूप। वह तो सब रूपों में होकर भी सब से परे है। वह तो वास्तव में अव्यक्त और अव्यय है। गीता में कहा गया है—

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परम् भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् "
उपनिषदों में भी कहा है—
"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
"कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥"
"न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवः तस्माद् भावम् समाश्रयेत् ॥"

राम, कृष्ण, विष्णु, शङ्कर, देवी, गणेश, अल्लाह, होलीफ़ादर, ईसामसीह, बुद्ध, जिनेन्द्र इत्यादि केवल मनुष्यों के बनाये हुए कल्पित रूप हैं। भगवान् के वास्तविक रूप इनमें से एक भी नहीं है। वैराग्यशील मनुष्यों के लिए भगवान् के शङ्कर रूप की कल्पना कर दी गई और उस रूप के साथ वन, पर्वत, श्मशान, दिगम्बरत्व इत्यादि की योजना कर दी गई है। गार्हस्थ्य शील जीवों के लिए विष्णु रूप की कल्पना कर दी गई और उस रूप के साथ लक्ष्मी चिन्तामणि शङ्ख चक्र गदा पद्म किरीट कुण्डल आदि की योजना कर दी गई। दयाशील तथा सेवाशील जीवों के लिए बुद्ध ईसामसीह जिनेन्द्र इत्यादि की कल्पना कर दी गई। कर्तव्यशील जीवों के लिए राम इत्यादि की कल्पना की गई। संसार के सभी धर्मों में ईश्वर के जितने रूप माने गये हैं वे सब काल्पनिक ही हैं। वास्तविक भगवान् तो उन सब से परे हैं। परन्तु भक्ति की सिद्धि के लिए और उसके द्वारा भाव की उपलब्धि के लिए भगवान् की ऐसी रूप-कल्पना

अत्यन्त आवश्यक है। इसी लिए आचार्यों ने देश काल और पात्र का विचार करते हुए अनेक रूपों की सृष्टि कर डाली है और अनेक रूपों की सृष्टि करते चले जा रहे हैं। प्राय: प्रत्येक धर्म में ही ईश्वर के अलग अलग रूप गाये गये हैं और अब भी नये-नये सम्प्रदाय नयी-नयी गाथाएँ लेकर निकलते ही चले जा रहे हैं। प्रत्येक धर्म में ईश्वर के रूप की कल्पना किन आधारों पर की गई है यह तो मैं निश्चित नहीं कह सकता परन्तु सनातन धर्म में विष्णु, शिव, देवी, गणेश इत्यादि के रूपों की जो कल्पना की गई है वह सब सार्थक नियमों पर निर्भर है और उन रूपों के चार हाथ, चार आयुध, पीतपट, नील शरीर, चिताभस्म, गङ्गा, सर्प, शेषशय्या, हिमालय-निवास इत्यादि सबके सबही बड़ा गम्भीर अर्थ रखते हैं। पुराणों में तो ऐसी कल्पनाओं की पराकाष्ठा हो गई है और देवासुर-संग्राम सरीखे न जाने कितने रूपक बाँध डाले गये हैं। उन सबका वास्तविक अर्थ बताना और उनको वास्तविक इतिहास से भिन्न करके बतलाना बड़े बड़ों के लिए भी आजकल कठिन है। आजकल इन काल्पनिक रूपों की वास्तविकता का मर्म न पाकर हम इन्हीं रूपों को सब कुछ मान बैठे हैं और इन्हीं रूपों पर अटूट विश्वास हो जाने से इन्हें ही वास्तविक मानकर आपस में लड़ बैठते हैं और 'देवी बड़ी हैं', 'शङ्कर बड़े हैं', 'विष्णु बड़े हैं', 'ईसामसीह बड़े हैं', 'अल्लाह बड़े हैं' इत्यादि कहकर अपने-अपने धर्म की डींग हाँककर एक दूसरे के सिर फोड़ते

हुए अपनी धर्मान्धता का परिचय दिया करते हैं। इसे अपनी मूर्खता ही समझना चाहिए। सभी रूप अच्छे तथा देश काल पात्रानुसार आवश्यक हैं किन्तु सभी रूप केवल काल्पनिक हैं—सभी धर्म अच्छे हैं किन्तु सभी धर्म अपूर्ण और देश काल पात्रानुसार सुधार की आवश्यकता रखते हैं—ऐसा समझना ही प्रत्येक मनुष्य के लिए कल्याणप्रद हो सकता है अन्यथा नहीं। न केवल ईसामसीह के ही हाथों स्वर्ग की कुंजी है, न मुहम्मद साहब के पास और न शङ्कराचार्य या रामानुजाचार्य के पास। जो जिस धर्म में है वह उसी में रहकर अपना कल्याण और जगत् का कल्याण कर सकता है।

प्रसङ्गवश ऊपर आई हुई एक शङ्का का निवारण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसामसीह, जिनेन्द्र इत्यादि के विषय में लिखा गया है कि ये भी ईश्वर के काल्पनिक रूप हैं। तो क्या इन नामों के व्यक्ति इतिहास में कोई नहीं हुए ? ऐसा नहीं है। इन नामों के व्यक्ति इस संसार में अवश्य हुए होंगे और उनके चरित्र जो कुछ लिखे गये होंगे वे भी प्रायः ठीक ही होंगे। परन्तु जब हम उनका स्मरण करते हैं तब क्या उन्हें केवल ऐतिहासिक व्यक्ति समझकर ही उनका स्मरण करते हैं ? क्या हम उन्हें भगवान् मानकर उनका स्मरण नहीं करते ! यह "भगवान् मानकर स्मरण करना" ही तो "उस रूप में भगवद्भाव की कल्पना करना"

है। इसी कल्पना के कारण तो उनके चरित्र-लेखन में भी अन्तर पड़ जाता है। क्या गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हीं राम का वर्णन किया है जिनका वर्णन वाल्मीकिजी द्वारा उनकी रामायण में हुआ है? कदापि नहीं। वाल्मीकि के राम एक कर्तव्य-परायण मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श पुरुष हैं। तुलसीदासजी के राम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा और ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी श्रेष्ठ हैं। ऐतिहासिक लोग घटनाओं की यथार्थता का वर्णन करते हैं। वही उनका सत्य है। कवि लोग और धर्माचार्य लोग अपने मनोनुकूल भावों के सृजन के लिए घटनाओं में स्वच्छन्दतापूर्वक घट बढ़ कर दिया करते हैं। यदि ऐतिहासिक के लिए घटनाओं का यथार्थ वर्णन ही योग्य और सत्य है तो धर्माचार्य या कवि के लिए मनोनुकूल भावों का सृजन ही योग्य और सत्य है। ऐसा करने में घटनाएँ भले ही परिवर्तित या परिवर्धित हो जायँ। इसलिए ऐतिहासिकों के राम, कृष्ण आदि में तथा भक्तों के राम, कृष्ण आदि में अन्तर ही मानना चाहिए और भक्तों के राम, कृष्ण आदि को केवल काल्पनिक ही समझना चाहिए चाहे वे उन नामधारी ऐतिहासिक महानुभावों से बिलकुल समानता ही क्यों न रखते हों।

तब क्या भक्तों का हरि-हरि-कृष्ण-विष्णु इत्यादि चिल्लाना केवल अरण्यरोदन है? क्या भावों की वृद्धि के अतिरिक्त और उससे कुछ भी लाभ नहीं होता? क्या भक्त के उपास्य

देव की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है? क्या जब व्याकुल होकर भक्त अपने भगवान् का आह्वान करता है तब उसकी ध्वनि उसके आर्त हृदय से उठकर एकदम निष्करुण शून्य में विलीन हो जाती है? यदि ऐसा है तब तो भक्ति केवल मरीचिका ही ठहरी क्योंकि केवल भावों की जागृति के लिए, केवल ध्यान की स्थिरता के लिए, केवल आत्म-सन्तोष ही के लिए—निर्हेतुकी भक्ति करनेवालों की संख्या इस संसार में तो इनी-गिनी ही रहा करती है। जिसे हम आराध्य देव माने बैठे हों उसकी कोई सत्ता ही न हो तब तो बड़ी गड़बड़ मच जायगी। बात असल में ऐसी नहीं है। भगवान् का वह रूप यद्यपि काल्पनिक होता है परन्तु फिर भी उस पर ध्यान की एकाग्रता का सुरस पड़जाने से उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता भी हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि "मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है" इस कल्पना पर ध्यान करने से जीव की स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है (यह विषय ऊपर कहा गया है)। फिर यदि किसी जीव ही में (उदाहरणार्थ राम, बुद्ध) हनुमान्, ईसा मसीह आदि) देवत्व की भावना स्थापित कर दी गई तब तो वह जीव ही देवभावापन्न होकर हमें मनचाहे फल प्रदान करके हमारा परम सहायक बन सकता है। इस दृष्टि से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अल्लाह, होलीफ़ादर, अर्हन्त इत्यादि सब सच्चे हैं। इतना ही क्यों, जङ्गलियों के भूत, प्रेत, पिशाच, बूढ़ा देव, तिनखिया देव, बोकरादेव इत्यादि भी इसी दृष्टि से सब सच्चे हो जाते हैं

और अपने भक्त की मनोकामना पूर्ण कर सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि अखण्ड चैतन्य के अनेक रूप हो सकते हैं। इस विशाल सृष्टि में जो विचार उठते हैं वे सभी पर्याप्त मनोयोग पाकर (बशर्ते कि बाधक विचार विशेष प्रबल न हों) प्रत्यच्च और मूर्तिमान् हो सकते हैं। इसी लिए भक्ति-मार्ग के द्वारा सुचिन्तित भगवद्रूप तथा स्वर्ग नरक आदि सब सच्चे बन जाते हैं। इसी दृष्टि से ईसाइयों का स्वर्ग अलग, मुसलमानों का अलग और हिन्दुओं का अलग रहता है। हिन्दुओं की प्रेतात्माएँ अपने ही ढङ्ग के स्वर्ग का वर्णन करती हैं, मुसलमानों और ईसाइयों की आत्माएँ अपने ही ढंग का वर्णन देती हैं। जिसका जैसा विश्वास रहा है वह वैसे ही दृश्य देखा करता है और वैसे ही फल भी प्राप्त किया करता है। परन्तु विचारों और विश्वासों की कमज़ोरी के कारण अथवा सृष्टि के कर्म-रहस्य के विपरीत विचारों की साधना करने के कारण यदि किसी को विफलता मिलती है और मनोकामना पूरी नहीं होती तो एकदम ईश्वर को ही गालियाँ देने लगना और भक्ति ही को पाखण्ड कह बैठना सरासर नासमझी है।

भक्ति यद्यपि कल्पना ही पर बहुत कुछ निर्भर है फिर भी वह सब साधनों से सुलभ और अधिक आनन्दप्रद मार्ग है तथा उसके अधिकारी सभी कोई हो सकते हैं। उसका सहारा लेने पर मनुष्य आप ही आप (१) आस्तिक हो जाता है, (२) अभिमान-शून्य हो जाता है, (३) परार्थव्रती हो

जाता है, (४) विपत्तियों में भी धैर्यशील हो जाता है और (५) संसार के सुख भोगते हुए भी संसार से आसक्ति-हीन हो जाता है। दूसरे मार्गों में ये बातें आप ही आप नहीं आ जातीं। इनके लिए बड़े-बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं तब कहीं कठिनता से ये बातें बन पड़ती हैं। जिस जीव में उपास्य-उपासक-भाव बहुत तीव्र हो जाता है वह तो मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता और हरदम उपासक ही बने रहने की आकांक्षा रखता है। परन्तु यदि दासोऽहम् (मैं दास हूँ) से सोऽहम् (मैं उसी का रूप हूँ) का भाव न जागा तो वह भक्ति भी लाभ के बदले हानि ही पहुँचाती है। दासोहम् को प्रकट करके सोहम् में परिणत कर देना ही तो नवधा भक्ति का मुख्य उद्देश्य है*।

---

* नोट—यदि ईश्वर ने चाहा तो इस विषय पर भक्ति-विज्ञान नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखने की चेष्टा की जायगी।

परिशिष्ट (ग)

सुलभ साधन

यह ग्रन्थ पढ़कर मेरे कतिपय मित्रों ने यह कहा कि मनुष्यों को अभ्युदय के साधन जानने की जितनी आवश्यकता है उतनी अपने आदर्श इत्यादि के जानने की नहीं क्योंकि आदर्श पर तो अनेकों ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं परन्तु ऐसे ग्रन्थों की अब तक बहुत कमी है जिनमें उन सुसाध्य उपायों का उल्लेख हो जिनके सहारे मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयस् के मार्ग से बढ़ते हुए अपने ध्रुव ध्येय तक पहुँच सके। ऐसे ही मित्रों की प्रेरणा से यह निबन्ध जोड़ा जा रहा है। यद्यपि इसमें कही हुई सब बातें इस ग्रन्थ में लिखी जा चुकी हैं तथापि उन सबका एकत्र समावेश मेरे उन मित्रों को वाञ्छनीय था।

विचार, भाव और आचार ही वे तीन बातें हैं जिनके सुधरने से हम सुधर जाते और बिगड़ने से हम बिगड़ जाते हैं। इसलिए हमें उन्हीं साधनों की ओर ध्यान देना है जिनके सहारे हम विचार, भाव और आचार में मन चाहे परिवर्तन कर सकें। सद्विचार से ही सद्भाव होता है और सद्भाव से ही सदाचार होता है। यही स्वाभाविक क्रम है। परन्तु इसका विपरीत क्रम भी स्वाभाविक है अर्थात् सदाचार से सद्भाव स्थिर होते हैं और सद्भाव से सद्विचार में सहायता

मिलती है। यह निश्चित ही है कि यदि विचार सुधरे तो सब कुछ सुधर जावेगा; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम केवल विचार ही सुधारते जायँ और भाव तथा आचार की ओर दृष्टि-पात भी न करें। हमें तो तीनों बातें सुधारनी चाहिएँ। हाँ, यह अवश्य है कि सद्विचार आना सबसे मुख्य बात है और इसलिए उसकी ओर तो अवश्य ही प्रयत्न होना चाहिए।

१ सदाचार—संग्रह और त्याग का रहस्य बताते हुए यह कह ही दिया गया है कि किसी भाव, आचार या विचार के बलपूर्वक त्याग की अपेक्षा उसके विपरीत-भाव आचार या विचार का संग्रह करना अधिक सुन्दर और लाभ-प्रद है। चोरी की आदत छुड़ाने के लिए अस्तेय की आदत बढ़ाना अथवा विलासिता की आदत छुड़ाने के लिए ब्रह्मचर्य के महत्व पर सदा दृष्टि रखना अधिक लाभ-प्रद है। यदि मनुष्य को विद्या के लाभ का ज्ञान हो जाय तो वह मूर्ख रहना कभी पसन्द न करेगा। इस दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि हमें अच्छे आचरणों की वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। उनके बढ़ जाने पर दुराचार आप ही आप दूर हो जायँगे। अब हममें अच्छे आचरण बढ़ रहे हैं या नहीं और बुरे आचरण दूर हो रहे हैं या नहीं, यह जानते रहने के लिए सबसे उत्तम बात है आत्मचिन्तन (introspection)। नित्य सोने के पहिले मनुष्य यह सोच लिया करे कि आज दिन भर मुझसे कितने अच्छे काम हुए और कितने ख़राब काम, तो

कालान्तर में उसे स्वयं ही विदित हो जायगा कि इस आत्म-चिन्तन से उसे कितना लाभ हो रहा है। कई लोग तो अपने कार्यों की डायरी रखते हैं और उसमें सदाचार (उदाहरणार्थ परहित-व्रत, सत्यता, अहिंसा, आत्मसंयम इत्यादि) तथा दुराचार (चोरी, झूठ, दम्भ इत्यादि) के अलग-अलग कालम रखकर नित्य प्रति इन कालमों में चिह्न लगाते चले जाते हैं और इस प्रकार बराबर देख सकते हैं कि अमुक सप्ताह अथवा अमुक मास में उन्होंने किस प्रकार के सदाचार और किस प्रकार के दुराचार में कहाँ तक उन्नति की है। यह भी एक बड़ा अच्छा उपाय है। मेरे एक मित्र ने एक बार कहा था कि योग के यम और नियम, जिन्हें लोग परम दुःसाध्य मान बैठते हैं, साधक के बायें हाथ के खेल हैं; शर्त यही है कि साधक सच्ची लगन रखता हो। यह बिलकुल ही यथार्थ कथन है। यम मुख्यतया पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यदि मनुष्य यह निश्चय कर ले कि इस हफ़्ते के सातों दिन मैं अहिंसा-व्रत में बिताऊँगा तो सात दिन के निरन्तर प्रयत्न से वह अवश्य ही अहिंसा की सीढ़ी पर सफलतापूर्वक चढ़ जायगा। दूसरे हफ़्ते में इसी प्रकार सत्य की सीढ़ी पार हो सकती है और इस प्रकार सवा महीने में योग का पहिला अङ्ग पक्का हो सकता है। सदाचार और सद्‌गुण बढ़ाने का यही सच्चा और सुलभ उपाय है। एक-एक करके ऐसे सद्‌गुणों का संग्रह करते जाना और फिर उन्हें

दैवी सम्पत्ति बनाकर रख छोड़ना ही प्रत्येक कल्याणेच्छुक मनुष्य का प्रयत्न होना चाहिए। वे सद्गुण कौन कौन से हैं जिनका इस प्रकार संग्रह करना अभीष्ट है? इसका उत्तर मनुस्मृति इत्यादि में मिल सकता है। और नहीं तो गीता में लिखित दैवी सम्पत्ति ही का क्रमशः संग्रह करना यदि मनुष्य प्रारंभ कर दे तो कुछ ही दिनों में वह पक्का सदाचारी बन सकता है।

२ सद्भाव—पहले ही कहा गया है कि सद्विचार से सद्भाव आता है। हम अच्छे विचार रक्खेंगे तो हमारे भाव भी अच्छे ही हो जायँगे। इसी प्रकार सदाचार से भी सद्भाव की वृद्धि हो सकती है। हम अच्छे काम करते जायँगे तो हमारा हृदय भी कभी सद्भावनाओं से युक्त हो ही जायगा। भक्ति इत्यादि में तो भाव की दृढ़ता के लिए कभी-कभी भक्ति का स्वाँग करना पड़ता है और तिलक, छाप, माला, मुँदरी, मूर्ति, मन्दिर इत्यादि इत्यादि साधनों से वह भाव प्रकट करने तथा बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इतना ही नहीं, सखी भाव लाने के लिए तो कई सुविज्ञ भक्त लोग स्त्रियों का वेश भी धारण किया करते हैं।

सद्भाव लाने के लिए जिस प्रकार सद्विचार की ओर ध्यान देना आवश्यक है उसी प्रकार अपनी परिस्थिति पर भी ध्यान देना आवश्यक है। हमारी वेश-भूषा, हमारे कपड़े लत्ते, हमारे घर की तसवीरें इत्यादि सब कुछ ही हमारे भावों के सुधार के

साधन हो सकते हैं। यदि हम स्त्रियों की ओर घूर-घूरकर देखा करेंगे, यदि हम टेढ़ी टोपी और चुनारदार कुरता तथा नङ्गी तसवीरें और काम-कला की पुस्तकें ही अधिक पसन्द करेंगे तो हममें काम-वासना अथवा विलासिता के भाव की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। यदि हम श्रीकृष्ण ही की छवि का नित्य ध्यान करेंगे, उन्हीं के अनेकानेक चित्र अपने कमरे में लगाकर रक्खेंगे, उन्हीं के शब्दों का नित्य स्मरण करते रहेंगे तो हममें भक्ति के भाव का उद्रेक होना भी स्वाभाविक है। ऐसे सब बाह्य साधनों में सत्सङ्गति की महिमा सबसे अधिक है। सत्सङ्गति वह अमूल्य वस्तु है जिसके सान्निध्य-मात्र से सद्विचार, सद्भाव, सदाचार इत्यादि सब कुछ आप ही आप आ जाते हैं। सत्सङ्गति वह पारस-मणि है जिसके संघर्ष-मात्र से हमारी दुर्भावनाओं के कीले सद्भाव-सुवर्ण में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार सदाचार का सुलभ साधन है स्वाध्याय और सत्प्रयत्न, उसी प्रकार सत्सङ्गति को सद्भाव का एक-मात्र सुलभ साधन समझना चाहिए।

एक बार मेरे एक मित्र ने प्रत्याहार का अर्थ समझाना प्रारम्भ किया। इसी सिलसिले में उन्होंने एक आप-बीती कहानी सुनाई। उसका सारांश यह था कि वे अपनी जवानी में सौन्दर्योपासक हो गये थे और रूपवती स्त्री देखते ही उनका हृदय चञ्चल हो उठता था। वे स्त्रियों में कामिनी भाव ही विशेष देखा करते थे। जब उन्हें अपने इस दुर्गुण का पता

मिला तो वे इसे दूर करने के लिए कमर कसकर तैयार हुए। उन्होंने इस भाव का दमन करने के बदले इसके विपरीत भाव का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् उन्होंने प्रत्येक स्त्री को माता समझने की चेष्टा प्रारम्भ कर दी। कोई बुढ़िया निकली कि उन्होंने समझा माता जाती है। कोई युवती देखी कि उन्होंने निश्चय किया यह भी माँ का रूप है। कोई लड़की आई कि इन्होंने माता कहकर बुलाया। वेश्या निकली तो उसे भी माँ समझा। नौकरानी निकली तो उसे भी माँ समझा। कुछ समय तक तो मन ने कुछ उछल-कूद मचाई परन्तु कुछ ही दिनों में उन्होंने देखा कि भोगभावना का स्थान मातृभावना ने आप ही आप ले लिया और जहाँ पहिले स्त्री को देखकर उपभोग की इच्छा हो उठती थी वहाँ अब उसके सत्कार, उसकी पूजा, और उसकी सेवा की इच्छा होने लगी। छः महीने के अभ्यास ही से उनका कायाकल्प हो गया और फिर उनमें काम-विजय से होनेवाले अनेकों लाभ आप ही आप दृष्टिगोचर होने लगे। ऐसे ही उपायों से हम अपने सद्भावों की वृद्धि कर सकते हैं।

३ सद्विचार—विचारों का सुधार ही मुख्य है और इसलिए जिन साधनों से हमारे विचार सुधरें उन्हें ही मुख्य मानना चाहिए। इस विषय में अध्यात्म-दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि लोग या तो ज्ञान में या वैराग्य में या भक्ति में सद्विचारों की वृद्धि चाहते हैं। ज्ञानी के

लिए "मैं कुछ नहीं हूँ" का सिद्धान्त, वैराग्यशील के लिए "जगत् कुछ नहीं है" का सिद्धान्त और भक्त के लिए "सब कुछ भगवान् की लीला है" का सिद्धान्त बहुत हीं अच्छा है। जो आध्यात्मिक ज्ञानी होना चाहता है उसे चाहिए कि उत्तम या प्राकृतिक परिस्थिति में, जिस समय शुद्ध वायु इत्यादि के कारण बुद्धि शान्त और स्थिर रहती है, वह अपने विषय का एकान्त चिन्तन अवश्य करे। शरीर की अस्थिरता, मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार की अस्थिरता, इन्द्रियों की तुच्छता इत्यादि का विचार करते-करते उसका अहङ्कार अवश्य गलित होने लगेगा। बस इस उपाय से वह सहज ही ज्ञानी हो सकता है। इसी प्रकार जगत् की अस्थिरता, क्षुद्रता और चञ्चलता का विचार करते रहने से मनुष्य वैरागी बन सकता है। जिस शरीर में हड्डियों के ढाँचे के ऊपर अपवित्र त्वचा लटक रही है और उसमें मृगतृष्णा के समान मोहकारी रूप का मायामय परदा पड़ा हुआ है जिसके नीचे रक्त-मज्जा और चर्बी की कड़ाही उबल रही है उस चार दिन के कीटमय विषाक्त कुसुम पर किस विचारशील का मन-मधुकर लुब्ध हो सकता है? जिस जगत् में क्रन्दन, दुःख, नैराश्य, हिंसा, हत्या, ह्रास, मृत्यु इत्यादि के चीत्कार नित्य सुनाई देते हैं, जिस जगत् के आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सभी काल के कलेवा बने बैठे हैं उसमें कौन विवेकी मनुष्य धन-जन-संग्रह के लिए हाय हाय करेगा? ऐसे ही ऐसे विचार मनुष्य को

वैरागी बना देने के लिए पर्याप्त हैं। भक्त भी इसी प्रकार "जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है" या "जिस ओर निगाहें जाती हैं उसके ही दर्शन पाती हैं" या "मोमें तुममें खरग खम्भ में जहँ देखो वहँ रामहि राम" कहता हुआ सब कहीं वही मनमोहिनी छटा देख देखकर धन्य बन सकता है। भक्त के लिए तो—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥"

इन्हीं दोनों श्लोकों का साक्षात् करना ही सबसे उपयोगी और सबसे सुलभ साधन है।

सामान्यतः सद्विचार के लिए आत्मचिन्तन, आदेश-वाक्यों की तख़्ती, सत्सङ्गति, स्वाध्याय, सत्कार्य इत्यादि अनेक उपाय और साधन कहे जा सकते हैं। इस विषय में एक बात अधिक महत्व की अतः ध्यान देने योग्य है। हमारी बुद्धि में अनेक विचारों की घुड़दौड़ प्रायः प्रत्येक समय हुआ करती है। उनमें से अधिकांश विचार-शृंखलाएँ एकदम उद्देश्यहीन रहा करती हैं। अगर हमें यह सोचना है कि गणित के अमुक प्रश्न का उत्तर क्या होगा अथवा अमुक सम्मेलन की सफलता के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए तो हमारा मन किसी पहलवान की बात, किसी उद्यान का इतिहास अथवा ऐसी

ही बे-सिर-पैर की बातें भी सोचने लगेगा। ऐसे उद्देश्य-हीन विचारों की वृद्धि होना बड़ी बुरी बात है और इन्हीं के कारण बराबर लक्ष्ययुक्त सद्विचार भरपूर नहीं आने पाते। इसलिए ऐसी उद्देश्यहीन विचार-शृंखलाओं का निग्रह करके उन्हें अपने वश में रखना भी एक बहुत उत्तम साधन है।

सद्विचार सदाचार, और सद्भाव हममें तभी सध सकते हैं जब हममें **मनोयोग** हो। यदि मनोयोग नहीं है तो समझना चाहिए कि कुछ भी नहीं है। यह मनोयोग ही साध लेने से सब कुछ साधा जा सकता है। प्राणायाम, अर्चा, सत्सङ्गति इत्यादि अनेक उपायों से यह विषय सध सकता है। ध्यान की महत्ता और उसका विस्तार योगवाले सूत्र और मनोबलवाले सूत्र में बताया जा चुका है। उन साधनों के अभ्यास से भी मनोयोग सफलतापूर्वक प्राप्त हो सकता है। दृढ़ता, प्रयत्न और उत्साहशीलता वे चीज़ें हैं जिनके सम्यक् अभ्यास से मनोबल आप ही आप अपना अनुचर बन जाता है। अन्त में मनोयोग के लिए सब साधनों से सुलभ और श्रेष्ठ साधन बताया जाता है। यह साधन ठीक उसी प्रकार का है जैसे केले की पीड़ का रस, जो कि सर्प की औषधि के काम आता है। चीज़ तो है दो कौड़ी की लेकिन लाभ पहुँचाती है करोड़ों मुहरों से अधिक। वह साधन यही है कि "जो कुछ करो **तन्मय** होकर करो।" शौच को जाओ तो उसी विषय में तन्मय हो जाओ, भोजन

करो तो उसी में तन्मय होकर, अध्ययन करो तो किताबों में तन्मय होओ। लोक-सेवा करो तो इतने तन्मय होकर कि घर की याद भी भूल जाय। घर पर अपना काम करो तो इस तरह तन्मय होओ कि बाहर की याद भी न रहे। यही साधन सब साधनों से श्रेष्ठ साधन है। इसी के अभ्यास से उद्देश्य-हीन विचार-शृंखलाओं का नियन्त्रण होता है और मनोयोग की वृद्धि हो जाती है। इसी उपाय से मन की चञ्चलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है। इस पर जितना ही विचार करो उतना ही इसका महत्व प्रकट होता जाता है। इस साधन का ऐसा ज्ञान भी मुझे एक महात्मा सज्जन ही की कृपा से प्राप्त हुआ है और मैंने अनुभव करके देखा है कि यह साधन कई एकों को बड़ा लाभदायक हो सकता है।

यहाँ केवल कुछ ही साधनों का और उनमें भी कुछ सुलभ साधनों ही का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार के और साधन पाठक लोग स्वयं ही ढूँढ़ निकाल सकते हैं। आशा है कि जितना कुछ इन पंक्तियों में कहा गया है, उतने से मेरे वे मित्र अवश्य सन्तुष्ट हो जायँगे जो इस विषय का एक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखा चाहते थे।

यह संसार वैसा दुःखमय नहीं है जैसा भारतीय दार्शनिकों के सामान्य अनुयायियों ने समझ रक्खा है। संसार का होना स्वाभाविक है और इसमें अनेकानेक व्यक्तियों की अनेकानेक अपूर्णताएँ होना स्वाभाविक है। अपनी अपूर्णताओं

के लिए भुनभुनाते रहना और इसके लिए ईश्वर को दोष देते बैठे रहना सच्चे ज्ञानी का काम नहीं है। हर एक मनुष्य अपनी शक्तियों का परिचय पाकर मनचाहा सुख प्राप्त कर सकता है। अपनी शक्ति या सामर्थ्य तथा कर्तव्य जाने बिना जो मनुष्य कुछ का कुछ कर बैठता है वह अवश्य ही दुःख उठाता है। अपनी जो स्थिति है उसी पर परम सन्तोष और प्रसन्नता रखना मानसिक शान्ति के लिए बड़ा भारी मूलमन्त्र है। यदि हमें दुःख मिल रहे हैं तो यह अवश्य समझना चाहिए कि वे अपने ही दोषों के परिणाम हैं—चाहे वे दोष इस जन्म के हों चाहे अगले जन्म के। यदि हम अपनी शक्तियों का सदुपयोग करते रहेंगे तो हमें सुख मिलना तथा शान्ति मिलना अवश्यम्भावी होगा। कई लोग सन्तोष को अभ्युदय का घातक मानते हैं। परन्तु यदि अभ्युदय का अर्थ असाधारण वैषम्य हो अथवा राग-द्वेष से भरा एक उच्च आसन हो तो ऐसे अभ्युदय को दूर से नमस्कार है। ऐसे अभ्युदय के आकांक्षी को अवश्य ही असन्तोषी और अशान्त रहना पड़ता है परन्तु जो सच्चे अभ्युदय के प्रेमी हैं वे शान्ति और सन्तोष के द्वारा ही ऐसा अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं जो अशान्त रहनेवाले अभ्युदयाकांक्षी को स्वप्न में भी नहीं मिल सकता। सन्तोष मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाता बल्कि वह मनुष्य को धर्मिष्ठ बने रहने के लिए सदैव उत्साहित करता रहता है।

वर्ण्य विषयों के विस्तारसूचक वृत्त

१—जीव वृक्ष

२—बुद्धि वृक्ष

(रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार)

मन वृक्ष
मन
निवृत्ति (द्वेष)
प्रवृत्ति (राग)
अभ्यासजन्य
परम्परागत
नैसर्गिकी
रुचिसृजक
रुचिपोषक
शरीर-सम्बन्धी
जीव-सम्बन्धी
शरीर-सम्बन्धी
जीव-सम्बन्धी
वंशविस्तार
शरीररक्षा

४—चित्त वृत्त
चित्त
सुख
दुःख
उदासीनता
आहार-विहार-मय
संस्पर्शज या विषय
अतीन्द्रिय
आत्म-सञ्जात
समाज-सञ्जात
दैव-सञ्जात
सामान्य
(अकर्मण्यता विश्राम आदि)
विशेष
(सन्तोष, कृतकृत्यता, प्रशान्ति आदि)
शारीरिक
मानसिक
स्वजाति-सञ्जात
इतर जीव-सञ्जात
घटना-वैषम्य
योगात्त्वमत्व-वैषम्य

५—रस वृक्ष
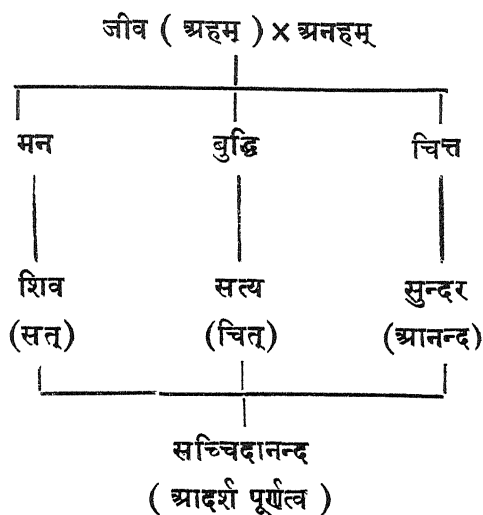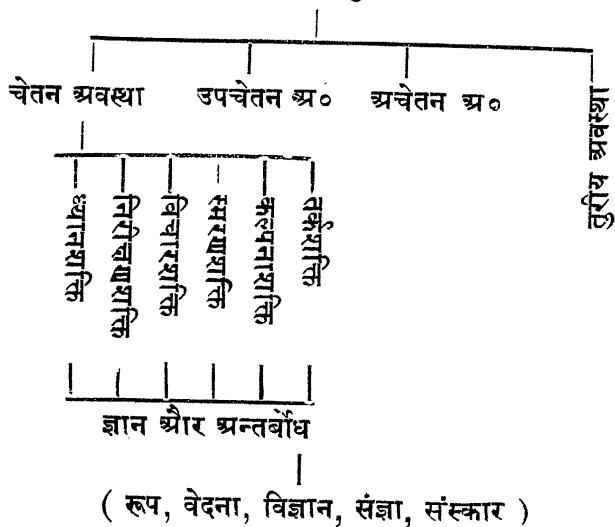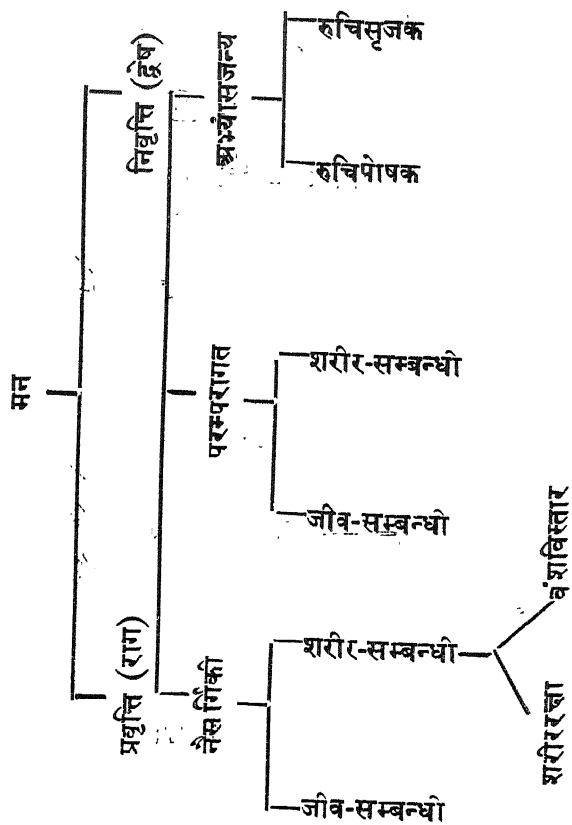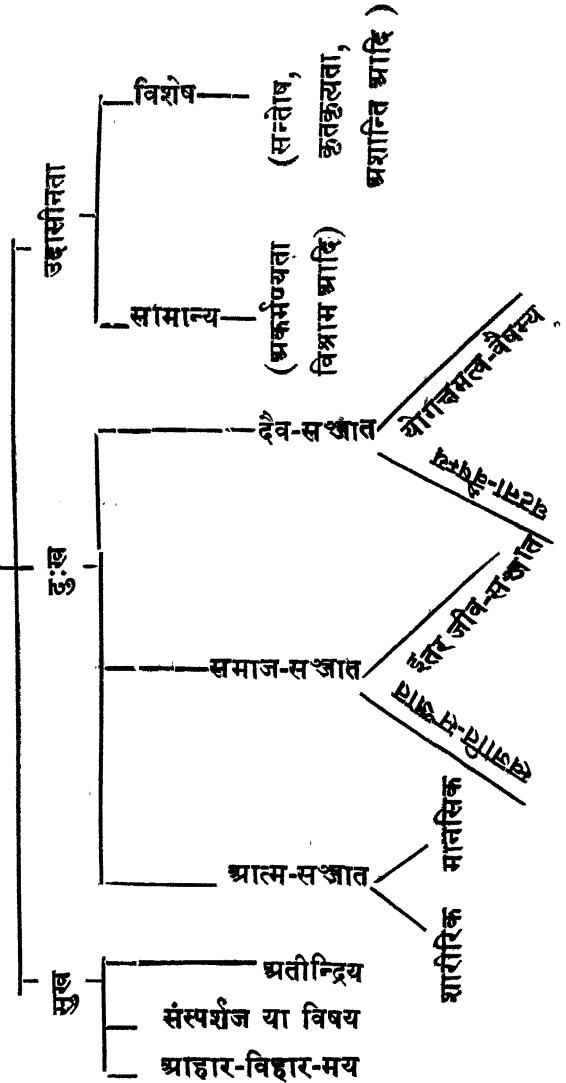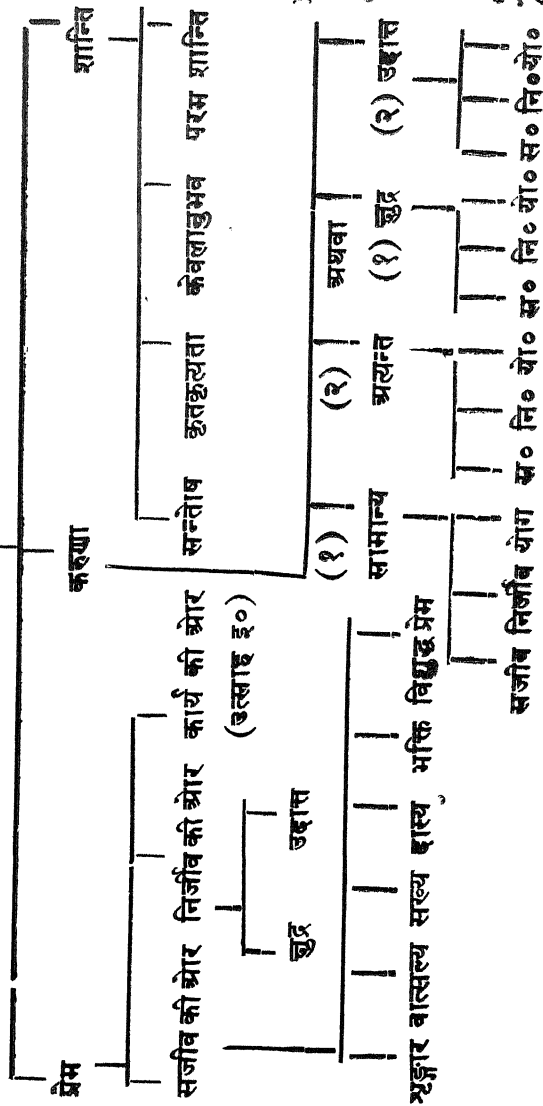
रस
प्रेम
करुणा
शान्ति
सजीव की ओर
निर्जीव की ओर
कार्य की ओर
(उत्साह इ०)
क्षुद्र
उदात्त
शृङ्गार
वात्सल्य
सख्य
हास्य
भक्ति
विशुद्ध प्रेम
सन्तोष
कृतकृत्यता
केवलानुभव
परम शान्ति
(१) सामान्य
(२) अत्यन्त
अथवा
(१) क्षुद्र
(२) उदात्त
सजीव
निर्जीव
योग
स०
नि०
यो०
स०
नि०
यो०
स०
नि०
यो०

हिन्दी और अँगरेज़ी के कुछ समानार्थक शब्दों की सूची

जीव-विज्ञान	Psychology (science of soul)
ज़ीव	Soul, mind, ego
विकास	Evolution
मन	Willing (soul)
बुद्धि	Knowing (soul)
चित्त	Feeling (soul)
अहङ्कार	Ego
सच्चिदानन्द	Blissful conscious existence
सत्य, शिव, सुन्दर	Truth, Beauty, Goodness
देश, काल, निमित्त	Time, Space, Causality
शरीर	Body
मस्तिष्क	Brain
ज्ञानतन्तुजाल	Sensory nervous system
क्रियातन्तुजाल	Motor nervous system
चेतना	Consciousness
उपचेतना	Subconsciousness
ज्ञान	Knowledge
अहम्	Subject
अनहम्	Object
आदर्श	Ideal

Knowledge derived through senses

इन्द्रियाँ	Senses
जीवाणु	Conscious atom or cell
स्नायु रज्जु	Spinal chord
सूक्ष्म	Subtle
स्थूल	Gross
एकाग्रता	Concentration
स्वतः सिद्ध का	Reflex action
जोश	Impulse
विद्युदणु	Electron
नाद और बिन्दु	Vibration and rotation
शारीरिक शक्ति	Constitution
विचार-श्रृङ्खला	Association of ideas
अनुभवग्राहिका बुद्धि	Learning by experience
रूप	Form
वेदन	Sensation
विज्ञान	Perception
संज्ञा	Idea or conception
संस्कार	Disposition
संस्कार-समूह या अन्तर्बोध	Apperception
निरीक्षण-शक्ति	Power of observation and discrimination
विचार-शक्ति	Power of understanding
मेधा-शक्ति या स्मृति	Memory

कल्पना-शक्ति	Imagination
तर्क-शक्ति	Reason
ध्यान	Attention
रुचि	Interest
बरबस ध्यान	Obstructed attention
विस्मृति	Forgetfulness
दिव्य-स्फूर्ति	Revelation
ज्ञान	Intuition
व्यावहारिकता	Common sense
प्रतिभा	Originality or genius
लहर	Vibration, current
प्रवृत्ति	Inclination
मनोबल	Will power
श्रद्धा	Faith
विश्वास	Belief
उत्साह	Enthusiasm
राग	Desire
द्वेष	Aversion
नैसर्गिक प्रवृत्ति	Natural instinct
परम्परागत-प्रवृत्ति	Hereditary instinct
अभ्यासजन्य प्रवृत्ति	Custom or habit
स्वभाव	Character
आचार या आचरण	Conduct
सत्कर्म	Virtue
मध्यमार्ग	Golden mean
सुख	Pleasure

दुःख	Pain
उदासीनता	Indifference
संस्पर्शज सुख	Pleasure derived through senses
विलासिता	Luxury
आवश्यकता	Necessity
योग	Opportunity
क्षमत्व	Ability
कला	Art
ललित कला	Fine art
कर्मकाण्ड, ईश्वर-निष्ठा, और तत्त्व-ज्ञान	Ritual, theology, and metaphysics
आचार-शास्त्र	Ethics
सौन्दर्य-शास्त्र	Aesthetics
ज्ञानविज्ञान-शास्त्र	Science and metaphysics
समाज	Society
सहयोगिता	Co-operation
लोकमत	Public opinion
प्रेय	Egotism
श्रेय	Altruism
मोक्ष	Salvation
राजव्यवस्था	System of government
राजतंत्र	Autocracy
प्रजातंत्र	Democracy
लगन	Attachment
प्रख्याति कला	Art of advertising

स्थापत्य	Art of building monument, etc.
भास्कर्य	Sculpture
चित्र	Painting
सङ्गीत	Music
काव्य	Poetry
साहित्य	Literature